❀ ओ ३ म् ❀

श्रीमद्रामचन्द्रग्रन्थमालाया —

(प्रथमप्रसूनरूपा)

श्रीमद् विद्वद्वर-वरदराजाचार्य्य-प्रणीता

* लघुसिद्धान्तकौमुदी *

तत्र

(पूर्वार्द्धरूपः प्रथमो भागः)

———❀———

सा चेयं

श्रीभीमसेन-शास्त्रि-प्रभाकर-निर्मितया

भैमीनाम्न्यातिपरिष्कृत-

हिन्दीव्याख्यया

समुद्भासिता

———❀———

प्राप्ति-स्थानम्

लाजपतराय मार्केट नम्बर

दीवानहाल के सामने,

दिल्ली

———

प्रथम संस्करणम्
(२०००

मूल्यं
रूप्यकाण्यष्टौ
(८-००)

सम्वत् २००६ वै०
सन् १९५० ई०

प्रकाशक—
भीमसेन शास्त्री प्रभाकर,
गाधीनगर, दिल्ली ।

(सर्वेऽधिकारा प्रकाशकायत्तीकृता)
(*All rights reserved by the publisher*)

मुद्रक—
१ प० कूडाराम
'शान्तिप्रेस' नया बाजार, दिल्ली ।
(पृष्ठ १ से ४६४ तक)
२ सेठ गोपीनाथ
'नवीनप्रेस' फ्रैज बाजार, दिल्ली ।
(शेष समग्र ग्रन्थ)

प्रकरण-सूची

(१) प्राक्कथनम्	(५)—(६)
(२) आत्मनिवेदनम्	(७)—(१७)
(३) द्वित्राः शब्दाः	(१७)—(१८)
(४) सानुरोधनिवेदनम्	(१९)—(०)
(५) मङ्गलाचरणम्	१— १
(६) सञ्ज्ञा-प्रकरणम्	१— ३५
(७) अच्सन्धि-प्रकरणम्	३६—१०५
(८) हल्सन्धि-प्रकरणम्	१०६—१५५
(९) विसर्गसन्धि-प्रकरणम	१५६—१७२
(१०) षड्लिङ्ग्याम—	
[१] अजन्तपुल्लिङ्ग-प्रकरणम्	१७३—३१४
[२] अजन्तस्त्रीलिङ्ग-प्रकरणम्	३१५—३५६
[३] अजन्तनपुसकलिङ्ग-प्रकरणम्	३५७—३९१
[४] हलन्तपुल्लिङ्ग-प्रकरणम्	३९२—५४५
[५] हलन्तस्त्रीलिङ्ग-प्रकरणम्	५४५—५६२
[६] हलन्तनपुसकलिङ्ग प्रकरणम्	५६३—५८९
(११) अव्यय-प्रकरणम्	५९०—६३७
(१२) परिशिष्टे—	
[१] सूत्रसूची	१— ७
[२] वार्त्तिकसूची	७— ०
[३] परिभाषादिसूची	७— ९
[४] सुबन्तशब्दसूची	१०— १३

प्राक्कथनम्

यह ग्रन्थ १७ अगस्त १९४१ मे लिखा जाना आरम्भ होकर सन् १९४६ के अगस्त के अन्तिमचरण मे समाप्त हुआ था। बीच के कुछ वर्षो मे सामग्री के अभाव वा कुछ अन्य सासारिक परिस्थितियो के कारण यह रुक गया था। इसका मुद्रण १९४६ के अगस्तमास के अन्तिम चरण से आरम्भ होकर दिसम्बर १९४९ मे समाप्त हुआ है। मुद्रण के इस काल मे मातृभूमि के खण्डश होने का दुर्भाग्यपूर्ण काल भी सम्मिलित है। पाकिस्तान बनने से लेखक को जो आर्थिक वा मानसिक क्षति हुई—वह वर्णनातीत है। इसका प्रभाव ग्रन्थ पर भी पडा। लेखक के मन मे जैसा इसका सौन्दर्यावह रूप चित्रित था—वैसा न बन पड़ा। कागजो की महर्घता वा दुर्लभता भी कम रुकावट न थी। बाजार मे इस साइज का कागज मिलना बहुत ही कठिन था। हम ने कई बार इसे मुद्रण के बीच मे ही छोड देना चाहा, पर हमे सदा यही ध्यान आता रहा कि जिस ग्रन्थ को इतने परिश्रम से लिखा गया है उसका कम-से-कम एक सस्करण तो जनता के आगे आ जाना चाहिये—फिर जनता जाने और उसका काम जाने। हमारे कई विद्वान् मित्रों ने भी हमे धैर्य बन्धाया और कहा—"तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ नहीं जायगा, अभी भारत मे गुणग्राहको का अभाव नहीं हुआ, एक बार ग्रन्थ किसी-न किसी प्रकार मुद्रित अवश्य करा लो"। आज वृद्धो के शुभाशीर्वाद और मित्रों की मङ्गल-प्रेरणास्वरूप यह ग्रन्थ आप लोगों के सामने प्रस्तुत है।

यह ग्रन्थ दिल्ली के—'शान्ति प्रेस' और 'नवीन प्रेस' नामक दो मुद्रणालयों मे मुद्रित हुआ है। इस ग्रन्थ का प्राय एकतिहाई भाग सुन्दर विलायती कागज पर मुद्रित किया गया है। शेष दोतिहाई भाग कागज़ की दुर्लभता वा महर्घता के कारण देशी कागज़ पर। इस हिन्दीयुग मे जब कि भारत की राजधानी मे सस्कृत तो क्या, सस्कृतगर्भ हिन्दी के लिए भी उपयुक्त टाइप आदि का अभाव है—इस से अधिक सुन्दर वा शुद्ध सस्करण छपने की आशा नहीं की जा सकती।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने का उद्देश्य कुछ धनादि का अर्जन करना नहीं है। यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के उद्देश्य से लिखा और प्रकाशित किया गया है। यह तो "घाटे का सौदा" है। यद्यपि 'पाकिस्तान' बनने से पूर्व हमारा विचार इस ग्रन्थ को अत्यल्प नाममात्र मूल्य पर देने का था तथापि अब अपनी आर्थिक परिस्थितियों के कारण वैसा नहीं किया जा सकता। फिर भी यह ग्रन्थ लागत से बहुत कम मूल्य पर घाटा सह कर दिया जा रहा है। सम्पूर्ण व्यय का विवरण इस प्रकार है—

१	कागज प्राय १७० रिम	४६८०=)
२	छपाई आदि	४२००)
३	संशोधनादि का व्यय	७८३॥=)
४	जिल्द, फोल्डिङ्ग आदि	१५००)
५	मजदूरी आदि फुटकर	१६३।)
६	विद्वज्जनोपहार	८६०)
	योग	१२५४७)

कुल दो हजार प्रतियों का यह संस्करण छपवाया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ हमें प्राय सवा छ रुपया प्रतिपुस्तक के हिसाब से पड़ता है। परन्तु हम यह ग्रन्थ चार रुपये आठ आना प्रतिपुस्तक के हिसाब दे रहे हैं। इस प्रकार हमें ३५४७) रु० का घाटा रहेगा। इसके अतिरिक्त बुकसैलरों वा ब्याज आदि का खर्चा जोड़ने से यह घाटा पाञ्च हजार रुपयों से भी ऊपर पहुँच जायगा। पर इतना होने पर भी यदि जनता वा संस्कृतान्वेषणप्रेमी इस ग्रन्थ को अपना कर कुछ लाभान्वित हो सके तो मैं अपने परिश्रम को सफल मानूंगा और इस ग्रन्थ का उत्तरार्ध तथा इसी प्रकार की विस्तृत-व्याख्यायुत 'सिद्धान्तकौमुदी' और 'अष्टाध्यायी' भी शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करने मे सफल हो सकूंगा।

निवेदको

गांधीनगर दिल्ली
(यमुना पार)
६—१—५०

विदुषामनुचरो
भीमसेनः
[शास्त्री प्रभाकर]

आत्म-निवेदनम्

——o×o——

संस्कृतभाषा सब भाषाओं की जननी है अत एव वह संसार की अत्यन्त प्राचीनतम भाषा है—यह बात प्रायः निर्विवाद सिद्ध है। यदि कोई पुरुष संस्कृत-भाषा पर अधिकार करले तो संसार की किसी भी भाषा पर उसका आधिपत्य अल्पायास से ही सिद्ध हो सकता है। इसके अतिरिक्त संस्कृताध्ययन का एक और भी बड़ा प्रयोजन है। क्योंकि प्रायः संसार भर की सम्पूर्ण सांस्कृतिक परम्पराओं वा कलाकौशल आदि विद्याओं का आदिस्रोत भारत और तत्कालीन भाषा संस्कृत ही रही हैं अतः संसार की सांस्कृतिक परम्परा वा उसके सच्चे इतिहास का ज्ञान होना तब तक सम्भव नहीं जब तक संस्कृतभाषा पर आधिपत्य प्राप्त न कर लिया जावे। हिन्दू, आर्यों के लिए संस्कृत का जानना तो और भी आवश्यक है, क्योंकि उनकी सारी की सारी धार्मिक वा सांस्कृतिक परम्परा संस्कृतभाषा में ही निबद्ध है। संस्कृतभाषा में केवल भारत का ही नहीं किन्तु विश्व और मानवजाति का लाखों वर्ष पूर्व का इतिहास अब इस जीर्णावस्था में भी सुरक्षित है।

यद्यपि संस्कृतभाषा लाखों वर्षों तक विश्व में लोकव्यवहार वा बोलचाल की भाषा रह चुकी है और उसमें यह गुण संसार की किसी भी भाषा से कम नहीं है—तथापि विधिवशात् लोकव्यवहार वा बोलचाल से सर्वथा उठ जाने के कारण वह आज मृतभाषा [Dead Language] कही जाती है। अतः आज के युग में उसका अध्ययन विना व्याकरणज्ञान के होना सम्भव नहीं। संसार में केवल संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है जिसका व्याकरण सर्वाङ्गीण और पूर्ण [Complete] कहा जा सकता है। संस्कृतभाषा के व्याकरणों में महामुनि पाणिनिनिर्मित पाणिनीयव्याकरण ही इस समय तक के बने व्याकरणों में सर्वश्रेष्ठ, अत्यन्तपरिष्कृत, वेदाङ्गों में गणनीय, प्राचीन और लब्धप्रतिष्ठ है।

महामुनि पाणिनिजी का काल अभी निश्चित नहीं हुआ, परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि उनका आविर्भाव भगवान् बुद्ध से बहुत पूर्व हो चुका था। कुछ

विद्वानों की सम्मति मे छन्द सूत्र के निर्माता श्रीपिङ्गल उनके छोटे भ्राता थे† । उनका जन्म निरुक्तकार यास्क से या तो कुछ पहले या समकाल मे हुआ प्रतीत होता है* । महामुनि पाणिनि सरीखा वैयाकरण ससार मे फिर आजतक उत्पन्न नहीं हुआ । साङ्गोपाङ्ग वेद, उसकी अनेकविध शाखाएँ, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषत्, कल्प, ज्योतिष, इतिहास, कोष, विविध कलात्मक साहित्य काव्यादि, अनेकविध देशीय वा प्रान्तीय भाषाओं के सूक्ष्मप्रभेदक ग्रन्थ, इस प्रकार न जाने अन्य भी

---

† सम्भवत यह मत ठीक ही है । पिङ्गल भी अपने ज्येष्ठ भ्राता का अनुकरण करते हुए अष्टाध्यायी के समान छन्द सूत्र को आठ ही अध्यायो मे निबद्ध करते हैं । षड्गुरुशिष्य अपनी वेदार्थदीपिका मे लिखता है—

"तथा च सूच्यते हि भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन 'क्वचिन्नवकाश्चत्वार' इति परिभाषा" । अर्थात् पाणिनि के अनुज=कनिष्ठ भ्राता भगवान् पिङ्गल ने 'क्वचिन्नव काश्चत्वार' सूत्र बनाया । यह सूत्र पिङ्गल के छन्द सूत्र मे ३।३३ पर पढा गया है ।

ध्यान रहे कि पाणिनि के नाम से प्रचलित 'पाणिनीयशिक्षा' भी पाणिनि के कनिष्ठ भ्राता पिङ्गल द्वारा ही छन्दोबद्ध की गई है । पाणिनि ने अपनी शिक्षा निश्चय ही सूत्रबद्ध की थी । 'बनारस सस्कृत सीरीज' के शिक्षासङ्ग्रह मे छपी ऋग्वेदीय पाणिनीयशिक्षा पर एक व्याख्या 'शिक्षाप्रकाश' नामक है । उसका कर्ता सम्भवत' यादवप्रकाश वा हलायुध है । उसके आरम्भ मे यह दूसरा श्लोक आया है—"व्याख्याय पिङ्गलाचार्यसूत्राण्यादौ यथायथम् । शिक्षां तदीयां व्याख्यास्ये पाणिनीयानुसारिणीम्" । इसी प्रकार आगे—"ज्येष्ठभ्रातृभिर्विहितो [ज्येष्ठ-१] व्याकरणेऽनुजस्तत्र भगवान् पिङ्गलाचार्यस्तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते" [शिक्षासग्रह पृष्ठ ३८५]

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक श्रीस्वामीदयानन्दसरस्वती ने जिन शिक्षासूत्रों पर अपना व्याख्यान लिखा है—सम्भवत वे वास्तविक पाणिनिशिक्षा के सूत्र हैं । काशिका मे उद्धृत शिक्षासूत्र इसी शिक्षा के ही सूत्र प्रतीत होते हैं ।

*श्रीयास्क ने अपने निरुक्त मे पाणिनि का एक सूत्र उद्धृत किया है—'पर सन्निकर्ष. संहिता (देखो निरुक्त १ । १७ ।) । हमारा तो यह विचार है कि पिङ्गलपाणिनि और यास्क सम्भवत समकालीन ही हैं । 'उरोबृहतीति यास्कस्य' (छन्द'सूत्र ३. ३०) सूत्र मे पिङ्गल यास्क का स्मरण करता है । यास्क 'पर' सन्निकर्ष सहिता' कह कर पाणिनि का स्मरण करता है और पाणिनि । ६ । २ ।८५ । के गण मे पिङ्गल का तथा ।४।३ ।७३। के गण में पिङ्गलकृत 'छन्दोविचिति' ग्रन्थ का स्मरण करता है ।

कितना विशाल वाङ्मय उनके अध्ययन और मनन का विषय रहा होगा—इसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनका निस्सन्देह लोक एवं वेद पर समानरूप से अधिकार था। वे अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अष्टाध्यायी मे प्रत्यक्षत वा अप्रत्यक्षत सैकड़ों व्यक्तियों, ग्रन्थो और स्थानो का स्मरण करते है+। इसमे कुछ सन्देह नहीं कि उन्हे सृष्टि के आदि से चली आ रही इतिहासपरम्परा, साहित्य, कला, दर्शन आदि का पूर्ण ज्ञान था। सचमुच वह अलौकिकप्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन जैसे व्यक्ति को जन्म देकर भारत का मुख चिरकाल तक उज्ज्वल रहेगा। इस प्रकार के व्यक्ति सृष्टि मे बार बार उत्पन्न नहीं होते। एक सुभाषित के अनुसार उनका निधन एक जङ्गली सिंह के कारण हुआ माना जाता है†।

पाणिनि के व्याकरण का सम्भवत उसकी विशेषताओं के कारण बहुत शीघ्र प्रचार हुआ। लोगो ने पाणिनीयव्याकरण के आगे पूर्व के सब व्याकरणों को तुच्छ वा हेय समझा। इनके कई शताब्दी बाद कात्यायन और पतञ्जलि ने पाणिनीयव्याकरण को परिष्कृत करने का अपूर्व कार्य किया। कात्यायन ने अपने वार्त्तिकों द्वारा सूत्रार्थ वा पाणिनि के गुप्त आशयो को भली प्रकार प्रकट किया। महामुनि पतञ्जलि ने रही-सही सब कसर पूरी करके पाणिनीयव्याकरण की

+ यथा—वासुदेवार्जुनाभ्या वुन् (४ ३ ९८), कठचरकाल्लुक् (४ ३ १०७), पाराशर्यशिलालिभ्या भिक्षुनटसूत्रयोः (४ ३ ११०), तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण (४ ३ १०२), काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्या णिनि (४ ३ १०३), कालापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च (४ ३ १०४), पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (४ ३ १०५), शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४ ३ १०६), कर्मन्दकृशाश्वादिनि (४ ३ १११), सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ (४ ३ ९३), तूदीशलातुरवर्मतीकूचवारात् (४ ३ ९४), लोपः शाकल्यस्य (८ ३ १९), लङ शाकटायनस्यैव (३ ४ १११), ऋतो भारद्वाजस्य (७ २ ६३) इत्यादि।

† सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिने,
मीमासाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनि जैमिनिम्।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्,
अज्ञानावृतचेतसामतिरुषा कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द

कीर्त्तिपताका चहु दिशाओं मे फहरा दी। पाणिनीयव्याकरण पर पतञ्जलि का लिखा "महाभाष्य" नामक ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक और अपनी शैली का अपूर्व भाष्य है*।

इस प्रकार सैकड़ो वर्षो तक पाणिनीयव्याकरण अपने असली रूप अर्थात् सूत्रपाठ के क्रमानुसार पठनपाठन मे प्रचलित रहा√। परन्तु जब सस्कृत का स्थान अपभ्रश वा प्राकृत आदि भाषाओं ने लेना शुरू किया—और सस्कृत केवल साहित्य मे ही प्रयुक्त होने लगी तब लोगो को जरा असुगमता का भास हुआ। तब उन्होने सूत्रक्रम के साथ प्रक्रियाक्रम का भी प्रचलन आरम्भ किया। इसके फलस्वरूप पाणिनिव्याकरण का आश्रय करते हुए माधवीय धातुवृत्ति, प्रक्रिया-कौमुदी, प्रक्रियासर्वस्व, सिद्धान्तकौमुदी आदि अनेक ग्रन्थ बने। परन्तु जिस प्रकार पाणिनि का व्याकरण अपने से पूर्ववर्त्ती सब व्याकरणो मे मूर्धस्थानीय बन पडा था, ठीक उसी प्रकार श्रीभट्टोजिदीक्षित की 'सिद्धान्त कौमुदी' भी प्रक्रिया-पन्थ का सर्वोत्तम ग्रन्थ बना। दीक्षितजी की यह कृति प्रक्रियामार्ग की पराकाष्ठा वा चरमसीमा समझनी चाहिये। अत एव भारत मे उसके ग्रन्थ का महान् आदर हुआ। दीक्षितजी पाणिनीयव्याकरण मे कृतभूरिपरिश्रम थे। अष्टाध्यायीक्रमानुसार लिखा गया उनका 'शब्द-कौस्तुभ' नामक ग्रन्थ उनके पाण्डित्य का परिचायक है। कई लोग दीक्षितजी की कुछ अशुद्धियो को देखकर उनके पाण्डित्य पर आक्षेप करते है—यह उनकी भूल है, अशुद्धियां करना मानव का स्वभाव है। इससे दीक्षितजी की कीर्त्तिचन्द्रिका कलङ्कित नहीं की जा सकती†।

---

*पतञ्जलि के विषय मे विस्तृतविचार "महर्षि पतञ्जलि और तत्कालीन भारत" नामक लघुपुस्तक मे देखे। यह पुस्तिका 'गुरुकुल विश्वविद्यालय काङ्गडी हरिद्वार' से प्रकाशित हुई है।

√ देखो 'इत्सिङ्ग की भारत यात्रा'।

† भट्टोजिदीक्षित का काल सत्रहवी शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। नाम के अन्त मे 'जी' के प्रयोग से इनका दाक्षिणात्य होना प्रतीत होता है परन्तु इनका निवास काशी मे था। इनके पिता का नाम श्रीलक्ष्मीधरपण्डित तथा गुरु का नाम श्रीशेषकृष्ण था। दीक्षितजी के पुत्र श्रीभानुजीदीक्षित की अमरकोष पर 'व्याख्यासुधा' नामक व्याख्या अत्यन्त प्रसिद्ध है। दीक्षितजी केवल वैयाकरण ही न थे किन्तु धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड आदि के भी महापण्डित थे। इनके बनाए ग्रन्थो की सङ्ख्या ३१ बताई जाती है।

इन्हीं दीक्षितजी के शिष्य श्रीवरदराज ने+ आजकल के समय आरम्भ से ही सिद्धान्तकौमुदी के अध्ययन मे विद्यार्थियों की असमर्थता देखते हुए 'मध्य सिद्धान्त कौमुदी' और 'लघु सिद्धान्त-कौमुदी' नामक दो ग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी को सङ्क्षिप्त करके लिखे। इन्हे सिद्धान्तकौमुदी का सङ्क्षिप्त सस्करण कहा जा सकता है। उनका विचार पाणिनीयव्याकरण मे बालकों का सरलता से प्रवेश कराना था। यह बात ग्रन्थारम्भ मे स्वयं उन्होने स्वीकार की है। इन दोनो सङ्क्षिप्त सस्करणो मे 'लघु-सिद्धान्त-कौमुदी' नामक ग्रन्थ विशेषरूप से प्रचलित हुआ है। प्राय विद्यार्थी प्रारम्भ मे इसे पढ कर तदनन्तर 'सिद्धान्तकौमुदी' के अध्ययन मे प्रवृत्त हुआ करते है।

लघुकौमुदी वा सिद्धान्तकौमुदी पर—जहा तक मेरा विचार है—अभी तक कोई आधुनिक ढग पर विश्लेषणात्मक मर्म समझाने वाली विस्तृत हिन्दीव्याख्या नही निकली, जो थोडी बहुत हिन्दीव्याख्याए मिलती भी है वे भी प्राय सब पुरानी शैली की केवल सस्कृतशब्दो के स्थान पर हिन्दी पर्याय रख देने मात्र मे

+ श्रीवरदराज का काल भी दीक्षितजी वाला है। श्रीवरदराज के पिता का नाम 'दुर्गातनय' था। इन्होने मध्यकौमुदी और लघुकौमुदी के अतिरिक्त 'सारकौमुदी' और 'गीर्वाणपदमञ्जरी' नामक अन्य ग्रन्थ भी लिखे थे। श्रीवरदराज ने यद्यपि 'सिद्धान्तकौमुदी' का सङ्क्षिप्त सस्करण ही 'लघुकौमुदी' बनाया है, तथापि प्रकरणो की दृष्टि से लघुकौमुदी का क्रम 'सिद्धान्तकौमुदी' के क्रम से बहुत श्रेष्ठ है। सिद्धान्तकौमुदी मे अव्ययप्रकरण के बाद 'स्त्रीप्रत्ययप्रकरण' आरम्भ हो जाता है, पर लघुकौमुदी मे स्त्रीप्रत्ययप्रकरण सब प्रकरणो के अन्त मे रखा गया है—और यह उचित भी है क्योंकि विना कृदन्त और तद्धितान्त का ज्ञान प्राप्त किये स्त्रीप्रत्ययप्रकरण के—'टिड्ढाणञ्. . ' 'कृदिकारादक्तिन' आदि सूत्रो का समझना अतीव दुष्कर है। इसीप्रकार कारकप्रकरण के विषय मे भी समझना चाहिये। कारकप्रकरणगत 'कर्तृकरणयोस्तृतीया, अकथितञ्च' आदि सूत्र तथा अभिहित अनभिहित आदि की व्यवस्था विना तिङन्त और कृदन्त प्रकरणो के ज्ञान के समझनी कठिन है। अत• वरदराज ने तिङन्त और कृदन्त प्रकरणों के अनन्तर ही कारकप्रकरण को रखा है।

• नत्वा वरदराज श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान्।
करोति पाणिनीयाना मध्यसिद्धान्तकौमुदीम्॥
नत्वा सरस्वती देवीं शुद्धा गुण्या करोम्यहम्।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्॥

ही सन्तोष प्रकट करने वाली है। ग्रन्थकार के एक एक शब्द वा विचार का विस्फोरण कर पाठकों के हृदयो मे उसे अङ्कित कर देने का तो किसी को विचार ही उपस्थित नही हुआ। उदाहरणत —आप 'स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था', 'नक्षत्रादीना ग्रहण व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्', 'अष्टभ्य इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषय आत्व ज्ञापयति'—इत्यादि स्थलो को उन टीकाओं मे देखे, आप सन्तुष्ट नहीं हो सकेंगे।

आज जब भारत स्वतन्त्र हुआ है—और हिन्दी उसकी राष्ट्रभाषा बनने जा रही है—निस्सन्देह विदेशी वा स्वदेशी लोग उसकी राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपना वेगे। परन्तु यह निश्चित-सा है कि विना सस्कृत का अच्छा अध्ययन किये हिन्दी मे प्रौढता प्राप्त करना दुष्कर ही नहीं वरन् असम्भव सा है। अत इस काल मे सस्कृतप्रचार के लिए हमे हिन्दी मे ऊँचे-सेऊँचे ज्ञानवर्धक अन्वेषणात्मक ग्रन्थ सरल से-सरल रीत्या लिखने चाहिये। हमने अपनी व्याख्या इसी विचार को दृष्टिगोचर रखते हुए लिखी है। इसमे हमारी मुख्यदृष्टि अन्वेषण पर ही रही है। जिसे आज के युग मे व्याख्या का एक प्रमुख अङ्ग माना जाता है। मूल मे जहा-जहा कोई कठिन स्थल आया है वहा वहां हमने ग्रन्थविस्तर का भय छोड उसका पूरा-पूरा वर्णन किया है। ऊपर के उद्धृत स्थलो पर आप हमारा व्याख्यान देख कर यह अनुभव करने लगेगे कि अब इस विषय पर कुछ शेष नहीं रहता।

यह व्याख्या सार्वजनीन अर्थात् सर्वजनोपयोगिनी है। इसे अत्यल्प ज्ञान वाले विद्यार्थी, व्युत्पन्न विद्यार्थी, जिज्ञासु, व्याकरणप्रेमी, अध्यापक, अन्वेषण-प्रेमी—जो भी देखेंगे अपने-अपने सामर्थ्यानुकूल पूर्ण उपयोगी पाएगे। अध्यापक यदि इसका स्वय विचार करके विद्यार्थियों को पाठ पढ़ाएगे, तो वे ग्रन्थकार का आशय अपने छात्रों के हृदयपटल पर अतिशीघ्र अङ्कित करने मे समर्थ हो सकेंगे। इसी प्रकार यदि छात्र अपने अध्यापकों से ग्रन्थ का पाठ पढ़ कर इस व्याख्या का अवलोकन करेंगे तो उन्हे निश्चय ही अपूर्व लाभ होगा। एवम् अन्वेषणप्रेमी विदेशी वा स्वदेशी विद्वानों के लिए भी यह समानरूपेण उपयुक्त सिद्ध होगी।

हमने व्याकरण जैसे कठिन विषय को सरल से सरल करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। अनेक विवादास्पद स्थलों का स्पष्टीकरण करते हुए भिन्न-भिन्न विद्वानों की सम्मति भलीभाँति लिखकर अपनी सम्मति भी स्पष्टरूपेण अङ्कित की है। कई कठिन स्थल अत्यन्त सरल रीति से लौकिक उदाहरण देकर स्पष्ट

किये गये है, यथा—'न लुमताङ्गस्य' की अनित्यता वाला स्थल, स्थानिवद्भाव मे 'अनल्विधौ' वाला अश आदि।

इस ग्रन्थ की कुछ मोटी-मोटी विशेषताए निम्नलिखित है—१ सूत्रार्थ, २ अभ्यास, ३ शब्दसूची, ४ अव्ययप्रकरण।

सूत्रार्थ—

जहा तक हमे ज्ञात है कि लघुकौमुदी के किसी टीकाकार ने 'सूत्र से अर्थ कैसे उत्पन्न होता है'—इस पर कुछ भी विचार नहीं किया। लघुकौमुदी तो क्या सिद्धान्तकौमुदी तक के कुछ टीकाकारों को छोडकर प्राय सब व्याख्याकर्त्ताओ ने इस विशेषता की ओर कुछ ध्यान नहीं दिया। तीन अक्षरो के सूत्र का पैंतीस अक्षरो वाला अर्थ कैसे हो गया—यह वे नही बताते। केवलमात्र वृत्ति को घोट कर सूत्रार्थ का स्मरण करना महान् दोषावह है। मैंने अनेक अच्छे-अच्छे व्युत्पन्न विद्यार्थी देखे है जो प्रत्येक सूत्र का अर्थ तो बता सकते है परन्तु सूत्र का पदच्छेद तक नहीं कर सकते। यह सारा दोष केवलमात्र वृत्ति घोटने (रटने) का है। हमारे विचार मे तो प्रत्येक विद्यार्थी को व्याकरण अध्ययन करने से पूर्व पाणिनिजी का 'अष्टाध्यायी-सूत्रपाठ' क्रमपूर्वक कण्ठस्थ करना चाहिये। इससे वृत्ति रटने की आवश्यकता नहीं रहती, केवलमात्र वृत्ति को समझ लेना ही पर्याप्त होता है, क्योंकि सूत्रों का पौर्वापर्य तो विदित होता ही है। हमारी यह निश्चित धारणा है कि विना अष्टाध्यायीक्रम जाने—प्रक्रियामार्ग से 'पूर्वत्रासिद्धम्', एकसञ्ज्ञाधिकार, एकादेशाधिकार, भसञ्ज्ञा, पदसञ्ज्ञा, 'तद्धितश्चासर्वविभक्ति' वाला परिगणन आदि अनेक सूत्र वा स्थल ठीक ठीक रीति से कदापि हृदयङ्गम नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त अष्टाध्यायी मे दर्जनों प्रकरण एकत्रितावस्था मे अपने-अपने स्थान पर अवस्थित है। आपको यदि प्रक्रिया मे कोई सूत्र भूल जाए या सन्देह पड़ जाय तो आप अष्टाध्यायी का वह सम्पूर्ण प्रकरण मन में पढ़ सकते हैं, तुरन्त आपका सन्देह मिट जायगा अथवा वह विस्मृत सूत्र याद आ जायगा। यथा—आपको कहीं प्रक्रिया मे इत्सञ्ज्ञक सूत्र के विषय मे सन्देह है तो आप अष्टाध्यायी का वह प्रकरण मन ही मन पढ़ कर अपना सन्देह निवारण

कर सकते है। अष्टाध्यायी का इत्सञ्ज्ञक प्रकरण प्रथमाध्याय के तृतीयपाद के आरम्भ मे निम्नप्रकारेण है—

उपदेशेऽजनुनासिक इत् ।१।३।२।।
हलन्त्यम् ।१।३।३।।
न विभक्तौ तुस्मा १।३।४।।
आदिर्ञिटुडव १।३।५।।
ष प्रत्ययस्य ।१।३।६।।
चुटू ।१।३।७।।
लशक्वतद्धिते ।१।३।८।।
तस्य लोप ।१।३।९।।

इस प्रकरण के अतिरिक्त इत्सञ्ज्ञाविषयक सूत्र आपको अन्यत्र कहीं भी अष्टाध्यायी मे नहीं मिलेगा। यह विशेषता प्रक्रियामार्गगामी कौमुदी आदि ग्रन्थो मे उत्पन्न नहीं की जा सकती। इसी प्रकार—णत्व, षत्व, कित्त्व, पित्त्व, प्रगृह्य-सञ्ज्ञा, आत्मनेपदप्रक्रिया, परस्मैपदप्रक्रिया, समासान्त, एकसञ्ज्ञाधिकार, एकादेशाधिकार आदि दर्जनों प्रकरण आपको एकत्रावस्थित अष्टाध्यायी मे मिल सकेंगे। पटना कालेज के व्याकरणशास्त्र के प्रधानाध्यापक श्री पण्डित हरिशङ्कर शर्मा पाण्डेय स्वनिर्मित 'आर्ष पाणिनीय व्याकरणम्' मे इस विषय पर अत्यन्त मार्मिक लेखनी उठाते हुए लिखते है—

"यच्छास्त्र वटुभिर्दिनै कतिपयै क्रीडामनस्कैरपि,
स्वाचार्याश्रमवासिभि सरलया रीत्या पुराधीयते।
गुर्वर्थं परिपूर्णमुत्तमतया सङ्क्षिप्तकायञ्च यत्,
तत्कीदृग्विपरीतरूपमधुना हा हन्त ! जोघुष्यते ?।।
तदिदानीं महाकाय भीमरूप गृहीतवत्।
यद्दृष्ट्वा प्रपलायन्ते बाला कोमलबुद्धय ।।
योऽप्याग्रहेण पठति पाणिनिक्रमवर्जितम्।
तदवश्य स सम्पूर्णं यापयत्यत्र जीवितम् ।।
अयि विद्वद्वरा धीरा निजशिष्यायुष. क्षयम्।
रात्रिन्दिवं जायमानं मनागपि न पश्यथ ! ।।
तस्मात्क्रमेण सूत्राणि पठनीयानि यत्नत।
अनुवृत्त्यादिसौकर्यात्तदर्थोऽपि न दुर्ग्रह. ।।

पाणिनीयपठनाय पाणिनेर्यं क्रम स न कदापि हीयताम् ।
वृत्तिघोषणमहापरिश्रमान्मुक्तिरेव फलमस्य दृश्यताम् ॥”

तो हमने इस व्याख्यान मे लघुकौमुदी के प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, पदों का विभक्ति-वचन, पिछले सूत्रों से आ रहे अनुवर्त्तित पद और उनका विभक्ति-वचन, समास और आवश्यक प्रत्यय तथा परिभाषाओं के कारण होने वाले परिवर्त्तनों का पूरा-पूरा वर्णन किया है। इसके पढ़ने से विद्यार्थी के हृदय मे सूत्रार्थ के प्रति तनिक भी सन्देह शेष नहीं रह जाता—वह सूत्र के अन्दर तक घुस कर स्वय ही वृत्ति वाला अर्थ निकाल सकता है। मेरे ध्यान मे आज तक इस प्रकार का प्रयत्न लघुकौमुदी पर नहीं किया गया।

अभ्यास—

इस ग्रन्थ की दूसरी बडी विशेषता—“अभ्यास” है। प्राय प्रत्येक प्रकरण वा अवान्तर प्राकरणिक विषय के अन्त मे ‘अभ्यास’ जोड़ दिया गया है। ये अभ्यास साधारण पुस्तकों के अभ्यासो की तरह नहीं है, किन्तु महान् परिश्रम से जुटाए गये अभ्यास है। सन्धिप्रकरण के अभ्यासों मे आप ऐसे अनेक उदाहरण पाएगे—जो अन्यत्र मिलने दुर्लभ हैं। इसी प्रकार अन्य अभ्यासों मे भी विद्यार्थियों की ज्ञानविवृद्धि के लिये अनेक भ्रमोत्पादक रूप भ्रमोच्छेदपूर्वक बडे परिश्रम से सङ्गृहीत किये गये हैं, इन्हे देखकर विद्वत्समाज को निश्चय ही सन्तोष होगा। हमारी यह धारणा है कि यदि इन अभ्यासों को कोई छात्र युक्तरीत्या अभ्यस्त (हल) कर ले तो वह साधारण सिद्धान्तकौमुदी पढ़े-लिखे छात्र से अधिक व्युत्पन्न होगा। विद्यार्थियो को इन अभ्यासों का पुन-पुन मनन करना चाहिये। व्याख्यागत सभी विशिष्ट बाते प्राय इन अभ्यासों मे प्रश्नरूप से पूछ ली गई है।

शब्दसूची—

इस व्याख्या की तीसरी असाधारण विशेषता है—‘शब्दसूची’। आपको आजतक के मुद्रित व्याकरणग्रन्थों मे इस प्रकार का प्रयत्न कहीं भी किया गया नहीं मिलेगा। इन शब्दसूचियों का उद्देश्य विद्यार्थियों को अनुवादादि के लिये अत्यन्त उपयोगिशब्दसङ्ग्रह प्रदान करना है। इन सूचियों मे प्राय दो हजार (२०००) चुने हुए शब्दों का सार्थ सङ्ग्रह किया गया है। इनमे से कई सूचियां तो अत्यन्त कठोर परिश्रम से सङ्ग्रह की गई हैं। शब्दों के प्राय· लोकप्रचलित

प्रसिद्ध अर्थ ही दिये गये है। विशेष-विशेष स्थानो पर काव्यकोषादि के वचन भी टिप्पणरूपेण दे दिये है। विद्यार्थियो के सुभीते के लिए णत्वप्रक्रियानिर्देशक चिह्न भी सर्वत्र लगा दिये है।

अव्यय-प्रकरण—

इस व्याख्या की चौथी बड़ी तथा सब से अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है—'अव्ययप्रकरण'। आपको कही भी इस प्रकार की व्याख्या सहित 'अव्यय-प्रकरण' देखने को नही मिलेगा। प्रत्येक अव्यय का विस्तृत अर्थ, उसका उदाहरण [जहा तक हो सका है किसी प्रसिद्ध सूक्ति वा सुभाषित को ही चुना गया है] तथा तद्विषयक विस्तृतान्वेषण आप इस प्रकरण मे देख सकेंगे। यह प्रकरण ४७ पृष्ठो मे समाप्त हुआ है। इस प्रकरण के कई अव्यय विवाद का विषय बने हुए है—उन सब का स्पष्टीकरण पूर्णरीत्या किया गया है। इन मे किन्हीं अव्ययो पर कई-कई मास भी सोच-विचार किया गया है और कई आदरणीय विद्वानो की सम्मति भी ली गई है। इस प्रकरण को लिखने मे सब से बड़ी सहायता हमारे विशाल सस्कृत पुस्तकालय की है जिस पर हमने प्राय तीस हजार रुपये व्यय कर, चुने हुए तीन हजार सस्कृत ग्रन्थ सगृहीत किए है†। यदि यह पुस्तकालय हमारे पास न होता तो स्यात् यह प्रकरण अथवा समग्र ही यह ग्रन्थ लिखा ही न जा सकता।

इस ग्रन्थ के मुद्रण वा प्रूफ आदि के सशोधन में मुझे प्राय अपने सब अन्तेवासियों ने यथाशक्ति पूरा-पूरा साहाय्य प्रदान किया है। चिरञ्जीव पुत्रकल्प श्यामसुन्दर ने इसमे अधिक परिश्रम किया है। मैं उसे भूयोभूय शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

श्रीपण्डित दीनानाथजी शास्त्री सारस्वत विद्यावागीश भूतपूर्व प्रिंसिपल सनातनधर्म सस्कृत कालेज मुलतान का वर्णन न करना स्यात् कृतघ्नता की पराकाष्ठा मानी जायगी। गुरुकल्प श्रीपण्डितजी ने जिस परिश्रम, नि स्वार्थपरायणता, तन्मयता और लग्न के साथ इस ग्रन्थ का आदि से अन्त तक सशोधन किया और अनेक स्थलों पर अपने दीर्घकालीन-अध्यापन के अनुभव से अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण विशेष-विशेष बाते सुझाई —वे वर्णनातीत है। जहा तक मै समझ सका हूँ

---

† यह विशाल पुस्तकालय सौभाग्यवश पाकिस्तान के डेराइस्माईलखान (N W F P.) नामक नगर से किसी प्रकार बचकर यहा दिल्ली मे सुरक्षित पहुँच गया है। परन्तु स्थानादि की ठीक व्यवस्था न होने से आजकल इसकी अस्तव्यस्त दशा होती चली जा रही है।

कि पण्डितजी ने स्नेहातिरेक से इस कार्य्य को अपना ही कार्य्य समझ लिया था—जो उनके उच्च व्यक्तित्व का ज्वलन्त प्रमाण है। उनकी आदरणीय सम्मति ग्रन्थारम्भ से पूर्व आगे के पृष्ठो मे विद्वज्जनो के अवलोकनार्थ मुद्रित की गई है। मैं नतमस्तक होकर केवल उनका आभार प्रदर्शन करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता हू।

इतना परिश्रम करने पर भी इस ग्रन्थ मे कुछ त्रुटिया रह गई है—जिनका यहा प्रदर्शन करना व्यर्थ सा है। आशा है विद्वज्जन अपनी उदारवृत्ति से सूचित करेंगे।

यह है हमारा आत्मनिवेदन। अब आगे आप का काम है कि लेखक को उत्साहित कर आगे सेवा करने का अवसर दे या न दे।

इति निवेदयति

गाधीनगर (यमुनापार) दिल्ली — विदुषामनुचरो

(माघ कृष्ण २ सवत् २००६) — भीमसेनः [शास्त्री प्रभाकरः]

द्वित्राः शब्दाः

[लेखक—श्रीपण्डित दीनानाथजी शास्त्री सारस्वत विद्यावागीश]

'लघुवैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी' श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितशिष्येण श्रीवरदराजेन बालाना कृते प्राणायि। यद्यपि इय शब्दतो 'लघुकौमुदी', परमर्थतस्तथा न। यदि अदसीया अर्थाः कार्त्स्न्येन अधिगता स्यु, तद् 'वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी' अथवा एतदेव कथ्यतो यद् 'व्याकरण' कठिन न तिष्ठेत्। परं विषादस्य व्यतिकरो यद्—अद्यतनाः परीक्षार्थिन सर्व्वाम् 'लघुकौमुदीं' न, किन्तु तदीय पूर्वार्धमधीयते। पूर्व्वार्धस्यापि तेषामन्तरङ्गज्ञान सर्व्वथा न भवति। यदि स्यात्, तत् तेषा हृदि उत्तरार्द्धाध्ययनस्यापि उत्कटाभिलाषो जागरूक स्यात्। व्याकृति-पठनस्य फलं शब्दशुद्धिर्भाषाशुद्धिश्च। तत्फल लघुकौमुद्या निगदशब्दनेन न जायते, किन्तु तदन्तः प्रवेशेन। तदन्त प्रवेशे जाते 'कौमुद्या' स आस्वाद आसाद्यते यः काव्योपन्यासाध्ययनेनापि नासाद्येत।

तस्यैवास्वादस्य विद्यार्थिनां साधारणाध्यापकाना च आसक्ति स्याद्—इति विचिन्तयता गीर्वाणवाणीप्रणयिना डेराइस्माइलखानाभिजनेन श्रीभीमसेन-शास्त्रि-महाभागेन महत् परिश्रम्य 'लघुकौमुद्या.' इय हिन्दीटीका प्राणायि। यद्यपि प्रणेता

संस्कृतटीकामपि कर्तुमस्वम्भूष्णुरासीत्, तथापि सर्वसाधारणाना हिन्दी-भाषाभिज्ञाना च लाभस्तथा न भवितुमर्हति, यथा हिन्दीटीकया—इति विविच्य स हिन्दीटीकामकार्षीत्। संस्कृतटीकाया कदाचित् प्रणेतुरज्ञान गुप्तीभवति, परमत्र तथा नास्ति। अद्यत्वे हिन्दीटीकैव ज्ञानस्य निकषोऽस्ति। एतदभिप्रेत्यैव प्रणेत्रा हिन्दीटीकायामध्यवसितम्। सा च बहुमूल्यापि तेन एतज्जिज्ञासुभ्योऽल्पमूल्येन स्वय हानिं सोढ्वापि दीयेत। इदानीमदसीयः पूर्वार्द्धोऽमुना प्रकाश्यते। उत्तरार्द्धः पुनः प्रकाश्येत। ततश्च 'सिद्धान्तकौमुद्या' अपि ईदृश्येव टीका पाठकेभ्यः समर्प्येत।

टीकाया आलोचना प्रयोजनीयता नापेक्षते। इय स्वय स्वपरिचायिका वरी-वर्त्ति। विदुषो लेखकस्यात्र महान् परिश्रमः प्रत्यक्ष एव। महती सुगमता, सुस्पष्टता, विशदता चात्र वर्वर्त्ति। शब्दानामुच्चारणानि कार्त्स्न्येन लिखितानि। सूत्रार्था सम्यक् प्रस्फोटिता। शब्देषु व्याक्रिया-प्रक्रिया वैशद्येनाङ्किता। शब्दान्तराणा सूची अपि निर्दिष्टा, येन अनुवादेपि महिष्ठो लाभ आशास्येत। विशिष्टविषया अपि सम्यक् सन्दब्धा, येन ज्ञानवृद्धिस्तत्पिपासा च विशद जागृयात्। अह लेखकमाशिषा युनज्मि यद्—यत् सदुद्देश्यमभिसन्धाय तेनेद प्रणयन कृतम्, तस्य साफल्य तस्य भूयाद् भूयात्।

भाद्रपदशुक्ला
२ बुधे स० २००३ वै०

इति हृदा आशासान —
दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वतः।
[विद्यावागीश, विद्यानिधि, विद्याभूषण,
प्रिंसिपल स० ध० संस्कृतकालेज
मुलतान सिटी]

सानुरोध निवेदन

[लेखक—श्रीपण्डित दीनानाथजी शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश]

जब यह भैमी व्याख्या मैंने देखी थी, उसे पर्याप्त समय बीत चुका है। पाकिस्तान काण्ड ने एक दु खद अवसर उपस्थित किया। इस व्याख्या के प्रणेता बहुत हानि प्राप्तकर इसके छपवाने मे हतोत्साह हो चुके थे, पर मैंने इन्हे बहुत आश्वासन दिया, और इसे पूर्ण करने की प्रेरणा की। परमात्मा की कृपा से अब यह पुस्तक प्रकाशित होकर पाठको के करकमलों मे है। आज इस हिन्दी के राष्ट्रभाषात्व के युग मे व्याकरण-जैसे कठिन माने जाने वाले विषय पर हिन्दी-टीका की अपेक्षा थी, वह अब आप सज्जनों के समक्ष है। जिस सदुद्देश्य से यह लिखी गई है, उसी उद्देश्य से इसका प्रचार भी अपेक्षित है। आज एक सौ पृष्ठो की छोटी सी पुस्तक छपती है, उसका मूल्य कम से कम २)-२॥) रख दिया जाता है, परन्तु यह बडे आकार का सात सौ पृष्ठों का पोथा बडे सस्ते मूल्य केवल [redacted]) मे दिया जा रहा है। सब माननीय अध्यापक महोदयो का कर्त्तव्य है कि इसका प्रत्येक सस्कृत के विद्यार्थी मे प्रचार करे। यह केवल प्राज्ञ वा प्रथमा ही नहीं, यह विशारद, मध्यमा, शास्त्री आदि श्रेणियो के भी पास रखने योग्य है। न केवल विद्यार्थियो अपितु सभी अध्यापकों के भी पास रखने योग्य है। न केवल छात्रो अध्यापको, प्रत्युत पुस्तकालयों मे भी स्थान पाने योग्य है। यदि पाकिस्तानकाण्ड न होता, तो यह ग्रन्थ सभी को घर बैठे-बैठे २) मे मिलता। पर अब [redacted]) भी बहुत कम मूल्य है। आशा है—सभी आचार्यकुल, गुरुकुल, ऋषिकुल तथा सस्कृतमहा-विद्यालय एव विद्यालयों मे इसका प्रचार होगा। इसके शीघ्र बिकने पर शेष उत्तरार्ध भी शीघ्र प्रकाशित किया जा सकेगा। मेरा प्रत्येक परिचित—अपरिचित प्रिंसिपल, अध्यापक तथा छात्रगण से सानुरोध निवेदन है कि इस का प्रचार स्व-कर्त्तव्य समझकर नि स्वार्थ भाव से करे।

निवेदक —

माघकृष्णा गणेशचतुर्थी

शनिवासरे स० २००६ वै०

दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वतः।

[विद्यावागीश, विद्यानिधि, विद्याभूषण]

प्रिंसिपल श्रीरामदल संस्कृत हिन्दी विद्यालय,

देहली।

* ओ३म् *

❀ अथ लघुसिद्धान्तकौमुदी ❀

भैमीव्याख्यया समुपबृंहिता ।

[व्याख्याकर्त्तुर्मङ्गलाचरणम्]

आप्यतेऽन्विष्यमाणो न यः कुत्रचिद्
योगिविद्वज्जनैर्हा कुतोऽन्यैर्नरैः ।
आदिमध्यान्तशून्यं प्रभुं निर्गुणं
स्वस्य चित्तोपशान्त्यै तमेवाश्रये ॥ १ ॥

सर्वाभिलाष—दातारं, शरणागत—तारकम् ।
अभिलाषशतं त्यक्त्वा, प्रपन्नोऽस्मि जगद्गुरुम् ॥ २ ॥
व्याख्याता सूरिभिः कामं, लघुसिद्धान्तकौमुदी ।
भाषाटीका तथाप्यस्या, ज्ञानदा नैव दृश्यते ॥ ३ ॥
अक्षरार्थपराः सर्वे, विमुखा भाववर्णनात् ।
वृथानपेक्षं जल्पन्तः, पाण्डित्यमदगर्विताः ॥ ४ ॥
तेभ्यः खिन्नो विनोदाय, बालानामुपकारिणीम् ।
स्वाधीतस्य प्रचाराय, टीकामेतां करोम्यहम् ॥ ५ ॥
सुस्पष्टपदलालित्यं, सुष्ठु भावस्य कीर्तनम् ।
चटून् दृष्ट्वा कृतं सर्वं, न च पाण्डित्यगर्वतः ॥ ६ ॥
टीकामेतां जगद्दृष्ट्वा, गदिष्यत्येकया गिरा ।
बालानामुपकारोऽभूद्, यः कृतो नैव केनचित् ॥ ७ ॥
कृपा स्याज्जगदीशस्य, यत्नो मे सफलो भवेत् ।
यतो मौर्ख्याभिभूतस्य, को देवादपरोऽस्ति मे ॥ ८ ॥

[लघु०] नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम् ।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ॥ १ ॥

अन्वयः—अहम् [वरदराज] शुद्धां गुण्यां सरस्वतीं देवीं नत्वा पाणिनीय-प्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीं करोमि ।

अर्थः—मैं [वरदराज] शुद्ध तथा गुणों से युक्त सरस्वती देवी को नमस्कार करके, पाणिनि के बनाये व्याकरणशास्त्र में (बालकों के) प्रवेश के लिये 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' को बनाता हूँ ।

व्याख्या—ज्ञान की अधिष्ठात्री (स्वामिनी) एक देवी मानी जाती है, जिसे सरस्वती कहते हैं । ग्रन्थकार ने आदि में उसे इसलिये नमस्कार किया है कि वह प्रसन्न होकर मेरे ऊपर कृपा करे जिससे मैं ग्रन्थ बनाने में समर्थ हो सकूं । इस ग्रन्थ के बनाने वाले वरदराज नामक पण्डित हैं । इनका सम्पूर्ण वृत्तान्त भूमिका में लिखा है देख लें । जिससे किसी भाषा के शुद्ध अशुद्ध होने का ज्ञान हो, उसे उस भाषा का व्याकरण कहते हैं । संस्कृत भाषा के अनेक व्याकरण हैं । यथा—पाणिनीय, मुग्धबोध, सारस्वत आदि । संस्कृत भाषा के सम्पूर्ण व्याकरणों में पाणिनि-मुनि का बनाया व्याकरण ही सब से श्रेष्ठ और प्रचलित है । इसके अध्ययन में कठिनता का अनुभव कर वरदराज ने यह 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' बनाई है । 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' शब्द का अर्थ "कुछ व्याकरण सिद्धान्तों को चांदनी के समान प्रकाशित करने वाली" है ।

टिप्पणी—गुण्याम्=प्रशस्ता गुणा सन्त्यस्या इति=गुण्या । ताम्=गुण्याम् । ['रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्' (५ । २ । १२०) इति सूत्रस्थेन 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति वार्तिकेन यप् ।] पाणिनीयप्रवेशाय = पाणिनिना प्रोक्तम् = पाणिनीयम्, तस्मिन् प्रवेश = पाणिनीय-प्रवेशस्तस्मै = पाणिनीय-प्रवेशाय । लघुसिद्धान्तकौमुदी = लघव. = असमग्रा ये सिद्धान्ता = ऊहापोहकृत-निश्चितविचारास्तेषां कौमुदी = कौमुदीव = चन्द्रिकेव । [अत्रत्यः कौमुदीशब्द कौमुदीवेत्यर्थे लाक्षणिक ।] यथा हि ज्योत्स्ना तमो निरस्य सकलभावान् प्रकाशयति, दिनकरकिरणजनित तापमुपशमयति, तथेयमप्यज्ञानन्दूरीकृत्य महाभाष्यादिदुरूह-ग्रन्थजनित तापमुपशमय्य व्याकरण सिद्धान्तान् मानसे प्रकटीकरोतीति सादृश्यम् ।

[लघु०] अइउण् ॥१॥ ऋलृक् ॥२॥ एओङ् ॥३॥ ऐऔच् ॥४॥ हयवरट् ॥५॥ लँण् ॥६॥ ञमङणनम् ॥७॥ झभञ् ॥८॥ घढधष् ॥९॥ जबगडदश् ॥१०॥ खफछठथचटतव् ॥११॥ कपय् ॥१२॥ शषसर् ॥१३॥ हल् ॥१४॥

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसञ्ज्ञार्थानि । एषामन्त्या इतः । हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः । लण्मध्ये त्वित्सञ्ज्ञकः ।

अर्थः—ये चौदह सूत्र माहेश्वर अर्थात् महादेव से आये हुए हैं। इनका प्रयोजन अण आदि सञ्ज्ञा करना है। इनके अन्त्य वर्ण इत्सञ्ज्ञक हैं। हकार आदियो मे अकार उच्चारण के लिये है। परन्तु 'लण' सूत्र मे वह इत्सञ्ज्ञक है।

व्याख्या— कहते हैं कि महामुनि पाणिनि विद्यार्थि-अवस्था मे अत्यन्त मन्दमति थे। जब इन्हे पढने से भी कुछ ज्ञान न हुआ, तब ये खिन्न हो गुरुकुल छोड तपस्या करने के लिए हिमाचल पर चले गये। वहा इन्होंने शिवजी की आराधना की। शिवजी ने प्रसन्न हो, चौदहबार डमरू बजाया। उससे पाणिनि ने 'अइउण्' आदि चौदह सूत्र प्राप्त किये। इस लिये इन सूत्रो को माहेश्वर अर्थात् महादेव से प्राप्त हुआ कहते है। परन्तु कई एक इस बात को प्रमाण-शून्य होने से गलत मानते है। उनका कथन है कि इन सूत्रो को बनाने वाले पाणिनि ही है*। परन्तु चाहे कुछ भी क्यो न हो, इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि ये सूत्र व्याकरण के प्राण है। इनके बिना पाणिनीय-व्याकरण चल ही नही सकता। इनका उपयोग आगे चल 'अण्' आदि सञ्ज्ञाओ के करने मे किया जावेगा। हम वहीं पर इन्हे स्पष्ट करेंगे।

जो अन्त मे रहे उसे अन्त्य या अन्तिम कहते है, इन चौदह सूत्रो के 'ण्, क्, ङ्, च्, ट्, ण, म्, ञ्, ष, श्, व् य्, र्, ल्' ये चौदह वर्ण अन्त्य है। इनकी इत्सञ्ज्ञा है अर्थात् ये इत् नाम वाले है। ध्यान रहे कि इस शास्त्र मे सञ्ज्ञा, सञ्ज्ञक और सञ्ज्ञी शब्दो का बहुत व्यवहार होता है। जो नाम हो वह सञ्ज्ञा और जिसका नाम हो वह सञ्ज्ञक या सञ्ज्ञी होता है। जैसे 'इसका नाम देवदत्त है' यहा 'देवदत्त' यह शब्द सञ्ज्ञा और सामने खडा हुआ हाड मास वाला लम्बा चौडा मनुष्य सञ्ज्ञक या सञ्ज्ञी है। इसी प्रकार यहा ण क् आदि सञ्ज्ञक या सञ्ज्ञी होगे और 'इत्' यह सञ्ज्ञा होगी। प्रत्येक वस्तु की सञ्ज्ञा व्यवहार की आसानी के लिये ही होती है, यथा मेरी सञ्ज्ञा 'भीमसेन' है। इससे यह होगा कि लोग मुझे व्यवहार मे आसानी से ला सकेंगे। कोई मुझे बुलाना चाहेगा तो कहेगा 'भीमसेन ! आओ', कोई मुझे पढ़ाना चाहेगा तो कहेगा 'भीमसेन ! पढो', कोई खिलाना चाहेगा तो कहेगा 'भीमसेन ! खाओ', कोई मेरा पता पूछेगा तो कहेगा 'भीमसेन कहा है ?' अब कल्पना करे कि यदि मेरा कोई नाम न होता तो जिसने मुझे बुलाना होता वह दूसरे के प्रति क्या कहता ? कि 'उस दुबले पतले मनुष्य को जिसका रङ्ग ऐसा २ है, सिर पर अमुक २ रङ्ग की पगडी है, पैर में फ़लां प्रकार का जूता है, लाओ'। तब सम्भव है कि सुनने वाला पुरुष उसे न समझ पाता। अथवा मेरी जगह किसी अन्य को ला खडा करता, तो कहने का तात्पर्य यह है कि नाम अर्थात् सञ्ज्ञा के बिना न तो जगत् का व्यवहार और न ही शास्त्र का व्यवहार चल सकता

---

* यह विषय ग्रन्थ के अन्त में 'प्रत्याहार-सूत्र किसने बनाये' नामक निबन्ध में देखें।

है। व्यवहार के लिये आवश्यक है कि जिसका हम व्यवहार करना चाहे उसकी कोई न कोई सञ्ज्ञा अवश्य करे। बिना सञ्ज्ञा के कभी व्यवहार नहीं चल सकता। यहा आगे 'आदिरन्त्येन सहेता (४) आदि सूत्रो मे इन ण, क् आदि अक्षरो का व्यवहार करना है, अत इनकी इत्' यह सञ्ज्ञा की जाती है।

हमारी लिपि अर्थात् वर्णमाला मे दो प्रकार के अक्षर है। एक तो 'अ, इ, उ' आदि स्वर, दूसरे 'क्, ख्, ग्, घ्' आदि व्यञ्जन या हल्। व्यञ्जनो का उच्चारण स्वरो के मिलाये बिना नही हो सकता। इसलिये आजकल की वर्णमाला की छोटी २ पुस्तको मे भी 'क, ख, ग, घ, ङ' इत्यादि प्रकार से अकार युक्त व्यञ्जन देखने मे आते है *।

इन चौदह सूत्रो में हयवरट्' सूत्र के हकार से व्यञ्जन आरम्भ होते हैं। इनमे भी अकार केवल इसीलिये है कि इनका उच्चारण हो सके, क्योंकि अकार के बिना 'ह य् व् र् ट्' इस प्रकार उच्चारण नही हो सकता। अत· अकार का इनमे ग्रहण नही करना चाहिये। यदि अलग २ अकार ग्रहण के लिये होता तो उसका बार २ उच्चारण न होता। क्योंकि ग्रहण तो एकबार के उच्चारण से भी हो जाता, तो पुन ग्रन्थ क्यो बढाते ?।

'लण' इस सूत्र मे लकारस्थ [लकार मे ठहरा हुआ] अकार उच्चारण के लिये नहीं किन्तु प्रयोजन-वशात् इत्सञ्ज्ञक है। इसका प्रयोजन 'रँ' प्रत्याहार सिद्ध करना है जो आगे 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र पर मूल मे ही स्पष्ट हो जावेगा। हम भी इसकी वहीं व्याख्या करेंगे।

टिप्पणी—महेश्वरादागतानि=माहेश्वराणि। 'तत आगत (१०९४) इत्यण्। अण आदिर्यासा ता अणादय अणादश्च ता सज्ञा =अणादिसज्ञा । अणादिसज्ञा अर्थं प्रयोयेषान्तानीमानि=अणादिसंज्ञार्थानि।

अन्त्या वर्णा इतो ज्ञेयाः, प्रत्याहारोपयोगिनः।
अकारोऽत्र सुखार्थोऽस्ति, इत्तु लण्सूत्रगः स्मृतः॥ १॥

---

*व्यञ्जनों के साथ स्वर मिलाने का प्रकार यथा—

क्+अ=क, क्+आ=का, क्+इ=कि, क्+ई=की, क्+उ=कु, क्+ऊ=कू, क्+ऋ=कृ , क्+ॠ=कॄ, क्+ऌ=क्ऌ, क्+ए=के, क्+ऐ=कै, क्+ओ=को, क्+औ=कौ, क्+अं=कं, क्+अः=कः। इसी प्रकार अन्य व्यञ्जनों के साथ भी सयोग कर लेना चाहिए। इनमें से 'कि' पर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्राय कई बालक 'कि' में 'इ' को प्रथम और क् को पश्चात् लिखा माना करते हैं, उन्हें उपर्युक्त प्रकार से अपनी भ्रान्ति दूर कर लेनी चाहिए। ध्यान रहे कि बिना स्वर व्यञ्जन का सयोग जाने कदाचित इस ग्रन्थ में प्रवेश नही हो सकता।

[लघु०] १. सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१ **हलन्त्यम् । १ । ३ । ३ ॥**

उपदेशेऽन्त्यं हलित् स्यात्। उपदेश आद्योच्चारणम्।
सूत्रेष्वदृष्टम्पदं सूत्रान्तरादनुवर्त्तनीयं सर्वत्र ।

अर्थः—उपदेश मे वर्त्तमान अन्त्य हल् इत्सञ्ज्ञक हो। आद्यो के उच्चारण को अथवा धातु आदि के आद्य उच्चारण को उपदेश कहते है। सूत्रो मे जो पद न हो [पर वृत्ति मे दिखाई दे] वह पद सर्वत्र पिछले [या कहीं २ अगले] सूत्रो से ले लेना चाहिये ।

व्याख्या—इस व्याकरण के प्रथम कर्त्ता महामुनि पाणिनि है। इन्हो ने 'अष्टाध्यायी' नामक जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थ रचा है। इस ग्रन्थमे आठ अध्याय और प्रत्येक अध्याय मे चार २ पाद है। अर्थात् सब मिला बत्तीस पाद अष्टाध्यायी मे है। हर एक पाद में भिन्न भिन्न सङ्ख्याओ मे सूत्र है। इन सब की तालिका निम्न-प्रकार से समझनी चाहिये* ।

अध्याय नाम	प्रथमपादे	द्वितीयपादे	तृतीयपादे	चतुर्थपादे	सम्पूर्ण सङ्ख्या
प्रथमाध्याये	७४	७३	९३	१०९	३४९
द्वितीयाध्याये	७१	३८	७३	८५	२६७
तृतीयाध्याये	१५०	१८८	१७६	११७	६३१
चतुर्थाध्याये	१७६	१४४	१६५	१४४	६२९
पञ्चमाध्याये	१३५	१४०	११९	१६०	५५४
षष्ठाध्याये	२१८	१९९	१३८	१७५	७३०
सप्तमाध्याये	१०३	११८	१२०	९७	४३८
अष्टमाध्याये	७४	१०८	११७	६८	३६७
समग्र अष्टाध्यायी की सूत्र सङ्ख्या—					३९६५

प्राचीन काल मे यह सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ की जाती थी। + तदनन्तर व्याकरण पढ़ा जाता था। तभी तो काशिकाकार जयादित्य, पदमञ्जरीकार हरदत्त, शेखरकार

*अष्टाध्यायीसूत्र सङ्ख्याविषयक एक निबन्ध हमने बड़े परिश्रम से लिखा है, वह इस ग्रन्थ के अन्त में जोड़ दिया गया है। प्रत्येकअध्याय और प्रत्येक पाद की सूत्रसङ्ख्या का विस्तृत विचार वहीं देखें।

+ देखो "इत्सिङ्ग की भारत यात्रा" चौंतीसवा परिच्छेद ।

नागेशभट्ट सरीखे विद्वान् उत्पन्न होते थे। परन्तु अब इस परिपाटी के मन्द हो जाने से वैसे विद्वान् उत्पन्न नही होते। अब भी यदि इस परिपाटी का पुनरुद्धार होजावे तो पुन वैसे विद्वान् निकलने लग पडे गे। 'कर्त्तव्योऽत्र यत्न'।

इस ग्रन्थमे अष्टाध्यायी के सूत्र बिखरे हुए है। उन सूत्रो के आगे तीन अङ्क लिखे है। इन मे से पहला अष्टाध्यायी के अध्याय का सूचक, दूसरा पादसूचक तथा तीसरा सूत्र-सूचक समझना चाहिये। यथा—हलन्त्यम्। १। ३। ३॥ यहा '१' से तात्पर्य प्रथमाध्याय, '३' से तात्पर्य तृतीयपाद और अन्तिम '३' से तात्पर्य तीसरे सूत्र से है। तो इसप्रकार यह सूत्र प्रथमाध्याय के तृतीय पाद का तीसरा है ऐसा ज्ञान होता है। एवम् आगे भी सर्वत्र समझ लेना। पाणिनि के सूत्रपाठ के अर्थ करने का विचित्र ढग है। कई पदो का सूत्रो मे नामो-निशान नही होता परन्तु अर्थ करते समय वे आ जाया करते हैं। अत सूत्रो के अर्थ करने के ढग पर कुछ थोडा विचार करते है।

१—सब से प्रथम सूत्रों का पदच्छेद करना चाहिये जैसे—हलन्त्यम्। १। ३। ३॥ हल। अन्त्यम्। आदिरन्त्येन सहेता। १। १। ७०॥ आदि। अन्त्येन। सह। इता। इको यणचि। ६। १। ७६॥ इक। यण्। अचि। अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय। १। १। ६८॥ अण्। उदित्। सवर्णस्य। च। अप्रत्यय। कई स्थानो पर पिछले सूत्रों से तथा कही २ ('।') अग्रिम सूत्रों से भी* पद ले लिये जाते हैं। महामुनि पाणिनि ने यद्यपि इनकी इस स्वरित के चिह्न से व्यवस्था की थी, परन्तु अब वह व्यवस्था बिगड गई है। अब तो गुरु-परम्परा से जो जो पद पीछे से या आगे से लिया जाता है लिया जाना चाहिये। इसमे अपनी ओर से कोई गडबड नही करनी चाहिये। यथा—हलन्त्यम्। यहा पिछले 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से 'उपदेशे' और 'इत' ये दो पद आते हैं। इन पदो को भी पदच्छेद में लिखना चाहिये और कोष्ठ में बता देना चाहिये कि ये पद कहा से आते हैं+। यथा—उपदेशे। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत' सूत्र से]। हल्। अन्त्यम्। इत्। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से]।

(२) पदच्छेद के बाद उन पदो की विभक्तिया जाननी चाहिये। यथा—हलन्त्यम्। उपदेशे। ७। १। अन्त्यम्। १। १। हल्। १। १। इत्। १।१। [यहा पहले अङ्क से

*यथा 'ईश से' (७।२।७७) सूत्र में अगले सूत्रसे 'ध्वे' पद लाया जाता है।

+इस अनुवृत्ति का व्यवहार लोक में भी देखा जाता है, जैसे किसी ने कहा 'भरत को चार आम दो' राम को तीन'। अब यहा 'राम को तीन' यह वाक्य अपूर्ण है, इसकी पूर्णता 'आम दो' इतने पद मिलाकर 'राम को तीन आम दो' इस प्रकार हो जाती है, तो यहाँ 'आम दो' इन दो पदों की अनुवृत्ति समझनी चाहिए। इस प्रकार इसका लोक में सर्वत्र अतीव प्रयोग देखा जाता है।

विभक्ति तथा दूसरे अङ्क से वचन समझना चाहिए।] आदिरन्त्येन सहेता। आदि।१।१। अन्त्येन।३।१। सह इत्यव्ययपदम्। इता।३।१। इको यणचि। इक।६।१। यण्।१।१। अचि।७।१। अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः। अण्।१।१। उदित्।१।१। सवर्णस्य।६।१। च= इत्यव्ययपदम्। अप्रत्यय।१।१। स्मरण रहे कि कई स्थानों पर विभक्ति का लुक् तथा अन्य विभक्ति के स्थान पर अन्य विभक्ति भी लगी रहती है। इसे सूत्रकार की गलती नहीं समझो जाती क्योंकि 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' अर्थात् सूत्र वेद की नाईं होते हैं। जैसे वेद में विभक्ति का लुक् तथा अन्य विभक्ति के स्थान पर अन्य विभक्ति* लगी रहती है, वैसे सूत्रों में भी होता है। विभक्ति का लुक् यथा— 'न लोप प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) यहां 'न' और 'प्रातिपदिक' शब्दों से परे षष्ठी-विभक्ति का लुक् हुआ२ है। अन्यविभक्ति के स्थान पर अन्य विभक्ति लगे रहने के उदाहरण आगे यत्र तत्र बहुत आएंगे।

(३) पदच्छेद और विभक्ति जानने के पश्चात समास जानना चाहिए। समास कहीं होता है और कहीं नहीं भी होता। यथा 'तस्य लोप' (३) इस सूत्र में कोई समास नहीं। 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (१०) इत्यादि सूत्रों में समास है। आवश्यक तद्धितादि का समावेश भी हमने समास में कर दिया है। अर्थात् समास के जानने के साथ२ आवश्यक तद्धित आदि प्रत्यय भी जान लेने चाहिये।

(४) इतना जान लेने के पश्चात् महामुनि पाणिनि के अर्थ करने के नियमों का ध्यान रख कर सूत्र का अर्थ करना चाहिये। पाणिनि के वे नियम प्रायः ये हैं—

१ षष्ठी स्थानेयोगा।१।१।४८॥
२ तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य।१।१।६५॥
३ तस्मादित्युत्तरस्य।१।१।६६॥
४ अलोऽन्त्यस्य।१।१।५१॥
५ आदे परस्य।१।१।५३॥
६ इको गुणवृद्धी।१।१।३॥
७ अचश्च।१।२।२८॥
८ येन विधिस्तदन्तस्य।१।१।७१॥
९ यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे [वा०] इत्यादि।

इन सब को हम यथा-स्थान स्पष्ट करेंगे।

---

* यह समाधान सब करते आये हैं। पर यह किसीने नहीं लिखा कि सारे वाङ्मय को नियन्त्रित करने वाले भगवान् पाणिनि क्यों अपने बनाये नियमों की आपही अवहेलना करते हैं ? । यह विषय पर्याप्त गवेषणा का है। आशा है विद्वज्जन इस ओर ध्यान देंगे।

पीछे 'एषामन्त्या इत' कह के ण् क् आदियो को 'इत्' कह आये है। अब वह सूत्रों से सिद्ध करते है। 'हलन्त्यम्'। उपदेशे। ७। १॥ ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से] हल्। १। १॥ अन्त्यम्। १। १॥ इत्। १। १॥ ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से] अर्थ—[उपदेशे] उपदेश मे विद्यमान [अन्त्यम्] अन्तिम [हल्] हल् व्यञ्जन [इत्] इत्सञ्ज्ञक होता है। यदि उपदेश मे कही हमे अन्त्य हल् मिलेगा तो वह इत्सञ्ज्ञक होगा। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि उपदेश क्या है? इसका उत्तर ग्रन्थकार यह देते है कि 'उपदेश आद्योच्चारणम्' आद्योच्चारण उपदेश होता है। इस आद्योच्चारण शब्द पर शेखरादि व्याकरण के उच्च ग्रन्थो मे बहुत विवाद है। हम उस विवाद के निकट नही जाते, क्योकि वह प्रपञ्च बालको की समझ मे नही आ सकता। यहा सरल मार्ग यह है कि यहा षष्ठीतत्पुरुषसमास है—आद्यानाम् उच्चारणम्=आद्योच्चारणम्। जो आद्यो अर्थात् शिव, पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि का उच्चारण है, उसे 'उपदेश' कहते हैं। भाष्यकार ने सब स्थल नियत कर दिये है, उनका कथन है कि प्रत्याहार-सूत्र,* धातुपाठ, गणपाठ, प्रत्यय, आगम और आदेश ये सब उपदेश हैं। इनमें अन्त्य हल् इत्सञ्ज्ञक होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२ अदर्शनं लोपः।१।१।५९॥

प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसञ्ज्ञं स्यात्।

अर्थः—विद्यमान का अदर्शन लोप सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—स्थानस्य। ६। १। ['स्थानेऽन्तरतम' सूत्र से 'स्थाने पद आकर विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है।] अदर्शनम्। १। १। लोप। १। १। अर्थ—[स्थानस्य] विद्यमान का [अदर्शनम्] न सुनाई देना [लोप.] लोप होता है। यहाँ अदर्शन सञ्ज्ञी तथा लोप सञ्ज्ञा है। हमने 'अदर्शन' का अर्थ 'न सुनाई देना' किया है। इसका यह कारण है कि यह 'शब्दानुशासन' अर्थात् शब्द-शास्त्र है। इसमे शब्दो के साधु [ठीक] असाधु [गलत] होने का विवेचन है। शब्द कान से सुने जाते हैं, आँख से देखे नही जाते अत यहाँ पर 'अदर्शन' का अर्थ 'न दिखाई देना' की अपेक्षा 'न सुनाई देना' ही युक्त है। ऐसा अर्थ करने पर 'दृश्' धातु को ज्ञानार्थक मानना

---

१ प्रत्याहारसूत्र यथा—'अइउण्' आदि। धातुपाठ यथा—डुपचष् पाके' आदि। गणपाठ यथा—नदट्, देवट्, आदि। प्रत्यय यथा—तृच्, तृन्, तसिल्, आदि। आगम यथा—कुक्, डुक्, इट्, आदि। आदेश यथा—'अर्वणस्त्रसावनञ' (२९२) द्वारा 'तृ' आदेश इत्यादि।

*'प्रत्यया शिवसूत्राणि, आदेशाआगमास्तथा।
धातुपाठो गणपाठ, उपदेशा. प्रकीर्त्तिता"॥

चाहिये। ज्ञान—आंख, कान, नाक आदि सब से हो सकता है। 'शब्दानुशासन' का अधिकार होने से हम यहा ज्ञान कान-विषयक ही मानेगे। यहा 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) से स्थान शब्द लाने का तात्पर्य यह है कि विद्यमान का अदर्शन ही लोप सञ्ज्ञक हो, अविद्यमान का अदर्शन लोपसञ्ज्ञक न हो। यथा—'दधि, मधु' यहाँ 'क्विप्' प्रत्यय कभी नहीं हुआ अत उसका अदर्शन है। यदि पीछे से स्थान शब्द न लावे तो यहा क्विप् प्रत्यय का अदर्शन होने से प्रत्ययलक्षणद्वारा 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (७७७) से तुक् प्राप्त होगा जोकि अनिष्ट है, अत 'स्थान' शब्द की अनुवृत्ति कर विद्यमान के अदर्शन की ही लोपसञ्ज्ञा करनी युक्त है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३ तस्य लोपः ।१।३।९॥

तस्येतो लोपः स्यात्। णादयोऽणाद्यर्थाः॥

अर्थः—उस इत्सञ्ज्ञक का लोप होता है। ण् आदि 'अण्' आदियों के लिये हैं।

व्याख्या—तस्य ।६।१। इत ।६।१। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से प्रथमान्त 'इत्' पद आकर विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है]। लोप ।१।१। अर्थ—[तस्य] उस [इत] इत्सञ्ज्ञक का [लोप] लोप होता है। अब यहा यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि इस सूत्र मे 'तस्य' पद न लेते तो भी अर्थ मे कोई हानि नही हो सकती थी, क्योकि 'इत' पद की अनुवृत्ति तो आ ही रही है। इस का समाधान यह है कि यदि 'तस्य' पद ग्रहण न करते तो इत्सञ्ज्ञक के अन्त्य वर्ण का लोप होता, सम्पूर्ण इत्सञ्ज्ञक का लोप न होता। तथाहि—'ञिमिदा स्नेहने, टुनदि समृद्धौ, डुकृञ् करणे' यहाँ 'आदिर्ञिटुडव' (४६२) सूत्र द्वारा ञि, टु, डु, की इत्सञ्ज्ञा होकर लोप प्राप्त होने पर 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र द्वारा अन्त्य इकार, उकार का लोप होता है जो कि अनिष्ट है। अब यदि सूत्र मे 'तस्य' पद ग्रहण करते हैं तो यह दोष नहीं आता क्योकि आचार्य का 'तस्य' यह कहना जतलाता है कि आचार्य सारे का लोप चाहते हैं केवल अन्त्य का नही।

अब इस सूत्र से ण्, क्, ङ्, च्, आदि इतों का लोप प्राप्त होता है। इस पर कहते हैं कि इनका लोप नही करना, क्योकि इनसे अण् आदि प्रत्याहार बनाये जायेंगे। यदि इनका लोप करना होता तो इनका ग्रहण किस लिये करते? अत इनका लोप नहीं करना चाहिये।

अब इत्सञ्ज्ञको से प्रत्याहार बनाने के लिये अग्रिम सूत्र लिखते है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—४ आदिरन्त्येन सहेता ।१।१।७०॥

अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च सञ्ज्ञा स्यात्।

यथाण् इति 'अइउ' वर्णानां सञ्ज्ञा । एवमक्, अच्, हल्, अल् इत्यादयः ।

अर्थः—अन्त्य इत् से युक्त आदिवर्ण, मध्यगत वर्णों की तथा अपनी सञ्ज्ञा हो । जैसे 'अण्' यह 'अ इ उ' वर्णों की सञ्ज्ञा है । इसी प्रकार अक्, अच्, हल्, अल् आदि भी जान लेने चाहिये ।

व्याख्या—आदि ।१।१। अन्त्येन ।३।१। सह=इत्यव्ययपदम् । इता ।३।१। स्वस्य ।६।१। ["स्व रूप शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा' से । 'स्वम्' यह प्रथमान्त पद आकर विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है ।] यह सूत्र सञ्ज्ञाधिकार के बीच पढा जाने से सञ्ज्ञासूत्र है । यहा 'अन्त्येनेता सहादि' अर्थात् 'अन्त्य इत् से युक्त आदि' यह सञ्ज्ञा है । अब सञ्ज्ञी का निर्णय करना है कि सञ्ज्ञी कौन हो ? क्योकि सूत्र मे तो किसी का निर्देश ही नही । आदि और अन्त्य अवयव शब्द है । अवयवों से अवयवी लाया जाता है । अत यहा अवयवी ही सञ्ज्ञी होगा । उस अवयवी [समुदाय] से आदि और अन्त्य सञ्ज्ञा होने के कारण निकल जायेंगे । शेष मध्यगत वर्ण ही सञ्ज्ञी ठहरेंगे । पुन 'स्वस्य' पद की अनुवृत्ति आकर आदि भी सञ्ज्ञी हो जाएगा । इस प्रकार आदि तथा मध्यगत वर्ण सञ्ज्ञी बनेंगे । तो अब इस सूत्र का अर्थ यह हुआ— अर्थ—[अन्त्येन] अन्त्य [इता] इत् से [सह] युक्त [आदि] आदि वर्ण [स्वस्य] अपनी तथा मध्यगत वर्णों की सञ्ज्ञा होता है । यहा हमने 'स्वस्य' पद से आदि का ग्रहण किया है, पर कोई पूछ सकता है कि 'स्वस्य' पद से अन्त्य का ग्रहण कर 'अन्त्य इत् से युक्त आदि अन्त्य तथा मध्यगत वर्णों की सञ्ज्ञा हो' ऐसा अर्थ क्यो न किया जाय ? इसका उत्तर यह है कि 'स्व' यह सर्वनाम है । सर्वनाम प्रधान का ही निर्देश कराने वाले होते है, अप्रधान का नही । 'अन्त्येनेता सहादि' यहां प्रधान आदि है, अन्त्य नहीं । क्योंकि 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (२।३।१९) से अप्रधान मे ही तृतीया होती है, अत 'स्व' यह सर्वनाम प्रधान=आदि का ही ग्रहण करायेगा, अप्रधान अन्त्य का नहीं ।

'अइउण्' यहा अन्त्य इत्=ण् है । आदि 'अ' है । अत अन्त्य इत् से युक्त आदि 'अण्' हुआ । यह सञ्ज्ञा है । 'इ उ' मध्यगत तथा 'अ' आदि ये तीन सञ्ज्ञी हैं । इसी प्रकार अच्, अक्, हल्, अल् आदि भी जानने चाहियें । इन अण् आदि सञ्ज्ञाओं को पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्य 'प्रत्याहार' कहते चले आ रहे हैं । यहां इस शास्त्र में भी इनके लिये प्रत्याहार शब्द व्यवहृत होता है ।

यहा अन्त्य और आदि 'अ इ उण्' आदि सूत्रों की अपेक्षा से नहीं लेने, किन्तु मन मे रखे समुदाय की अपेक्षा से लेने हैं । यथा—'इउण् ऋलृक्' इस समुदाय का आदि 'इ'

और अन्त्य 'क्' है। अन्त्य युक्त आदि=इक् सञ्ज्ञा होगा। 'रट्ल' यहा 'उपदेशेऽजनुनासिक इत' (२८) से लकारस्थ अकार इत् है। समुदाय का आदि 'र्' है। अन्त्य अँ है। अन्त्य युक्त आदि र्+अँ='रँ' यह सञ्ज्ञा होगा। इस सञ्ज्ञा के 'र' और 'ल्' दो ही सञ्ज्ञी हैं।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अण् आदि प्रत्याहारो मे आदि और मध्यगत वर्ण सञ्ज्ञी होते है तो इक् प्रत्याहार मे 'क्' भले ही न आये, पर ण् तो आना चाहिये, क्योंकि वह मध्यगत वर्ण है। इसका उत्तर यह है कि आचार्य पाणिनि की शैली से यह प्रतीत होता है कि मध्यगत वर्ण यदि इत्सञ्ज्ञक होगे तो उनका प्रत्याहारो के सञ्ज्ञियो मे ग्रहण न होगा। तथाहि—यदि वे सञ्ज्ञी होते तो 'अच्' प्रत्याहार मे 'क्' का भी ग्रहण होता क्योकि यह मध्यवर्ण है। 'क्' के ग्रहण होने से 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) इस सूत्र के 'अनुनासिक' इस पद मे 'क्' इस अच् के परे होने पर सकारस्थ इकार को 'इको यणचि' (१५) मे यण् तथा यण् का 'लोपो व्योर्वलि' (४२१) से लोप होकर 'अनुनास्क' हुआ होता, पर आचार्य पाणिनि ने ऐसा नही किया। इससे यह विदित होता है कि इत्सञ्ज्ञक मध्यवर्त्ती होने पर भी सञ्ज्ञी नही होते।

'अइउण्' आदि चौदह सूत्रो से यद्यपि अनेक प्रत्याहार बन सकते हैं तथापि इस व्याकरण शास्त्र मे जिनका व्यवहार किया गया है उनकी सङ्ख्या चवालीस (४४) है। कई लोग 'रँ' प्रत्याहार को नही मानते उनके मत मे तेतालीस (४३) प्रत्याहार होते हैं। इनमें से बयालीस ('रँ' प्रत्याहार मानने वालों के मत मे इक्तालीस ४१) प्रत्याहार तो मुनिवर पाणिनि ने स्वय सूत्रो में व्यवहृत किये हैं। शेष दो में से एक 'ञम्' उणादि सूत्रों का तथा दूसरा 'चय्' वार्त्तिक-पाठ का है। हम इन प्रत्याहारो के लिखने से पूर्व यह बता देना आवश्यक समझते है कि प्रत्याहारगत वर्णों के जानने का सुगम उपाय क्या है? प्रत्याहार-गत वर्णों के जानने का सुगम उपाय यह है कि निम्नलिखित बातों को अच्छी तरह से बुद्धि मे बिठा लिया जाए।

(क) वर्गों के पाञ्चवे 'ञमङणनम्' सूत्र में हैं।

(ख) वर्गों के चौथे 'झभञ्, घढधष्' सूत्रो में है।

(ग) वर्गों के तीसरे 'जबगडदश्' सूत्र मे हैं।

(घ) वर्गों के दूसरे वर्ण 'खफछठथ' तक हैं।

(ङ) वर्गों के प्रथम वर्ण 'चटतव्, कपय्' सूत्रों मे हैं।

(च) ऊष्मवर्ण 'शषसर्, हल्' सूत्रो में हैं।

(छ) अन्त स्थवर्ण 'यवरट्, लँण्' सूत्रो में हैं।

(ज) स्वरवर्ण 'अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्, सूत्रों मे ।

इसके अतिरिक्त जिन सूत्रों के बीच से कटाव हो कर प्रत्याहार बनते है उन सूत्रों के स्थान भी याद रखने योग्य हैं। वे स्थान निम्नलिखित है—

अइउण् । यहाँ 'इ' से कटाव होकर इक्, इच् तथा 'उ' से कटाव हो कर उक् प्रत्याहार बनता है।

हयवरट् । यहा 'य' से कटाव हो कर यण्, यञ्, यम्, यय्, यर् प्रत्याहार 'व' से कटाव होकर वल् प्रत्याहार तथा 'र्' से कटाव हो कर र प्रत्याहार बनता है।

ञमङणनम् यहा 'म' से कटाव होकर मय् तथा 'ङ' से कटाव होकर ङम् प्रत्याहार बनता है।

झभञ् । यहा 'भ' से कटाव होकर भष् प्रत्याहार बनता है।

जबगडदश् । यहा 'ब' से कटाव होकर बश् प्रत्याहार बनता है।

खफछठथचटतव् यहा 'छ' से कटाव होकर छव् प्रत्याहार बनता है।

इस व्याकरण मे व्यवहृत होने वाले प्रत्याहारों का निम्न के दो श्लोकों मे सङ्ग्रह यथा—

ङणटञ्वात् स्मृतो ह्येकः, चत्वारश्च चमान्मताः ।
शलाभ्यां षड् यरात्पञ्च, षाद्द्वौ च कणतस्त्रयः । १ ॥
केषाञ्चिच्च मते रोऽपि, प्रत्याहारोऽपरो मतः ।
लस्थावर्णान् वाञ्छन्त्य—नुनासिकबलादिह । २ ॥

प्रत्याहार	सञ्ज्ञी—वर्ण	उदाहरण
१ अण्	अ, इ, उ ।	उरण्रपर [२९]
२ अक	अ, इ, उ, ऋ, लृ ।	अक सवर्णे दीर्घ [४२]
३ इक्	इ, उ, ऋ, लृ ।	इको यणचि [१५]
४ उक्	उ, ऋ, लृ ।	उगितश्च [१२४६]
५ एङ्	ए, ओ ।	एङ पदान्तादति [४३]
६ अच्	सम्पूर्ण स्वर	इको यण् अचि [१५]
७ इच्	'अ' को छोड कर सब स्वर ।	नाद् इचि [१२७]
८ एच्	ए, ओ, ऐ, औ ।	एचोऽयवायाव [२२]
९ ऐच्	ऐ, औ ।	वृद्धिराद् ऐच् [३२]
१० अट्	स्वर, ह, य, व, र ।	अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि [१३८]

११	अण्	स्वर, ह, अन्त स्थ ।	अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय [११]
१२	इण्	'अ' को छोड स्वर, ह, अन्त स्थ ।	इण षीध्वलुङ्लिटा धोङ्गात् [५१४]
१३	यण्	अन्त स्थ ।	इको यण् अचि [१५]
१४	अम्	स्वर, ह, अन्त स्थ, वर्गपञ्चम।	पुम खयि+अम्परे [६४]
१५	यम्	अन्त स्थ, वर्गपञ्चम ।	हलो यमा यमि लोप । [६६७]
१६	ञम्	वर्गपञ्चम ।	ञमन्ताड्ड ।[उणा० १११]
१७	ङम्	ङ, ण, न ।	ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् [८६]
१८	यञ्	अन्त स्थ, वर्गपञ्चम, झ, भ ।	अतो दीर्घो यञि [३६०]
१९	झष्	वर्ग-चतुर्थ ।	एकाचो बशो भष झषन्तस्य स्ध्वो [२५३]
२०	भष्	'झ' को छोड वर्ग-चतुर्थ ।	एकाचो बशो भष्० [२५३]
२१	अश्	स्वर, ह, अन्त स्थ, वर्गों के ५,४,३।	भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि [१०८]
२२	हश्	ह, अन्त स्थ, वर्गों के ५,४,३ ।	हशि च [१०७]
२३	वश्	व, र, ल, वर्गों के ५,४,३ ।	नेड्वशि कृति [८००]
२४	जश्	वर्ग-तृतीय ।	झला जशोऽन्ते [६७]
२५	झश्	वर्गों के चतुर्थ, तृतीय ।	झला जश् झशि [१९]
२६	बश्	ब, ग, ,ड, द ।	एकाचो बशो भष्० [२५३]
२७	छव्	छ, ठ, थ, च, ट, त ।	नश्छवि+अप्रशान् [९५]
२८	यय्	अन्त स्थ, सब वर्ग ।	अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण [८६]
२९	मय्	'ञ' को छोड कर सब वर्ग ।	मय उञो वो वा [५८]
३०	झय्	वर्गों के ४र्थ, ३य, २य, प्रथम ।	झयो होऽन्यतरस्याम् [७५]
३१	खय्	वर्गों के प्रथम द्वितीय ।	पुम खयि+अम्परे [६४]
३२	चय्	वर्गों के प्रथम वर्ण ।	चयो द्वितीया शरि पौष्कर-सादेरिति वाच्यम् [वा० १४]
३३	यर्	अन्त स्थ, वर्ग, श, ष, स ।	यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा [६८]
३४	झर्	वर्गों के ४, ३, २, १, श, ष, स ।	झरो झरि सवर्णे [७३]
३५	खर्	वर्गों के १, २, श, ष, स ।	खरि च [७४]
३६	चर्	वर्गों के १, श, ष, स ।	अभ्यासे चर् च [३९९]
३७	शर्	श, ष, स ।	ङ्णो कुक्टुक् शरि [८६)
३८	अल्	सब स्वर, सब व्यञ्जन ।	अलोऽन्त्यस्य (२१)
३९	हल्	सब व्यञ्जन ।	हलोऽनन्तरा सयोग (१३)

४० वल्	'य' को छोड सब व्यञ्जन ।	लोपो व्योर्वलि (४२१)
४१ रल	'य' 'व' छोड सब व्यञ्जन ।	रलो व्युपधाद्धलादेः सश्च (८८१)
४२ झल्	वर्गों के ४, ३, २, १, ऊष्म ।	झलो झलि (४७८)
४३ शल्	ऊष्म वर्ण ।	शल इगुपधादनिटः क्सः (५१०)
४४ र	र, ल ।	उरण् र-पर (२९) इसे कई वैयाकरण स्वीकार नही करते हैं ।

अब व्याकरण-शास्त्र मे महोपकारक वक्ष्यमाण सवर्णसञ्ज्ञा और सवर्णग्राहक के उपयोगी अच् के अठारह भेद सिद्ध करते है ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—५ ऊकालोऽज्झ्रस्व-दीर्घ-प्लुतः ।१।२।२७॥

उश्च ऊश्च ऊ३श्च=वः । वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ध्रस्व-दीर्घ-प्लुतसञ्ज्ञः स्यात् । स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा ॥

अर्थः—एकमात्रिक, द्विमात्रिक तथा त्रिमात्रिक उकार के उच्चारणकाल के सदृश जिस अच् का उच्चारणकाल हो, वह अच् क्रमश ह्रस्व, दीर्घ-प्लुत सञ्ज्ञक होता है। उस अच के तीनों भेदो मे हर एक के पुन उदात्त आदि तीन २ भेद होते है ।

व्याख्या—ऊकाल ।१।१। अच् ।१।१। ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत ।१।१। समास—उश्च ऊश्च ऊ३श्च=व । इतरेतरद्वन्द्व । व कालो यस्य स =ऊकाल । बहुव्रीहि-समास । (एकमात्रिक उकार, द्विमात्रिक उकार तथा त्रिमात्रिक उकार का द्वन्द्व करने से 'जस्' विभक्ति मे 'व ' रूप निष्पन्न होता है । यहा सब उकार लक्षणाशक्ति से अपने२ उच्चारण-काल के सदृश अर्थ वाले हैं ।) ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च=ह्रस्वदीर्घप्लुत । इतरेतरद्वन्द्व । (यहा इतरेतरद्वन्द्व होने से यद्यपि बहुवचन होना चाहिये था तथापि सौत्र होने के कारण एकवचन होगया है ।) अर्थ —(ऊकाल) एकमात्रिक उकार के सदृश उच्चारणकाल वाला, द्विमात्रिक उकार के सदृश उच्चारणकाल वाला तथा त्रिमात्रिक उकार के सदृश उच्चारणकाल वाला (अच्) अच्, क्रमश. (ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत) ह्रस्व दीर्घ तथा प्लुत सञ्ज्ञक होता है । भाव—यदि एकमात्रिक* उकार के उच्चारणकाल के समान किसी अच् का उच्चारण-काल

* कई लोग—जितनी देर में आँख झपकती है उसे 'मात्रा' कहते हैं । कुछ लोग—जितनी देर में बिजली चमकती है उसे 'मात्रा' कहते हैं । अन्य लोग—जितनी देर में झरोखे के बीच कण दिखाई देता है उसे 'मात्रा' कहते हैं ।इतर लोग—चाष=नीलकण्ठ पक्षी जितनी देर में बोलता है उसे 'मात्रा'

होगा तो वह ह्रस्व, यदि द्विमात्रिक उकार के उच्चारण-काल के समान किसी अच् का उच्चारण काल होगा तो वह दीर्घ और यदि त्रिमात्रिक उकार के उच्चारणकाल के समान अच् का उच्चारण-काल होगा तो वह प्लुत सञ्ज्ञक होगा।

कुक्कुट के 'कु कू कू३' शब्द मे क्रमश ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत उकार का उच्चारण स्पष्ट प्रतीत होता है अत यहा दृष्टान्त के लिये उकार को उपयुक्त समझा गया है वरन् 'आकाल' आदि भी कहा जा सकता था।

इस प्रकार अचो के ह्रस्व, दीर्घ, और प्लुत ये तीन २ भेद हो जाते है। (ध्यान रहे कि यहा सामान्यत कथन किया गया है, सब अचो के तीन २ भेद नही होते हैं, पर हा यह तीनो भेद अचो के ही होते है अन्य वर्णों के नहीं) अब अग्रिम तीन सूत्रों से प्रत्येक के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन २ भेद कहे जाते है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—६ उच्चैरुदात्तः।१।२।२६॥

[ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसञ्ज्ञः स्यात्]

सञ्ज्ञा-सूत्रम्—७ नीचैरनुदात्तः।१।२।३०॥

[ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्त-सञ्ज्ञः स्यात्।]

अर्थः—भागो वाले तालु आदि स्थानो मे जो अच ऊपरले भाग मे बोला जाय वह 'उदात्त' होता है॥ ६॥

भागो वाले तालु आदि स्थानो मे जो अच निचले भाग मे बोला जाय वह 'अनुदात्त' होता है॥ ७॥

व्याख्या—'उच्चै' इत्यव्ययपदम्। उदात्त।१।१। अच्।१।१। ('ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुत' सूत्र से)॥६॥ 'नीचै' इत्यव्ययपदम्। अनुदात्त १।१। अच्।१।१। ('ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुत' सूत्र से)॥७॥ 'उच्चैस्' शब्द का अर्थ ऊँचा तथा 'नीचैस्' शब्द का अर्थ नीचा है। भाष्य के प्रमाणानुसार वर्णों का अपने २ स्थानों में ही ऊँचा व नीचापन समझना चाहिये। यदि स्थान अखण्ड हो अर्थात् उनके भाग न हो सकते हो तो ऊँचा नीचापन नहीं बन सकता। अत स्थानो के दो भाग मानने पडेंगे एक ऊँचा भाग दूसरा नीचा भाग। वृत्ति मे इसीलिये 'सभाग' शब्द लिखा गया है। अर्थ—(उच्चै) अपने स्थान के ऊपर वाले भाग मे

–मानते हैं। ये सब प्राचीन शिक्षाकार आचार्यों के मत है। परन्तु आजकल एक सैकेण्ड के समय को मात्रा समय मानना सरल प्रतीत होता है। ह्रस्व के बोलने में एक सैकेण्ड, दीर्घ के बोलने मे दो सैकेण्ड तथा प्लुत के बोलने में तीन सैकेण्ड का समय लगाना चाहिए।

उच्चार्यमाण (अच्) अच् (उदात्त) उदात्तसञ्ज्ञक होता है ॥ ६ ॥ (नीचैः) अपने स्थान के नीचे वाले भाग मे उच्चार्यमाण (अच्) अच् (अनुदात्त) अनुदात्तसञ्ज्ञक होता है ॥ ७ ॥ यथा अकार का 'कण्ठ' स्थान है। यदि अकार कण्ठ मे उपरले भाग से बोला जायगा तो उदात्त, यदि निचले भाग मे बोला जायगा तो अनुदात्त सञ्ज्ञक होगा। इसी प्रकार इकार यदि अपने तालुस्थान के उपरले भाग मे बोला जायगा तो उदात्त, यदि निचले भाग से बोला जायगा तो अनुदात्त सञ्ज्ञक होगा। एवम् आगे उकार आदियो के विषय मे भी जान लेना चाहिये।

कुछ लोग 'जो ऊची स्वर से बोला जाय वह उदात्त होता है' ऐसा अनर्थ किया करते है। उनके अनर्गल-प्रलाप से सावधान रहना चाहिये, क्योकि तब मानसिक जप मे उदात्तत्व न माना जा सकेगा, पर यह अनिष्ट है।

नोट—इन सूत्रो की वृत्ति 'लघुकौमुदी' मे नही दी गई। हमने सुगमता के लिये 'सिद्धान्तकौमुदी' से ले कर कोष्ठ मे दे दी है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—८ समाहारः स्वरितः । १ । २ । ३१ ॥

उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसञ्ज्ञः स्यात् । स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा ।

अर्थः—उदात्त और अनुदात्त वर्णों के धर्म जो उदात्तत्व और अनुदात्तत्व ये दोनो जिस अच् मे विद्यमान हो वह अच् 'स्वरित' सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—उदात्तस्य ।६।१। अनुदात्तस्य ('उच्चैरुदात्त' से 'उदात्त तथा 'नीचै-रनुदात्त' से 'अनुदात्त' पद का अनुवर्त्तन होता है। इन दोनो का यहा षष्ठी-विभक्ति म विपरिणाम हो जाता है। ये दोनो पद भाष्य के प्रमाणानुसार धर्मप्रधान है, अर्थात् इनका अर्थ उदात्तत्व और अनुदात्तत्व है।) समाहार ।१।१। (समाहरणम्=समाहार., भावे घञ्। समाहारोऽस्त्यस्मिन्निति समाहार, 'अर्श आदिभ्योऽच' [११९१] इति मत्वर्थीयोऽच-प्रत्यय।) स्वरित ।१।१। अर्थ—(उदात्तस्य=उदात्तत्वस्य) उदात्तपने (अनुदात्तस्य= अनुदात्तत्वस्य) और अनुदात्तपने के (समाहार) मेल वाला (अच) अच (स्वरित) स्वरितसञ्ज्ञक होता है। पूर्व-सूत्रो मे स्थानों के दो भाग कह आये है, एक ऊपर वाला भाग और दूसरा नीचे वाला भाग। जो अच् इन दोनों भागो से बोला जाए उसे 'स्वरित' कहते है। यथा अकार का 'कण्ठ' स्थान होता है, यदि अकार कण्ठ के उपरले और निचले दोनों भागो से बोला जायगा तो 'स्वरित' सञ्ज्ञक होगा। इसी प्रकार अपने २ स्थानों के दोनों भागों से बोले जाने वाले इकार आदि भी 'स्वरित' सञ्ज्ञक होंगे।

अब इस प्रकार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत प्रत्येक के उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित तीन २ भेद हो कर प्रत्येक अच् के नौ २ भेद हो जाते है। (ध्यान रहे कि यह सामान्यत कथन किया गया है,) क्योकि जिन अचो के ह्रस्व या दीर्घ नही होते, उनके तो छ २ भेद ही होते है।) ये नौ भेद निम्नलिखित है—

१ ह्रस्व	उदात्त	४ दीर्घ	उदात्त	७ प्लुत	उदात्त
२ "	अनुदात्त	५ "	अनुदात्त	८ "	अनुदात्त
३ "	स्वरित	६ "	स्वरित	९ "	स्वरित

इन नौ भेदो मे भी हर एक के पुन अनुनासिक तथा अननुनासिक धर्मों के कारण दो २ भेद होकर प्रत्येक अच् के अठारह २ भेद हो जाते है यह सब अग्रिम सूत्र मे प्रतिपादन किया गया है।

कोई समय था जब इन उदात्त आदि स्वरो का प्रयोग लोक मे भी किया जाता था, पर अब इन का प्रचार लोक से सर्वथा नष्ट हो गया है। ये प्राय वेद मे ही प्रयुक्त होते है। वेद मे इनका सङ्केत चिह्नो द्वारा किया जाता है। उदात्त के लिये कोई चिह्न नही होता, अनुदात्त के नीचे पडी रेखा तथा स्वरित के ऊपर खडी रेखा का चिह्न होता है। यथा—

उदात्त— अ। इ। । इत्यादि।

अनुदात्त— अ̱। इ̱। उ̱। "।

स्वरित— अ॑। इ॑। उ॑। "।

सामवेद आदि मे अन्य प्रकार के भी चिह्न होते है जो वैदिक ग्रन्थों से जानने चाहिये।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—९ मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः। ।१।१।८॥

मुख-सहित-नासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसञ्ज्ञः स्यात्। ❀ तदित्थम्—अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः। लृ-वर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्।

❀अत्र "मुखसहितया नासिकया" इति व्यास एव न्याय्य। समासे तु शाकपार्थिवादित्वात् 'सहित' पदलोपप्राप्ति।

अर्थः—मुख सहित नासिका से बोला जाने वाला वर्ण 'अनुनासिक' सञ्ज्ञक होता है। इस प्रकार—'अ, इ, उ, ऋ' इन वर्णों मे प्रत्येक के अठारह २ भेद हो जाते हैं। 'लृ' वर्ण के—दीर्घ न होने से बारह भेद हो जाते है। एचों (ए, ओ, ऐ, औ) के भी—ह्रस्व न होने से बारह २ भेद होते है।

व्याख्या— मुख-नासिका-वचन ।१।१। अनुनासिक ।१।१। समास —मुखेन सहिता= मुख-सहिता, तृतीया-तत्पुरुष-समास, मुख-सहिता नासिका=मुखनासिका, 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम्' इति वार्तिकेन समास । उच्यत इति वचन (वर्ण इत्यर्थ), कर्मणि ल्युट । मुखनासिकया वचन =मुखनासिकावचन । तृतीया-तत्पुरुष-समास । अर्थ —(मुख-नासिका-वचन) मुख सहित नासिका से बोला जाने वाला वर्ण (अनुनासिक) 'अनुनासिक' सञ्ज्ञक होता है।

भाव यह है कि मुख से तो प्रत्येक वर्ण बोला ही जाता है, पर जो मुख और नासिका दोनो से बोला जाए वह अनुनासिक होता है। यथा ङ्, ञ्, ण्, न्, म् इत्यादि मुख और नासिका दोनो से बोले जाते है अत 'अनुनासिक' सञ्ज्ञक है। इसी प्रकार यदि अच् मुख और नासिका दोनो से बोला जाएगा तो 'अनुनासिक' होगा और यदि केवल मुख से ही बोला जायगा तो 'अननुनासिक (न अनुनासिक, जो अनुनासिक नहीं) होगा। इस प्रकार पीछे कहे नौ २ भेदो के अनुनासिक और अननुनासिक धर्म के कारण अठारह २ भेद हो जाते हैं।

अब अचो का सामान्यत भेदनिरूपण करके विशेषत निरूपण करते हैं।

'अ, इ, उ, ऋ' इन मे से प्रत्येक वर्ण के अठारह भेद होते है। 'लृ' वर्ण के बारह भेद होते है। इस का दीर्घ न होने से छ भेद कम हो जाते हैं। 'एच्' अर्थात् 'ए, ओ, ऐ, औ' वर्णों के भी बारह भेद होते है, क्योकि इनको ह्रस्व नही होता। ह्रस्व न होने से छ २ भेद कम हो जाते है। यह ध्यान रहे कि 'ए, ऐ' व 'ओ, औ' परस्पर ह्रस्व दीर्घ नहीं, किन्तु सब दीर्घ और भिन्न २ जाति वाले है। इन सब की तालिका यथा—

अ, इ, उ, ऋ, लृ	अ, इ, उ, ऋ, ए, ओ, ऐ, औ	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ
१ ह्रस्व उदात्त अनुनासिक	७ दीर्घ उदात्त अनुनासिक	१३ प्लुत उदात्त अनुनासिक
२ " " अननुनासिक	८ " " अननुनासिक	१४ " " अननुनासिक
३ " अनुदात्त अनुनासिक	९ " अनुदात्त अनुनासिक	१५ " अनुदात्त अनुनासिक
४ " " अननुनासिक	१० " " अननुनासिक	१६ " " अननुनासिक
५ " स्वरित अनुनासिक	११ " स्वरित अनुनासिक	१७ " स्वरित अनुनासिक
६ " " अननुनासिक	१२ " " अननुनासिक	१८ " " अननुनासिक

प्रकरण का सार:—

इस प्रकरण का सार यह है कि सजातीय (एक ही स्थान वाले) अचो मे परस्पर तीन प्रकार के भेद होते है। १ कालकृत भेद। २ स्थान भाग कृत भेद। ३ नासिकाकृत भेद।

'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुत' (४) सूत्र कालकृत भेद करता है। 'उच्चैरुदात्त, नीचैरनुदात्त, समाहार स्वरित' (६, ७, ८) ये सब स्थानभागकृत भेद करते हैं।

'मुखनासिकावचनोऽनुनासिक' (६) यह सूत्र नासिकाकृत भेद करता है। उदाहरण यथा—

अँ, अ, अँ, अ, अँ, अ।

आँ, आ, आँ, आ, आँ आ।

आँ३, आ३, आँ३, आ३, आँ३, आ३।

१ 'अँ' और 'अ' मे केवल नासिका कृत भेद है क्योंकि पहला अनुनासिक और दूसरा अननुनासिक है। दोनों एक मात्रिक हैं अत कालकृत भेद नहीं है दोनो उदात्त होने के कारण स्थान के उर्ध्वभाग मे निष्पन्न होते हैं अत स्थानभागकृत भेद भी नही है।

२ 'अ' और 'अँ' में नासिकाकृत तथा स्थान भागकृत दो प्रकार का भेद है। क्योंकि पहला अननुनासिक तथा कण्ठ स्थान के ऊर्ध्वभाग मे निष्पन्न होता है, दूसरा अनुनासिक तथा कण्ठ स्थान के अधोभाग मे निष्पन्न होता है। इन दोनों मे कालकृत भेद नही है क्योंकि दोनो एकमात्रिक हैं।

३ 'अ' और 'आँ' में तीनों प्रकार का भेद है। पहला एकमात्रिक तथा दूसरा द्विमात्रिक है। अत कालकृत भेद हुआ, पहला उदात्त होने से ऊर्ध्वभाग मे निष्पन्न होने वाला तथा दूसरा अनुदात्त होने से अधोभाग में निष्पन्न होने वाला है अत स्थानभागकृत भेद हुआ, पहला अननुनासिक तथा दूसरा अनुनासिक है अत नासिकाकृत भेद हुआ।

सजातीय अर्थात् एक स्थान वाले अचों मे इन तीन भेदों से अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं हो सकता, पर विजातीय अर्थात् भिन्न२ स्थानों वाले अचों में चौथा 'स्थानकृत' भेद भी हुआ करता है। यथा—'अँ' और 'ई' में पहला कण्ठस्थानीय तथा दूसरा तालुस्थानीय है अत स्थानकृत भेद है।

नोट—विद्यार्थियों को अचों के परस्पर इन चार प्रकार के भेदों का सुचारु रूप से अभ्यास कर लेना चाहिये।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१० **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ।**

१ । १ । ६ ॥

ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद् द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्ण-सञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थः—तालु आदि स्थान तथा आभ्यन्तर-प्रयत्न ये दोनो जिस वर्ण के जिस वर्ण से तुल्य हो वह वर्णजाल (अक्षर- समुदाय) परस्पर सवर्णसञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—तुल्यास्यप्रयत्नम् ।१।१। सवर्णम् ।१।१। समास —आस्ये (मुखे) भवम्= आस्यम्, 'शरीरावयवाच्च' (१०६१) इति भवार्थे यत्प्रत्यय । 'यस्येति च' (२३६) इत्य-लोपे 'हलो यमा यमि लोप ' (६६७) इति यकारलोप , प्रकृष्टो यत्न =प्रयत्न , यद्वा प्रारम्भिको यत्न प्रयत्न 'कुगतिप्रादय '(२४६) इति प्रादिसमास । आस्यञ्च प्रयत्नश्च=आस्यप्रयत्नौ, इतरेतरद्वन्द्व । तुल्यौ आस्य-प्रयत्नौ यस्य (वर्णजालस्य) तत्=तुल्यास्यप्रयत्नम् बहुव्रीहि-समास ।अर्थ —(तुल्यास्य- प्रयत्नम्) जिस वर्ण समूह का पारस्परिक ताल्वादिस्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न तुल्य हो वह (सवर्णम्) परस्पर सवर्ण-सञ्ज्ञक होता है ।

स्थान कण्ठ से शुरु होते है अत 'ताल्वादि'की अपेक्षा 'कण्ठादि' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । कई लोग—'तालुन आदिस्ताल्वादि (कण्ठ)। तालु आदिर्ये-षान्तानीमानि=ताल्वादीनि । ताल्वादिश्च ताल्वादीनि च=ताल्वादीनि, एकशेष । इस प्रकार विग्रह कर के कण्ठ को भी ला घसीटते है, परन्तु हमारी सम्मति मे सीधा 'कण्ठादि' न कह कर 'ताल्वादि' कहना द्रविड-प्राणायाम से कम नही ।

लोक मे आभ्यन्तर तथा बाह्य यत्नो के लिये सामान्यतया 'प्रयत्न' शब्द प्रयुक्त होता है, पर शास्त्र मे इन दोनों के लिये 'यत्न' शब्द का ही प्रयोग होता है । इस सूत्र मे 'यत्न' शब्द के साथ 'प्र' जुड़ा हुआ है, जो बाह्ययत्न को हटा कर आभ्यन्तरयत्न का ही बोध कराता है । तथाहि—'प्रारम्भिको यत्न =प्रयत्न , अथवा प्रकृष्टो यत्न.=प्रयत्न ' जो पहला यत्न अथवा उत्कृष्ट यत्न हो उसे 'प्रयत्न' कहते है । इस रीति से 'आभ्यन्तर' ही 'प्रयत्न' ठहरता है, क्योंकि वह वर्णोत्पत्ति से पूर्व होता है तथा वर्णोत्पत्ति का कारण होने से उत्कृष्ट है । बाह्ययत्न वर्णोत्पत्ति के पश्चात् होने तथा वर्णोत्पत्ति मे कारण न होने से वैसा नहीं है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जब तक सम्पूर्ण स्थान और सम्पूर्ण प्रयत्न तुल्य न हो तब तक 'सवर्ण' सञ्ज्ञा नहीं होती । यथा 'इ' और 'ए' वर्णों का प्रयत्न तुल्य है, तालुस्थान भी तुल्य है, परन्तु 'ए' का 'इ' से कण्ठस्थान अधिक है अत इन की सवर्णसञ्ज्ञा

नही होती । सवर्णसञ्ज्ञा न होने से 'भवति×एव' इत्यादि मे अनिष्ट सवर्ण-दीर्घ की निवृत्ति हो जाती है । यह सब मुनिवर पाणिनि के 'यजुष्येकेषाम्' (८।३।१०४) यजुषि+एकेषाम्) सूत्र में सवर्णदीर्घ न कर के यण् करने से विदित होता है ।

अब यहा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि सम्पूर्ण स्थान+प्रयत्न के साम्य होने से ही सावर्ण्य माना जायगा तो 'क' और 'ङ' की सवर्ण सञ्ज्ञा न हो सकेगी, क्योंकि कण्ठस्थान और स्पृष्ट प्रयत्न के तुल्य होने पर भी ङकार का नासिकास्थान अधिक होता है । और यदि इन की सवर्ण-सञ्ज्ञा न होगी तो 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' (३०४) सूत्र मे ककार ङकार का ग्रहण न कराएगा इस से 'प्राङ्' आदि प्रयोगो मे नकार को ङकार न हो कर अनिष्ट प्रयोग निष्पन्न होगे । इसका समाधान यह है कि सूत्र मे आस्य+प्रयत्न के तुल्य होने का उल्लेख है। 'आस्य' का अर्थ 'मुख मे होने वाला स्थान' है । ककार और ङकार का मुख में होने वाला स्थान=कण्ठ तुल्य ही है । 'नासिका' तो मुख से बाहर का स्थान है, फिर चाहे तुल्य हो या न हो चिन्ता नही, सवर्णसञ्ज्ञा हो जाती है । निष्कर्ष यह है कि—

यदि किसी वर्ण के मुखगत कण्ठादि स्थान तथा आभ्यन्तर यत्न अन्य वर्ण से पूरी तरह से तुल्य हो तो वे परस्पर 'सवर्ण' सञ्ज्ञक होते हैं ।

स्मरण रहे कि 'ए' और 'ऐ' की तथा 'ओ' और 'औ' की सम्पूर्ण स्थान+प्रयत्न के साम्य होने पर भी सवर्णसञ्ज्ञा नही होती, इस का कारण यह है कि मुनिवर पाणिनि ने 'एओङ्' 'ऐऔच्' सूत्रों में दोनो का पृथक २ निर्देश किया है ।

[लघु०] वा०—१ ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम् ।

अर्थः—ऋकार और लृकार वर्णों की परस्पर 'सवर्ण' सञ्ज्ञा कहनी चाहिये ।

व्याख्या—'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (१०) सूत्र के अनुसार ऋकार और लृकार की परस्पर 'सवर्ण' सञ्ज्ञा नहीं हो सकती है, क्योंकि ऋकार का स्थान मूर्धा और लृकार का स्थान दन्त है । परन्तु 'तवल्कार' आदि प्रयोगों के लिये इनकी सवर्ण-सञ्ज्ञा करना महा आवश्यक है । इस त्रुटि की पूर्त्ति मुनिवर कात्यायन ने उपर्युक्त वार्त्तिक द्वारा करदी है । अब दोनों का स्थानसाम्य न होने पर भी सवर्णसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है ।

नोट—'न हि सर्वः सर्वं जानाति' [हर एक पुरुष हर एक बात का ज्ञाता नही हुआ करता ।] इस न्यायानुसार मुनिवर पाणिनि से जो कुछ छूट गया उसकी पूर्त्ति करने तथा मुनिवर पाणिनि के सूत्रपाठ का तात्पर्य समझाने के लिये महामुनि कात्यायन ने 'वार्त्तिक+पाठ' का निर्माण किया है । इस 'वार्त्तिक-पाठ' की भी त्रुटियों को दूर करने के लिये तथा श्रीकात्यायन का आशय स्पष्ट करने के लिये महामुनि पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' नामक अति-

सुन्दर बृहत्काय ग्रन्थ रचा है। यही तीनों मुनि व्याकरण के 'मुनित्रय' कहलाते हैं और इन के कारण ही इस पाणिनीय-व्याकरण को 'त्रिमुनिव्याकरणम्' कहते हैं। इन मुनियों में उत्तरोत्तर मुनि अर्थात् पाणिनि से कात्यायन तथा कत्यायन से पतञ्जलि अधिक प्रामाणिक है। इस का कारण यह है कि जगत् में यह नियम है कि सब से पहले पुरुष को जिन कठिनाइयों का सामना करना पडता है वैसा उत्तरोत्तर पुरुषों को नहीं, क्योंकि पहले पुरुष की सम्पूर्ण विचार धारा उत्तर पुरुष को अनायास प्राप्त हो जाती है इस से वह उस से आगे के लिये यत्न किया करता है अत एव बुद्धिमान् लोग उत्तरोत्तर को अधिक प्रामाणिक माना करते हैं। **'उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'** यह उक्ति भी इसी आधार पर आश्रित है।

सूचना—इस ग्रन्थ मे कात्यायन को वार्त्तिको के आदि मे **'वा०'** ऐसा चिह्न कर दिया गया है।

सवर्णसञ्ज्ञा में स्थान और प्रयत्न का उपयोग होने से अब उनका विवेचन किया जाता है।

[लघु०] अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः।

अर्थः— अठारह प्रकार के अवर्ण, कवर्ग, हकार तथा विसर्ग का कण्ठ स्थान होता है।

व्याख्या—अकुहविसर्जनीयानम् ।६।३। कण्ठ ।१।१। समास—अश्च कुश्च हश्च विसर्जनीयश्च=अकुहविसर्जजनीया, तेषाम्=अकुहविसर्जनीयानाम्, इतरेतरद्वन्द्व। यहा 'अ' से लोकप्रसि-द्ध्यनुसार सारे का सारा अवर्णकुल तथा 'कु' से कवर्ग का ग्रहण समझना चाहिये। विसर्जनीय और विसर्ग पर्याय अर्थात् एकार्थवाची शब्द हैं। यहा यह ध्यान रहे कि विसर्गों का कण्ठस्थान तभी होता है जब वे आकाराश्रित अर्थात् अकार से परे होते हैं; जैसा कि पाणिनि के नाम से प्रचलित शिक्षा में कहा गया है—

'अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थान भागिनः' [श्लो० २२]

अयोगवाहों (यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय) का वही स्थान होता है जिस के वे आश्रित होते हैं। यम और अनुस्वार नासिकास्थानीय ही रहते हैं, क्योंकि 'शिक्षा' में कहा गया है—

'अनुस्वारयमानाञ्च नासिकास्थानमुच्यते'। [श्लोक० २२]

अर्थात् अनुस्वार और यमों का 'नासिका' स्थान होता है। अब अयोगवाहो में शेष रहे जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और विसर्ग। इन में से जिह्वामूलीय का 'जिह्वामूल' ही स्थान निश्चित है, इसी प्रकार उपध्मानीय भी सदैव पकार व फकार के आश्रित होने से

ओष्ठस्थानीय ही रहते हैं। तो अब विसर्ग के सिवाय अयोगवाहो मे अन्य कोई अनियतस्थान वाला नहीं रहा। उदाहरण यथा—'कवि' यहा इकाराश्रित होने से विसर्जनीय का तालु-स्थान होता है। 'भानु' यहा उकाराश्रित होने से विसर्जनीय का ओष्ठस्थान है। 'रामयो' यहा ओकाराश्रित होने से विसर्गजीनय का कण्ठ+ओष्ठ स्थान है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जिस २ के आश्रित विसर्ग होगे उस २ का वह २ स्थान विसर्गों का भी होगा।

[लघु०] इचुयशानां तालु।

अर्थ:—अठारह प्रकार के इवर्ण, चवर्ग, दो प्रकार के यकार तथा शकार का 'तालु' स्थान होता है।

व्याख्या—इचुयशानाम् ।६।३। तालु ।१।१। समास:—इश्च चुश्च यश्च शश्च=इचुयशा:, तेषाम्=इचुयशानाम्, इतरेतरद्वन्द्व। यहां लोकप्रसिद्ध्यनुसार 'इ' से इवर्णकुल, 'चु' से चवर्ग तथा 'य' से अनुनासिक दोनो प्रकार के यकारो का ग्रहण होता है। दान्तों के पीछे जो कठिन मुख की छत है उसे 'तालु' कहते है।

[लघु०] ऋ-टु-र-षाणां मूर्धा।

अर्थ:—अठारह प्रकार के ऋवर्ण, टवर्ग रेफ तथा षकार का 'मूर्धा' स्थान होता है।

व्याख्या—ऋटुरषाणाम् ।६।३। मूर्धा ।१।१। समास:—ऋ च टुश्च रश्च षश्च=ऋटुरषा, तेषाम्=ऋटुरषाणाम्, इतरेतरद्वन्द्व। 'तालु' स्थान से पीछे मुख की छत का जो कोमल भाग है उसे 'मूर्धा' कहते है। आजकल षकार का उच्चारण सम्यग् रीत्या नहीं हुआ करता अत: इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये।

[लघु०] लृ-तु-ल-सानां दन्ता:।

अर्थ:—बारह प्रकार के लृकार, तवर्ग, दो प्रकार के लकार तथा सकार का 'दन्त' स्थान होता है।

व्याख्या—लृतुलसानाम् ।६।३। दन्ता: ।१।३। समास:—लृ च तुश्च लश्च सश्च=लृतुलसा, तेषाम्=लृतुलसानाम्, इतरेतरद्वन्द्व। यहा 'दन्त' से तात्पर्य ऊपर वाले दान्तो के पीछे साथ लगे हुए मास से है, अतएव भग्न दान्तो वाला पुरुष भी इन वर्णों का उच्चारण कर सकता है।

[लघु०] उ-पूपध्मानीयानामोष्ठौ।

अर्थ:—अठारह प्रकार के उकार, पवर्ग तथा उपध्मानीय का ओष्ठ (होंठ) स्थान होता है।

व्याख्या—उपूपध्मानीयानाम् ।६।३। ओष्ठौ ।१।२। समास—उश्च पुश्च उपध्मानीयश्च=उपूपध्मानीयाः, तेषाम्=उपूपध्मानीयानाम्। इतरेतरद्वन्द्व। अच् से परे तथा पकार फकार से पूर्व ' ' इस प्रकार उपध्मानीय होते हैं। इनका विवेचन आगे इसी प्रकरण में किया जायगा।

[लघु०] ञ-म-ङ-ण-नानां नासिका च।

अर्थः—ञ्, म्, ङ्, ण्, न् इन पाँच वर्णों का 'नासिका' स्थान भी होता है।

व्याख्या—ञमङणनानाम् ।६।३। नासिका ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। समास—ञश्च मश्च ङश्च णश्च नश्च=ञमङणनाः, तेषाम्=ञमङणनानाम्, इतरेतरद्वन्द्व। आदिष्वकार उच्चारणार्थ। यहां मूल में 'च' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि इन वर्णों का अपने २ वर्गों का स्थान भी होता है। यथा—ञकार का तालुस्थान और नासिकास्थान दोनों हैं। इस प्रकार मकारादि में भी समझ लेना चाहिये।

[लघु०] एदैतोः कण्ठ-तालु।

अर्थः—बारह प्रकार के एकार तथा ऐकार का 'कण्ठ' और 'तालु' स्थान होता है।

व्याख्या—एदैतोः ।६।२। कण्ठतालु ।१।१। एच्च ऐच्च=एदैतौ, तयोः=एदैतोः, इतरेतरद्वन्द्व। कण्ठश्च तालु च=कण्ठ=तालु। प्राण्यङ्गत्वात् समाहार-द्वन्द्व। मूल में तकार सुखपूर्वक उच्चारण के लिये ग्रहण किया गया है, इसे तपर नहीं समझना चाहिये।

[लघु०] ओदौतोः कण्ठोष्ठम्।

अर्थः—बारह प्रकार के ओकार तथा औकार का 'कण्ठ' और 'ओष्ठ' स्थान होता है।

व्याख्या—ओदौतोः ।६।२। कण्ठोष्ठम् ।१।१। समास—ओच्च औच्च=ओदौतौ, तयोः=ओदौतोः, इतरेतर-द्वन्द्व। दन्ताश्च ओष्ठौ च=दन्तोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्व। 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इति वा पररूपता। यहां भी मूल में तकार मुख-सुखार्थ ही समझना चाहिये।

[लघु०] वकारस्य दन्तोष्ठम्।

अर्थः—वकार का 'दन्त' और 'ओष्ठ' स्थान होता है।

व्याख्या—वकारस्य ।६।१। दन्तोष्ठम् ।१।१। समास—दन्ताश्च ओष्ठौ च=दन्तोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्व। 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इति वा पररूपता। जो लोग

वकार के उच्चारण मे दोनो ओष्ठो का प्रयोग करके उसे बकार बना देते है। उन्हे यह वचन ध्यान से पढना चाहिये।

[लघु०] जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्।

अर्थः—जिह्वामूलीय का स्थान जिह्वा की जड होता है।

व्याख्या—जिह्वामूलीयस्य ।६।१। जिह्वामूलम् ।१।१। जिह्वा का मूल स्थान प्रायः कण्ठ के ही निकट होता है। अच् से परे तथा ककार खकार से पूर्व '≍' ऐसा चिह्न जिह्वामूलीय का होता है, इसका विवेचन आगे इसी प्रकरण मे मूल मे ही किया जावेगा।

[लघु०] नासिकाऽनुस्वारस्य।

अर्थः—अनुस्वार का नासिका-स्थान होता है।

व्याख्या—नासिका ।१।१। अनुस्वारस्य ।६।१। 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिक' (६) मे 'मुख' ग्रहण का यही प्रयोजन है कि अनुस्वार की 'अनुनासिक' सञ्ज्ञा न हो जाय। यदि ऐसा होता, तो 'सँव्वत्सर' मे अनुस्वार को परसवर्ण अनुनासिक वकार न होता। यही 'स्थानी प्रकल्पयेदेतावनुस्वारो यथा यणम्' इस स्थल पर महाभाष्य मे सूचित किया गया है।

अच् से परे '—' इस प्रकार के चिह्न को 'अनुस्वार' कहते है। इसका विवेचन आगे मूल मे ही किया जायगा।

[लघु०] इति स्थानानि।

अर्थः— ये स्थान समाप्त हुए।

[लघु०] यत्नो द्विधा, आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा, स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रिया-दशायान्तु विवृतमेव।

अर्थः—यत्न दो प्रकार का होता है, एक 'आभ्यन्तर' और दूसरा 'बाह्य'। पहिला आभ्यन्तर-यत्न पाञ्च प्रकार का होता है, १ स्पृष्ट, २ ईषत्स्पृष्ट, ३ ईषद्विवृत, ४ विवृत, ५ संवृत। इनमे से स्पृष्ट-प्रयत्न स्पर्श अक्षरों का होता है। ईषत्स्पृष्ट-प्रयत्न अन्तस्थ अक्षरों का होता है। ईषद्विवृत-प्रयत्न ऊष्म अक्षरों का होता है। स्वरो का विवृत-प्रयत्न होता है।

ह्रस्व अवर्ण का उच्चारण-काल मे संवृत-प्रयत्न और प्रयोग-सिद्धि के समय विवृत-प्रयत्न होता है ।

व्याख्या—कोशिश को 'यत्न' कहते है । वह यत्न यहा दो प्रकार का होता है । एक वर्ण की उत्पत्ति से पूर्व और दूसरा वर्ण की उत्पत्ति के पश्चात् । जो यत्न वर्णोत्पत्ति से पूर्व किया जाता है उसे 'आभ्यन्तर' तथा जो वर्णोत्पत्ति के अनन्तर किया जाता है उसे 'बाह्य' कहते है । इनमे प्रथम 'आभ्यन्तर' यत्न पाञ्च प्रकार का होता है । यथा— १ स्पृष्ट २ ईषत्स्पृष्ट, ३ ईषद्विवृत, ४ विवृत, ५ संवृत । वर्णों की उत्पत्ति मे जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य तथा मूल भागो का उपयोग हुआ करता है । जिह्वा का स्थान को छूना 'स्पृष्ट', थोडा छूना ईषत्स्पृष्ट, थोडा दूर रहना 'ईषद्विवृत', दूर रहना 'विवृत' तथा हट कर समीप रहना 'संवृत' यत्न कहाता है ।

स्पर्श अर्थात् 'क' से लेकर 'म' पर्यन्त वर्णों का 'स्पृष्ट' प्रयत्न है, अर्थात् इनके उच्चारण में जिह्वा [यह उपलक्षणमात्र है, पवर्गके उच्चारण मे ओष्ठ भी समझ लेना चाहिए ।] को स्थान के साथ स्पर्शरूप यत्न करना पडता है । अन्तस्थ अर्थात् य्, व्, र्, ल्, वर्णों का 'ईषत्स्पृष्ट' प्रयत्न है, अर्थात् इनके उच्चारण मे जिह्वा [ओष्ठ भी] को स्थान के साथ थोडा स्पर्शरूप यत्न करना पडता है । ऊष्म अर्थात् श्, ष्, स्, ह्, वर्णों का 'ईषद्विवृत' प्रयत्न है, अर्थात् इनके उच्चारणमें जिह्वा को स्थान से थोडी दूर रखना चाहिये । स्वरो का 'विवृत' प्रयत्न है, अर्थात् इनके उच्चारण मे जिह्वा [उकार के उच्चारण में ओष्ठ] स्थान से दूर रखनी चाहिये । ह्रस्व अवर्ण का 'संवृत' प्रयत्न है, अर्थात् इसके उच्चारण में जिह्वा को स्थान से हटा कर उसके समीप रखना चाहिये ।

इन सब प्रयत्नों का शिक्षा-ग्रन्थों मे यथावत् वर्णन किया गया है वही देखें । इन प्रयत्नो से व्याकरण में और तो कोई दोष नहीं आता किन्तु ह्रस्व अकार दीर्घ अकार का सवर्णी नहीं हो सकता, क्योंकि ह्रस्व अकार का संवृत और दीर्घ अकार का विवृत प्रयत्न होता है । सावर्ण्य न होने से 'दण्ड×आनयन' इत्यादि मे 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) द्वारा सवर्णदीर्घ न हो सकेगा । इस दोष की निवृत्ति के लिये महामुनि पाणिनि ने इस शास्त्र मे प्रक्रिया-अवस्था में ह्रस्व अकार को विवृत माना है, इससे दोनो की सवर्ण-सञ्ज्ञा हो जाने मे कोई दोष नहीं आता । इस विषय का विस्तार 'काशिका' आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें ।

अब बाह्य-यत्न का वर्णन किया जाता है—

अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथम-तृतीय-पञ्चमा यण-श्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः।

अर्थः—बाह्ययत्न ग्यारह प्रकार का होता है। १—विवार, २—सवार, ३—श्वास, ४—नाद, ५—अघोष, ६—घोष,* ७—अल्पप्राण, ७—महाप्राण, ६—उदात्त, १०—अनुदात्त, ११—स्वरित। 'खर्' प्रत्यहार विवार, श्वास तथा अघोष यत्न वाले होते हैं। 'हश्' प्रत्याहार सवार, नाद तथा घोष यत्न वाले होते हैं। वर्गों के प्रथम, तृतीय, पञ्चम और यण् अल्पप्राणयत्न वाले होते हैं। वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ और शल् महाप्राण यत्न वाले होते हैं।

व्याख्या—'हश सवारा नादा घोषाश्च' 'यणश्चाल्पप्राणा' इन दोनो स्थानों पर 'च' से 'अच्' का ग्रहण होता है। अत अच्—सवार, नाद, घोष तथा अल्पप्राण यत्न वाले हैं। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भी अचों के ही यत्न हैं इन का वर्णन पीछे हो चुका है अत यहा इन के विषय मे कुछ नहीं कहा गया।

यद्यपि यह वर्णन ध्वनिशास्त्र का विषय है तथापि यहा विवार आदि का सङक्षिप्त सरलार्थ लिख देना अनुचित न होगा।

विवार=वर्णोच्चारण के समय मुख के खुलने को विवार कहते हैं। जिन वर्णों के उच्चारण करते समय मुख खुलता है वे विवार-यत्न वाले कहाते हैं। सवार=वर्णोच्चारण के समय मुख के विकास न होने को सवार कहते हैं। श्वास=वर्णोच्चारण के समय श्वास चलने को श्वास यत्न कहते हैं। नाद=वर्णोच्चारण के समय नाद अर्थात् गम्भीर ध्वनि होने को नाद यत्न कहते हैं। घोष=वर्णोच्चारण के समय घोष अर्थात् गूंज का उठना घोष तथा गूंज का न उठना अघोष यत्न कहाता है। अल्पप्राण=वर्णोच्चारणके समय प्राण-वायु के अल्प उपयोग को अल्पप्राण तथा अधिक उपयोग को महाप्राण कहते हैं।

अब स्थान+यत्न-प्रकरण में आए हुए† १ स्पर्श, २ अन्त स्थ या अन्त स्था, ३ ऊष्म, ४ स्वर, ५ जिह्वामूलीय, ६ उपध्मानीय, ७ अनुस्वार और ८ विसर्ग इन आठ शब्दो की व्याख्या स्वय ग्रन्थकार करते हैं—

---

*यहा पर "अघोष, घोष" ऐसा उपर्युक्त पाठ होने मे अन्वय ठीक हो जाता है, फिर एक २ छोड़ देने से "विवार, श्वास, अघोष" तथा "सवार, नाद, घोष" यह क्रम ठीक हो जाता है।

† तत्र स्पृष्ट प्रयतन स्पर्शानाम्, ईषत्स्पृष्टम् अन्त स्थानाम्, ईषद्विवृतम ऊष्मणाम्, विवृत स्वराणाम्, जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्, उपूपध्मानीयानामोष्ठौ, नासिकाऽनुस्वारस्य, अकुहविसर्जनीयान कण्ठ।

[लघु०] कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तस्थाः। शल ऊष्माणः।
अचः स्वराः। ≍ क ≍ ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो
जिह्वामूलीयः। ≍ प ≍ फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश
उपध्मानीयः। 'अं अः' इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ।

अर्थः—'क' से लेकर 'म' पर्यन्त स्पर्श वर्ण हैं। यण् अर्थात् 'य, व, र, ल' ये चार वर्ण अन्त स्थ व अन्त स्था* है। शल् अर्थात् 'श, ष, स, ह' ये चार वर्ण ऊष्म हैं। अच प्रत्याहार स्वर होता है। 'क' अथवा 'ख' वर्ण से पूर्व [तथा अच् से परे] आधे विसर्ग के तुल्य जिह्वामूलीय होता है। 'प' अथवा 'फ' वर्ण से पूर्व [तथा अच से परे] आधे विसर्ग के तुल्य उपध्मानीय होता है। 'अं, अ' यहाँ अकार स्वर से परे क्रमश अनुस्वार तथा विसर्ग हैं।

व्याख्या— 'क' से 'म' तक स्पर्श वर्ण है। यहां लौकिक क्रम का आश्रयण किया गया है जो आज तक प्रसिद्ध चला आ रहा है। प्रत्याहारसूत्रों में 'क' से 'म' तक मिलना असम्भव है अत कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग ये पचीस वर्ण ही स्पर्श-सञ्ज्ञक होते हैं। इनका नाम स्पर्श इस कारण से है क्योंकि इनका उच्चारण जिह्वा [ओष्ठ भी] का स्थान के साथ स्पर्श होने से होता है। 'य, व, र, ल' इन चार वर्णों को अन्त स्थ व अन्त स्था इसलिये कहते हैं क्योंकि ये स्वर और व्यञ्जनो के बीच मे रहते हैं। प्रत्याहार-सूत्रों मे भी स्वरो और व्यञ्जनो के मध्य इनको पढा गया है। ये व्यञ्जन भी है और स्वर भी। अंग्रेजी मे इनको अर्धस्वर भी इसीलिये कहा जाता है। 'इको यणचि' (१४) 'इग्यण -सम्प्रसारणम्' (२५६) आदि सूत्र भी यही प्रगट करते है+। 'श, ष, स, ह' ये चार वर्ण ऊष्म कहाते है। इनको ऊष्म कहने का कदाचित् यह प्रयोजन है कि इनके उच्चारण से गरम वायु निकलती है†। 'क' या 'ख' परे होने पर विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय तथा 'प' या 'फ' परे होने पर उपध्मानीय होते हैं यह आगे 'कुप्वो ≍ क ≍ पौ च' (६८) सूत्र पर स्पष्ट करेंगे। ये जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय आधे विसर्ग के सदृश होते है। यहा सादृश्य

---

* 'अन्त स्थ' शब्द का उच्चारण रामवत् तथा 'अन्त स्था' शब्द का उच्चारण विश्वपा शब्दवत् होता है।

+ कुछ लोगों का विचार है कि प्रसिद्धलिपिक्रम में स्पर्शों और ऊष्मों के मध्य में वर्त्तमान होने से इनका नाम अन्त स्थ पड गया है।

† कुछ लोगों की राय है कि इनके उच्चारण से शरीर में उष्णता=गरमी का अधिक सञ्चार होता है अत ये ऊष्म कहाते हैं।

उच्चारण की अपेक्षा से नहीं किन्तु लिपि की अपेक्षा से समझना चाहिए। यथा विसर्ग का स्वरूप 'ः' इन ऊपर नीचे लिखे दो गोल शून्य चिह्नो से प्रकट किया जाता है, इनका आधा '⌣' यही उपध्मानीय और जिह्वामूलीय का स्वरूप समझना चाहिये। अनुस्वार की आकृति '—' इस प्रकार ऊपर एक बिन्दुरूप होती है। यह सदा स्वर के ऊपर लिखा जाता है परन्तु इसकी स्थिति सदा स्वर के अनन्तर स्वीकार की जाती है। अनुस्वार का चिह्न यथा—अ, इ, उ, क, कि, कुं इत्यादि। विसर्ग की आकृति 'ः' इस प्रकार दो गोल चिह्नो से प्रकट की जाती है यह सदा स्वर के आगे प्रयुक्त किया जाता है। इसकी स्थिति भी स्वर के अनन्तर स्वीकार की जाती है। विसर्ग का उदाहरण यथा—अ, इ, उ, क, कि, कु इत्यादि।

अथ स्थान-बोधक-चक्रम्।

कण्ठ	तालु	ओष्ठौ	मूर्धा	दन्ता	नासिका	कण्ठतालु	कण्ठोष्ठम्	दन्तोष्ठम्	जिह्वामूलम्
अ	इ	उ	ऋ	लृ	ञ्	ए	ओ	व्	⌣क
क्	च्	प्	ट्	त्	म्	ऐ	औ		⌣ख
ख्	छ्	फ्	ठ्	थ्	ङ्				
ग्	ज्	ब्	ड	द्	ण्				
घ्	झ्	भ्	ढ्	ध्	न्				
ङ्	ञ्	म्	ण्	न्	—				
ह्	य्	⌣प	र्	ल्					
ः	श्	⌣फ	ष्	स्					

अथ आभ्यन्तर-यत्न-बोधक-चक्रम्।

स्पृष्टम्	ईषत्स्पृष्टम्	विवृतम्	ईषद्विवृतम्	सवृतम्
क ख ग घ ङ	य	अ ए	श	ह्रस्वस्य
च छ ज झ ञ	व	इ ओ	ष	अवर्णस्य
ट ठ ड ढ ण	र	उ ऐ	स	उच्चारणकाले
त थ द ध न	ल	ऋ औ	ह	
प फ ब भ म		लृ		

अथ बाह्य-यत्न-बोधक-चक्रम् ।

विवार, श्वास, अघोष.	संवार, नाद, घोष.	अल्पप्राणः	महाप्राणः	उदात्तानुदात्तस्वरिताः
क ख	ग घ ङ	क ग ङ	ख घ	अ
च छ	ज झ ञ	च ज ञ	छ झ	इ
ट ठ	ड ढ ण	ट ड ण	ठ ढ	उ
त थ	द ध न	त द न	थ ध	ऋ
प फ	ब भ म	प ब म	फ भ	लृ
श	य व		श	ए
ष	र ल	व [सब स्वर]	ष	ओ
स	ह	र	स	ऐ
	[सब स्वर]	ल	ह	औ

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—११ अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः । ।१।१।६८॥

प्रतीयते=विधीयत इति प्रत्ययः । अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य सञ्ज्ञा स्यात् । अत्रैवाण् परेण णकारेण । कु, चु, टु, तु, पु, एत उदितः । तदेवम्—अ इत्यष्टादशानां सञ्ज्ञा, तथेकारोकारौ । ऋकारस्त्रिंशतः, एवम् लृकारोऽपि । एचो द्वादशानाम । अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा, तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः सञ्ज्ञा ।

अर्थः—जिस का विधान किया जाय उसे 'प्रत्यय' कहते हैं । अप्रत्यय अर्थात् न विधान किया हुआ अण् और उदित् सवर्णों की तथा अपनी सञ्ज्ञा वाला हो । केवल इसी सूत्र में अण् प्रत्याहार पर णकार से गृहीत होता है । 'कु, चु, टु, तु, पु' इनको उदित् कहते हैं इस प्रकार 'अ' यह अठारह प्रकार की सञ्ज्ञा वाला हो जाता है । इसी प्रकार 'इ'

और 'उ' भी। अकार तीस प्रकार की सञ्ज्ञा वाला होता है। इसी प्रकार लृकार भी। एच् प्रत्याहार का प्रत्येक बारह २ प्रकार की सञ्ज्ञा है। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य्, व्, ल् दो प्रकार के होते है, अत अनुनासिक य्, व्, ल् ही दो २ प्रकार की सञ्ज्ञा होंगे।

व्याख्या—अण् ।१।१। उदित् ।१।१। सवर्णस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। स्वस्य ।६।१। [चकार के बल से 'स्वरूपं शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा' सूत्र से 'स्वम्' पद आ कर षष्ठ्यन्त मे परिणत हो जाता है।] अप्रत्यय ।१।१। समास—उत्=ह्रस्व उवर्णः इत् यस्मात् स उदित् बहुव्रीहि-समास। प्रतीयते=विधीयते इति प्रत्यय, प्रतिपूर्वाद् इण कर्मणि अच्-प्रत्यय। न प्रत्यय =अप्रत्यय, नञ्तत्पुरुषसमास। अर्थ—(अप्रत्यय) न विधान किया हुआ (अण्) अण् और (उदित्) उदित् (सवर्णस्य) सवर्णियो की (च) तथा (स्वस्य) अपने स्वरूप की सञ्ज्ञा होता है।

'प्रत्यय' शब्द यहा यौगिक है, इसका अर्थ है 'विधान किया हुआ'। यथा—'इको यण् अचि' (१५) सूत्र मे 'यण्' और 'सनाशसभिक्ष उ' (८४०) सूत्र मे 'उ' विधान किया गया है। अत ये दोनो प्रत्यय है।

अण् तथा इण् प्रत्याहार दो प्रकार से बन सकते है। एक—'अइउण्' के णकार से और दूसरा 'लण्' के णकार से। कहा पूर्व णकार से तथा कहा पर णकार से इन का ग्रहण करना चाहिये? इस विषय में भाष्यकार का निर्णय यह है—

'परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे, पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु॥'

अर्थात् इण् प्रत्याहार सर्वत्र पर 'लण्' वाले णकार से तथा अण् प्रत्याहार 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय' (११) को छोड सर्वत्र 'अइउण्' वाले णकार से ग्रहण करना चाहिये। 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय' सूत्र मे अण् प्रत्याहार 'लण्' वाले णकार से ग्रहण किया जाता है। इस नियम के अनुसार यहां 'अण्' पर णकार से ग्रहण होता है। तो इस प्रकार यहा 'अण्' मे 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्, इन चौदह वर्णों का ग्रहण होता है। यदि ये वर्ण अविधीयमान [न विधान किये हुए] होगे तो अपनी तथा अपने सवर्णियो की सञ्ज्ञा होगे यथा—'इको यण् अचि' (१५) यहा इक् और अच् अविधीयमान है—विधान नहीं किये गये [विधान तो यण् ही किया गया है], इससे इक्-प्रत्याहारान्तर्गत 'इ, उ, ऋ, लृ' ये चार वर्ण अपनी तथा अपने सवर्णियों की सञ्ज्ञा होंगे। इस से 'सुधी+उपास्य' यहा दीर्घ ईकार के स्थान पर भी यण् हो जाता है। एवम् अच् प्रत्याहार के अन्तर्गत 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ' ये नौ वर्ण भी अपनी तथा

अपने सवर्णियो की सञ्ज्ञा होंगे। इससे 'दधि+आनय' यहा दीर्घ आकार के परे होने पर भी यण् सिद्ध हो जाता है।

'कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ' ये इस शास्त्र मे उदित् माने जाते है। इनके उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होती है। यद्यपि 'कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ' इन समुदायो का कोई सवर्ण नही होता तथापि इन समुदायों के आदि वर्ण 'क्, च्, ट्, त्, प्' के सवर्णों का तथा उनके स्वरूप का यहा ग्रहण समझना चाहिये। 'क्' के सवर्ण 'ख्, ग्, घ्, ङ्' ये चार वर्ण है अत 'कु' कहने से इन चार वर्णों तथा पाञ्चवें अपने रूप 'क्' अर्थात् कुल मिला कर पाञ्च वर्णों का ग्रहण होगा। इसी प्रकार 'चु' से चवर्ग, 'टु' से टवर्ग, 'तु' से तवर्ग तथा 'पु' से पवर्ग ग्रहण होगा।

उदित् के साथ 'अप्रत्यय' का सम्बन्ध नही है, अत उदित् चाहे विधीयमान हो या अविधीयमान, प्रत्येक अवस्था मे अपनी तथा अपने सवर्णों की सञ्ज्ञा होगा। यथा— 'चो कु' (६०६) यहा 'चु' अविधीयमान और 'कु' विधीयमान है, दोनो अपने तथा अपने सवर्णों के ग्राहक होगे। 'अण्' के साथ 'अप्रत्यय' का सम्बन्ध इसलिये किया गया है कि 'सनाशसभिक्ष उ' (८४०) इत्यादि स्थानो मे विधीयमान उकार आदि सवर्णों के ग्राहक न हो, इससे दीर्घ ऊकार आदि प्रसक्त न होंगे।

अब अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल् ये सञ्ज्ञाएं हैं, इनके सञ्ज्ञी निम्नप्रकार से होते है।

अ, इ, उ,।

इन सञ्ज्ञाओ के पीछे लिखे अनुसार अठारह २ सञ्ज्ञी होते है।

ऋ, लृ।

वार्त्तिक (१) से इन दोनों की सवर्णसञ्ज्ञा हो जाने के कारण प्रत्येक वर्ण के तीस २ सञ्ज्ञी होते हैं। ['ऋ' के १८+'लृ' के १२]

ए, ओ, ऐ, औ।

ह्रस्व न होने के कारण इन सञ्ज्ञाओ में से प्रत्येक वर्ण के पीछे लिखे अनुसार बारह २ सञ्ज्ञी होते हैं।

य्, व्, ल्।

ये दो प्रकार के होते हैं, एक अनुनासिक और दूसरे अननुनासिक। अण् प्रत्याहार में अननुनासिक य्, व्, ल् का पाठ है, अत अननुनासिक ही अपनी तथा दूसरे अनुनासिकों की सञ्ज्ञा होते है। यहां यह भी समझ लेना चाहिये कि दीर्घ तथा प्लुत वर्ण अण् प्रत्या-

अण्प्रत्याहारान्तर्गत न होने से सवर्णों के ग्राहक नहीं हुआ करते । ह्रस्व वर्ण ही [एच् दीर्घ ही] अणो में गृहीत होते हैं, अत वे ही सवर्णों के ग्राहक हैं ।

रेफ और हकार अणो के अन्तर्गत होते हुए भी किसी अन्य वर्ण के ग्राहक नही होते, क्योंकि **'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति'** अर्थात् रेफ और ऊष्म वर्णों के सवर्ण नही हुआ करते ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**१२ परः सन्निकर्षः संहिता ।१।४।१०८॥**

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहिता-सञ्ज्ञः स्यात् ।

अर्थः—वर्णों की अत्यन्त समीपता 'संहिता'-सञ्ज्ञक होती है ।

व्याख्या—परः ।१।१। सन्निकर्षः ।१।१। संहिता ।१।१। अर्थः—(परः) अत्यन्त (सन्निकर्ष) सामीप्य (संहिता) 'संहिता' सञ्ज्ञक होता है । दो वर्णों के मध्य आधी मात्रा से कम का व्यवधान सम्भव नही हो सकता, यही अत्यन्त समीपता 'संहिता' कहाती है ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**१३ हलोऽनन्तराः संयोगः । १। १। ७॥**

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोग-सञ्ज्ञाः स्युः ।

अर्थः—अचो के व्यवधान से रहित हलों की 'संयोग' सञ्ज्ञा हो ।

व्याख्या—हलः ।१।३। अनन्तराः ।१।३। संयोगः ।१।१। समास—अविद्यमानम् अन्तरम्=व्यवधानं येषान्तेऽनन्तराः, बहुव्रीहि-समास । अर्थः—(अनन्तराः) जिन मे अन्तर अर्थात् व्यवधान नहीं ऐसे (हलः) हल् (संयोगः) संयोग-सञ्ज्ञक होते हैं । व्यवधान [परदा] सदा विजातीयो का ही हुआ करता है; सजातीयो का नहीं । हल् के विजातीय अच् है । अत यदि हल् अचो के व्यवधान से रहित होगे तो उन की संयोग सञ्ज्ञा होगी । सूत्र मे 'हलः' पद में बहुवचन विवक्षित नहीं, किन्तु जाति मे बहुवचन किया गया है । इस से दो या दो से अधिक हलो की संयोग-सञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है । उदाहरण यथा—भृट्, यहा 'भृस्ज्' शब्द के आगे 'सु' प्रत्यय के लोप होने पर स् और ज् की संयोग-सञ्ज्ञा हो कर 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (३०६) सूत्र से संयोग के आदि सकार का लोप हो जाता है । इसी प्रकार 'इन्द्र' मे नकार दकार और रेफ की, 'उष्ट्र' मे षकार टकार और रेफ की एवमन्यत्र भी संयोगसञ्ज्ञा समझ लेनी चाहिये ।

नोटः—ध्यान रहे कि प्रत्येक हल् की संयोगसञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु सम्पूर्ण हल् समुदाय की ही हुआ करती है । चाहे वह हल्-समुदाय दो हलो का हो अथवा दो से अधिक हलों का हो ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१४ सुप्तिङन्तं पदम् । १ । ४ । १४ ॥

सुबन्तं तिङन्तञ्च पदसञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थः—सुबन्त और तिङन्त शब्द-स्वरूप पद-सञ्ज्ञक होते है ।

व्याख्या—सुप्तिङन्तम् ।१।१। पदम् ।१।१। समास—सुप् च तिङ् च=सुप्तिङौ, इतरेतरद्वन्द्व । सुप्तिङौ अन्तौ यस्य तत्=सुप्तिङन्तम् (शब्दस्वरूपम्), बहुव्रीहि समास । अर्थ—(सुप्तिङन्तम्) सुबन्त और तिङन्त शब्द-स्वरूप (पदम्) पद-सञ्ज्ञक होते है । [यहा शब्दानुशासन-शास्त्र के प्रस्तुत होने से 'सुप्तिङन्तम्' पद का 'शब्द-स्वरूपम्' विशेष्य अध्याहार कर लिया जाता है ।] 'स्वौजसमौट्——' (११८) सूत्र मे विधान किये गए इक्कीस (२१) प्रत्यय 'सुप्' तथा 'तिप्तस्झिसिप्——' (३७५) सूत्र मे विधान किये गए अठारह (१८) प्रत्यय 'तिङ' कहाते हैं । ये सुप् व तिङ् प्रत्यय जिसके अन्त मे हो उन की पद-सञ्ज्ञा होती है । यहा यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि इन प्रत्ययो से युक्त सम्पूर्ण समुदाय की ही पद सञ्ज्ञा होती हैं । केवल प्रकृति व प्रत्यय की नही । उदाहरण यथा—'राम ,पुरुष , देवस्य, पुरुषस्य' इत्यादि सुप् अन्त मे होने के कारण 'पद'सञ्ज्ञक है । 'पचति, पठति, अपचन्, अपठत्' इत्यादि तिङ् अन्त मे होने के कारण 'पद' सञ्ज्ञक है । इस सूत्र मे 'अन्त' ग्रहण का प्रयोजन आगे (१५५) सूत्र पर स्पष्ट करेगे ।

[लघु०] इति सञ्ज्ञा–प्रकरणं समाप्तम् ।

अर्थः—यह सञ्ज्ञा-प्रकरण समाप्त होता है ।

व्याख्या—इस प्रकरण मे यद्यपि व्याकरण-गत सम्पूर्ण सञ्ज्ञाओ का समावेश नहीं किया गया है, तथापि सन्धि-प्रकरण के लिए उपयोगी प्राय सभी सञ्ज्ञाओं का इस मे वर्णन आ गया है । 'प्राय ' कथन का यह तात्पर्य है कि 'अदेङ् गुण ' (२५) 'वृद्धिरादैच' (३२), 'अचोऽन्त्यादिटि' (३३), 'तस्य परमाम्रेडितम्' (३४) प्रभृति सूत्रो से गुण, वृद्धि, टि और आम्रेडित आदि अन्य भी सन्ध्युपयोगी सञ्ज्ञाए आगे कही गई है ।

इति भैमी-व्याख्ययोपबृंहितायां लघुसिद्धान्त-कौमुद्यां सन्ध्युपयोगिसञ्ज्ञानां प्रायोवर्णनं समाप्तम् ॥

अभ्यास (१)

१ 'क्, श्, ए, व्, ञ्, स्, ख, ह्, ग्र, र, ऋ' इन वर्णों के स्थान तथा दोनो प्रकार के यत्न लिख कर यथासम्भव सवर्णों का निर्देश करो ।

२ 'अण्, इच्, रल्, अम्, यण, छव्, खय, झय, रँ' इन प्रत्याहारो की ससूत्र सिद्धि कर के तदन्तर्गत वर्णो का सङ्क्षिप्त रीत्या उल्लेख करें ।

३ अचो मे परस्पर कितने प्रकार का अन्तर सम्भव है, उदाहरण दे कर स्पष्ट करे ।

४ कौन सूत्र 'ऋ' सञ्ज्ञा करता है ? इस के कितने और कौन २ से सञ्ज्ञी होते है ? ।

५ 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय ' सूत्र मे 'अप्रत्यय ' पद का क्या अभिप्राय है और इसका किस के साथ सम्बन्ध है ? सोदाहरण स्पष्ट करे ।

६ सञ्ज्ञा और सञ्ज्ञी स्पष्ट करते हुए 'अदर्शन लोप ' सूत्र के 'अदर्शनम्' पद का विवेचन करे ।

७ 'इत ' पद के पीछे से प्राप्त होने पर भी 'तस्य लोप ' सूत्र मे 'तस्य' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? ।

८ उदात्त, अनुदात्त और स्वरित में परस्पर भेद बताओ ।

९ 'उपदेश' किसे कहते है ? यथाधीत स्पष्ट करे ।

१० 'अष्टाध्यायी' किसने बनाई है ? इस मे कितने अध्याय और कितने पाद है ? 'लघु-सिद्धान्त-कौमुदी' के साथ 'अष्टाध्यायी' का क्या सम्बन्ध है ? ।

११ 'त्रिमुनि व्याकरणम्' और 'उत्तरोत्तर मुनीना प्रामाण्यम्' का भाव स्पष्ट करो ।

१२ 'लघु-सिद्धान्त-कौमुदी' शब्द का अर्थ लिख कर इस के कर्त्ता के विषय मे सङक्षिप्त नोट लिखें ।

१३ 'उँ' और 'इँ' में, 'ऋ' और 'लृ' मे, 'ए॑' और 'ओ' मे, 'औ' और 'औ॒' में पारस्परिक भेद बताए ।

१४ आभ्यन्तर और बाह्य यत्नो के भेद लिख कर उनका सार्थ विवेचन करें ।

१५ यदि सम्पूर्ण स्थान तुल्य होने पर ही सवर्ण-सञ्ज्ञा होती है तो क्या 'क' और 'ङ' की सवर्णसञ्ज्ञा नहीं होगी ? ।

१६ 'लृ' और 'ऐ' के बारह २ भेद सूत्रों द्वारा सिद्ध करे ।

१७ 'सयोग' सञ्ज्ञा क्या प्रत्येक वर्ण की होती है या समुदाय की ? सोदाहरण स्पष्ट करे ।

१८ 'अर्ध-विसर्ग-सदृश उपध्मानीय ' इस वचन का विवेचन करे ।

१९ निम्न-लिखित सूत्रों का सूत्रस्थ पदों द्वारा अर्थ निकाल कर व्याख्यान करे— तुल्यास्य-प्रयत्न सवर्णम् । अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय । हलोऽनन्तरा सयोग । ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुत । समाहार स्वरित ।

२० पद, सहिता, अनुनासिक और लोप सञ्ज्ञा करने वाले सूत्र सार्थ लिखे ।

२१ 'इति सञ्ज्ञा-प्रकरण समाप्तम्' इस वचन की विस्तृत समालोचना करें ।

२२ 'विसर्जनीय' के स्थान का शास्त्ररीत्या विवेचन करें ।

अथाऽच्सन्धि-प्रकरणम् ।

अब अचों की सन्धि का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रकरण मे अचों अर्थात् स्वरो का स्वरो के साथ मेल दिखाया जाएगा।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१५ इको यणचि । ६ । १ । ७६ ॥

इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये । 'सुधी+उपास्य' इति स्थिते—

अर्थः—संहिता के विषय मे अच् के विद्यमान होने पर इक् के स्थान पर यण् हो जाता है। 'सुधी+उपास्य' ऐसे स्थित होने पर [अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है।]

व्याख्या—इकः ।६।१। यण् ।१।१। अचि=भावसप्तम्यन्तम् । संहितायाम्=विषय-सप्तम्यन्तम् ['संहितायाम्' यह पीछे से अधिकार चला आ रहा है।] महामुनि पाणिनि ने अपने सूत्रों का अर्थज्ञान कराने के लिये कुछ विशेष नियम बनाये हैं, जो कि अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के प्रथमपाद के अन्तर्गत हैं, यह हम पीछे कह चुके है। उनमें 'षष्ठीस्थानेयोगा' (१।१।४८) यह भी एक नियम है, इसका तात्पर्य यह है कि इस शास्त्र में षष्ठीविभक्ति का अर्थ 'स्थान पर' ऐसा करना चाहिए। यथा—'इकः' ।६।१। इसका अर्थ हुआ 'इक् के स्थान पर'। 'एचः' ।६।१। इसका अर्थ हुआ 'एच् के स्थान पर'। परन्तु यह नियम वहां लागू नहीं होगा, जहां सम्बन्ध नियत किया गया होगा। यथा—'ऊद् उपधाया गोहः' (६।४।८९)। ऊत् ।१।१। उपधायाः ।६।१। गोहः ।६।१। यहा गोह् का सम्बन्ध उपधा से नियत किया गया है, अतः यहा स्थानषष्ठी का प्रसङ्ग न होगा। इस विषय का विस्तार काशिका [अष्टाध्यायी की एक व्याख्या] आदि मे देखना चाहिए। यहा 'इकः' इसमें स्थानषष्ठी है, इससे 'इक् के स्थान पर' ऐसा इसका अर्थ होगा। 'अचि' यहा भावसप्तमी या सतिसप्तमी है*। अर्थ—[इकः] इक् के स्थान पर [यण्] यण् होता है [अचि] अच् होने पर [संहितायाम्] संहिता के विषय मे। अच् विद्यमान हो तो संहिता के विषय में अर्थात् संहिता करने की इच्छा होने पर इक् [इ, उ, ऋ, लृ] के स्थान पर यण् [य्, व्, र्, ल्] करना चाहिये। यहां यण् विधान किया गया है, अतः यह अण् प्रत्याहार के अन्तर्गत होता हुआ भी 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (११) से अपने सवर्णियों [अनुनासिक य् व् ल् वर्णों] का ग्राहक नहीं होगा। इक् और अच् दोनों अविधीयमान अण् हैं, अतः ये अपने सवर्णियों के ग्राहक होंगे।

---

*यह सप्तमी 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२।३।३७) सूत्र से विधान की जाती है। इस सप्तमी का 'विद्यमान होने पर' या 'होने पर' ऐसा अर्थ होता है।

'सुधीभिरुपास्य ' इस तृतीयातत्पुरुष समास मे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो ' (७२१) से भिस् और सु का लुक् होने पर 'सुधी+उपास्य' यह रूप हुआ ।

' १ संहितैकपदे नित्या, २ नित्या धातूपसर्गयोः ।
३ नित्या समासे, ४ वाक्ये तु, सा विवक्षामपेक्षते ।।'

एकपद अर्थात् अखण्डपद में, धातु और उपसर्ग मे तथा समास मे सहिता नित्य करनी चाहिये, वाक्य मे सहिता करना 'वक्ता' [यह उपलक्षणार्थ है, 'लेखक' भी समझ लेना चाहिये ।] की इच्छा पर निर्भर है, चाहे करे या न करे । इनके उदाहरण यथा—१ चय, जय । यहा 'चे+अ' 'जे+अ' इस अवस्था मे अयादेश एकपद होने के कारण नित्य होता है । २ 'प्र+एति' यहा धातु और उपसर्ग मे नित्य सहिता होने से वृद्धि हो नित्य 'प्रैति' रूप ही बनेगा । ३ 'गजेन्द्र ' यहा 'गजानामिन्द्र ' इस प्रकार का समास होने से नित्य गुणादेश होगा । ४ 'नाह वेद्मि' यहा वाक्य होने से 'न अह वेद्मि' या 'नाह वेद्मि' दोनों प्रयोग शुद्ध , वक्ता चाहे जिसका प्रयोग करे ।

'सुधी+उपास्य' यहा समास है, अत सहिता नित्य होगी । इस प्रकार सहिता का विषय होने पर 'इको यणचि' (१५) सूत्र प्रवृत्त हुआ । यहा सकार में उकार, धकार मे ईकार तथा 'उपास्य' शब्द का आदि उकार इक् है । यदि सकारस्थ उकार='इक' को यण् करें तो धकारस्थ ईकार='अच्' विद्यमान है । यदि धकारस्थ ईकार='इक्' को यण् करे तो सकारस्थ उकार या 'उपास्य' शब्द का आदि उकार='अच्' विद्यमान है तथा यदि 'उपास्य' शब्द के आदि उकार='इक्' को यण् करें तो पकारस्थ आकार या विपरीत दिशा मे धकारस्थ ईकार='अच्' विद्यमान रहता है । तो अब यह शङ्का उत्पन्न होती है कि किस अच् के विद्यमान रहते किस इक के स्थान पर यण् किया जावे ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिम सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—१६ तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ।१।१।६५।।

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम् ।

अर्थः—सप्तम्यन्त के निर्देश से क्रियमाण कार्य अन्य वर्णों के व्यवधान से रहित पूर्व के स्थान पर जानना चाहिए ।

व्याख्या—तस्मिन्=सप्तम्यन्तानुकरण लुप्तसप्तम्येकवचनान्तम्* । ['इकोयणचि' (१५) आदियों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदो का अनुकरण यहा 'तस्मिन्' शब्द से किया गया है । इसके आगे सप्तमी विभक्ति का 'सुपांसुलुक्—' (७।१।३९) सूत्र से लुक्

*'तस्मिन्' इत्यत्र नागेशस्तु 'अन्ती' त्यादि-सप्तम्यन्तार्थकतच्छब्दात् सप्तमीति मन्यते ।

हुआ २ है। इसका अर्थ 'इको यणचि' (१५) आदियों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों के होने पर' ऐसा होता है।] इति=इत्यव्ययपदम्। निर्दिष्टे।७।१। पूर्वस्य।६।१।

इति शब्द पदके अर्थ को उलटा कर दिया करता है, अर्थात् इसके जोडने से शब्द-परक पद अर्थपरक और अर्थपरक पद शब्दपरक हो जाते है। यथा—'वृक्ष' इस पद का अर्थ लोक मे विद्यमान पदार्थ विशेष है, अत यह अर्थपरक है। अब यदि इसके आगे 'इति' शब्द जोड दे 'वृक्ष इति', तो इसका अर्थ 'वृक्ष' यह लिखा हुआ शब्द हो जायगा। शब्दपरक पद से अर्थपरक पद हो जाना 'नवेति विभाषा' (।१।१।४३।) सूत्र मे 'सिद्धान्त-कौमुदी' मे देखे। तो अब यहा 'तस्मिन्' इस लुप्तसप्तम्यन्त पद का अर्थ "इको यणचि" (१५) आदियो मे स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदो के होने पर" ऐसा था। 'इति' के जोडने से यह शब्द-परक से अर्थ-परक हो गया, अर्थात इसका अर्थ 'इको यणचि' आदियो मे स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदो के अर्थो के होने पर' ऐसा हो गया।

'निर्दिष्टे' पद 'तस्मिन्' पद का विशेषण है। 'निर्' का अर्थ निरन्तर और 'दिश्' धातु का अर्थ 'उच्चारण करना' है। तो इस प्रकार 'निर्दिष्टे' पद का अर्थ 'निरन्तर उच्चरित 'होने पर' ऐसा हो जाता है।

'तस्मिन्' और 'निर्दिष्टे' इन दोनो पदो मे भाव-सप्तमी है। भाव-सप्तमी का अर्थ 'होने पर' ऐसा हुआ करता है। इसे 'सति सप्तमी' भी कहते हैं। यह 'यस्य च भावेन भाव-लक्षणम्' (२ ३ ३७) सूत्र से विधान की जाती है, यथा—'गच्छत्सु बालकेषु त्व स्थित' यहा भाव-सप्तमी है। इस प्रकार इस सूत्र का यह अर्थ हुआ—(तस्मिन्निति) 'इको यणचि' आदि सूत्रों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों के अर्थों के (निर्दिष्टे) निरन्तर उच्चरित होने पर (पूर्वस्य) पूर्व के स्थान पर [कार्य होता है]।

यदि सप्तम्यन्त पद के अर्थ से व्यवधान-रहित पूर्व को कार्य करेंगे तो तभी वह सप्तम्यन्त पद का अर्थ निरन्तर उच्चरित हो सकेगा। अत. निरन्तर कथन से यह प्राप्त हुआ कि 'सप्तम्यन्त पदार्थ के उच्चरित होने पर उससे व्यवधान-रहित पूर्व के स्थान पर कार्य हो'।

यथा—'इको यणचि' (१५) सूत्र मे 'अचि' यह सप्तम्यन्त पद है। इस सप्तम्यन्त पद का अर्थ यहा 'सुधी+उपास्य' में सकारोत्तर उकार, धकारोत्तर ईकार, 'उपास्य' शब्द का आदि उकार तथा पकारोत्तर आकार है। अब हमें इन में से ऐसा सप्तम्यन्त पदार्थ चुनना है, जिस से अव्यवहित पूर्व 'इक्' हो, हम उसी 'इक्' के स्थान पर ही 'यण्' करेंगे। तो ऐसा सप्तम्यन्त पदार्थ यहां 'उपास्य' शब्द के आदि वाले उकार के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्यों से पूर्व अव्यवहित इक् नहीं है। तथाहि—पकारोत्तर

आकार को यदि सप्तम्यन्त पदार्थ अच् माने तो उस से अव्यवहित पूर्व 'उपास्य' शब्द का उकार नहीं होता, पकार का व्यवधान पडता है। यदि धकारस्थ ईकार को सप्तम्यन्त पदार्थ अच् मानें तो उस से अव्यवहित पूर्व सकारस्थ उकार नही होता, धकार का व्यवधान पडता हैं। यदि सकारोत्तर उकार को सप्तम्यन्त पदार्थ अच् माने तो इस से पूर्व कोई इक् नहीं रहता। अत 'उपास्य' शब्द का आदि उकार ही सप्तम्यन्त पद का अर्थ=अच् होने योग्य है और इस से अव्यवहित पूर्व धकारोत्तर ईकार के स्थान पर ही यण् होना चाहिये।*

यह परिभाषा-सूत्र है। परिभाषा-सूत्रो का उपयोग रूप सिद्धि मे नहीं हुआ करता किन्तु इनका उपयोग सूत्रो के अर्थ करने मे ही होता है, अर्थात इनकी सहायता से हम सूत्रों का अर्थ किया करते है। यहा भी इस सूत्र को रखने का तात्पर्य 'इको यणचि' (१४) सूत्र का अर्थ करना ही है। इस सूत्र की सहायता से 'इको यणचि' (१४) का यह अर्थ होगा— अच् होने पर, उससे अव्यवहित पूर्व इक् के स्थान पर यण् होता है संहिता के विषय मे।

शास्त्र मे पर-सप्तमी नाम की किसी सप्तमी का विधान नही किया गया। यही सूत्र जब सप्तम्यन्त पद के अर्थ से अव्यवहित पूर्व को कार्य करने के लिये कहता है तो एक प्रकार से भावसप्तमी ही पर-सप्तमी हो जाया करती है। अत कई लोग 'इको यणचि' (१४) सूत्र का अर्थ 'इक् के स्थान पर यण् हो अच् परे होने पर संहिता के विषय मे' ऐसा भी किया करते हैं। यह अर्थ भी शुद्ध है। आगे चलकर ग्रन्थकार भी इस परिभाषा को सूत्रार्थ के साथ मिलाते हुए 'परे होने पर' ऐसा ही अर्थ करेंगे।

तो अब धकारस्थ ईकार के स्थान पर यण् अर्थात य्, व्, र्, ल् प्राप्त होते हैं। यहा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन चारो मे से कौन सा यण् ईकार के स्थान पर किया जावे ?। इस शङ्का को दूर करने के लिये ग्रन्थकार, पाणिनि जी की अन्य परिभाषा को उद्धृत करते हैं।

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—१७ स्थानेऽन्तरतमः ।१।१।४९॥

प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात् । सुध्य्+उपास्य इति जाते ।

अर्थः—प्रसङ्ग अर्थात् प्रसक्ति [प्राप्ति] होने पर अत्यन्त सदृश आदेश होता है। 'सुध्य्+उपास्य' इस प्रकार हो जाने पर [अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है।]

---

*ध्यान रहे कि कार्य केवल अव्यवहित को ही नहीं होता किन्तु जो अव्यवहित होते हुए पूर्व भी हो उसे कार्य होता है। इसीलिये यहा विपरीतता मे भी कार्य न होगा अर्थात् 'उपास्य' वाले उकार की विपरीत दिशा मे धकारोत्तर ईकार सप्तम्यन्त पदार्थ अच मानें तो उकार को यण न होगा, यद्यपि इसमें कोई व्यवधान नही, तथापि उकार पूर्व नहीं।

व्याख्या—स्थाने ।७।१। अन्तरतम ।१।१। यहा 'अन्तर' शब्द का अर्थ 'सदृश' है। अतिशयितोऽन्तर:=अन्तरतम । अर्थ —(स्थाने) प्राप्ति होने पर (अन्तरतम:) अत्यन्त सदृश आदेश* होता है।

एक के स्थान पर बहुतो की यदि प्राप्ति हो तो उनमे से जो स्थानी+ के अत्यन्त सदृश होगा वही स्थानी के स्थान पर आदेश होगा। वर्णों की सदृशता न तो आकृति से और न ही तराजू से तोल कर की जा सकती है। इनकी सदृशता अर्थ, स्थान, प्रयत्न अथवा मात्रा की दृष्टि से ही देखी जा सकती है। आगे इनके उदाहरण यत्र तत्र आएगे, हम इनका स्पष्टी-करण भी वही करेंगे।

यहा ईकार के साथ यणो की सदृशता अर्थ, प्रयत्न और मात्रा की दृष्टि से तो हो नहीं सकती, अब शेष रहे स्थान की दृष्टि से ही समता करेंगे। ईकार का स्थान 'इचुयशानां तालु' के अनुसार 'तालु' है। यणों मे तालुस्थान यकार का है, अत ईकार के स्थान पर यकार होकर 'सुध्य्+उपास्य' ऐसा हो जायगा।

इस सूत्र में 'अन्तर' शब्द के साथ 'तमप्' जोडा गया है, इस कारण 'सदृशों मे भी जो अत्यन्त सदृश हो वही आदेश हो' ऐसा अर्थ हो जाता है। इसका फल 'वाग्घरि' प्रयोग पर 'हल्सन्धि' में स्पष्ट करेंगे।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१८ अनचि च ।८।४।४७॥

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि । इति धकारस्य द्वित्वम् ।

अर्थः—अच् से परे यर् को विकल्प करके द्वित्व हो जाता है परन्तु अच् परे होने पर नहीं होता। इस सूत्र से धकार को द्वित्व हो जाता है।

व्याख्या—अच ।५।१। ['अचो रहाभ्या द्वे' से] यर ।६।१। ['यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से] द्वे ।१।२। ['अचो रहाभ्यां द्वे' से] वा इत्यव्ययपदम्। ['यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से] अनचि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। समास:—न अच्=अनच्, तस्मिन्=अनचि, नञ्समास । 'नञ्' प्रतिषेधार्थक अव्यय है। प्रतिषेध दो प्रकार का होता है। एक पर्युदास-प्रतिषेध और दूसरा प्रसज्य-प्रतिषेध। तथाहि—

---

*जो किसी क स्थान में उसको हटा कर होता है उसे 'आदेश' कहते हैं। 'शत्रुवदादेश' आदेश शत्रु के समान होता है—शत्रु जैसा व्यवहार करता है। वह स्थानी को हटा कर वहा स्वयं बैठ जाता है। यथा 'सुधी+उपास्य' में ईकार के स्थान पर होने वाला 'य्' आदेश है।

+जिसके स्थान पर आदेश होता है उसे 'स्थानी' कहते हैं। यथा 'सुधी+उपास्य' में ईकार स्थानी है।

द्वौ नञौ तु समाख्यातौ, पर्युदास-प्रसज्यकौ ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेध-कृत् ॥ १ ॥
प्राधान्यं तु विधेर्यत्र, प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्युदासः स विज्ञेयो, यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥ २ ॥
अप्राधान्यं विधेर्यत्र, प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यस्तु स विज्ञेयः, क्रियया सह यत्र नञ् ॥ ३ ॥

इन तीनो श्लोको का तात्पर्य निम्नरीत्या जानना चाहिये ।

पर्युदास–प्रतिषेध

१ इस मे विधि की प्रधानता तथा निषेध की अप्रधानता होती है । यथा—'अब्राह्मणमानय' । यहा लाने की प्रधानता है निषेध की नही, क्योकि लाने का निषेध नही किया गया ।

२ इस मे 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध किया करता है । यथा—'अब्राह्मणमानय' । यहा 'उत्तरपद' 'ब्राह्मण' का निषेध किया गया है ।

३ इस मे जिस का निषेध किया जाता है पुनः विधि मे उस के सदृश का ही ग्रहण किया जाता है । यथा—'अब्राह्मणमानय' । यहा ब्राह्मण का निषेध किया गया है, अब जो लाया जायगा वह भी ब्राह्मण के सदृश अर्थात् पुरुष ही होगा, पत्थर आदि नही लाए जाएगे ।

प्रसज्य–प्रतिषेध

१ इस मे विधि की अप्रधानता तथा निषेध की प्रधानता होती है यथा—'अनृत न वक्तव्यम्' । यहा 'बोलना चाहिये' इस विधि की अप्रधानता और 'न बोलना चाहिये' इस निषेध की प्रधानता है ।

२ इसमे 'नञ्' क्रिया का निषेध किया करता है । यथा—'अनृतं न वक्तव्यम्' । यहां 'नञ्' ने 'बोलना चाहिये' इस क्रिया का निषेध कर दिया है ।

३ यहां केवल निषेध ही होता है । यथा—'अनृतं न वक्तव्यम्' । यहा केवल निषेध ही है ।

हम विद्यार्थियो के अभ्यास के लिये इन दोनो प्रकार के निषेधों के कुछ उदाहरण दे रहे हैं, इनका अत्यन्त सावधानता से अभ्यास करना चाहिये ।

प्रसज्य के उदाहरण—

१ 'न व्यापार-शतेनापि शुकवत् पाठ्यते बकः' ।

यहां 'न पाठ्यते' * इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहा प्रधानता है, अतः यहा 'प्रसज्य' प्रतिषेध है ।

२ 'न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः' ।

यहां 'न प्रविशन्ति' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अत यहां 'प्रसज्य' प्रतिषेध है ।

३ 'शत्रुणा न हि सन्दध्यात्' ।

यहां 'न सन्दध्यात्' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहा प्रधानता है, अतः यहां 'प्रसज्य' प्रतिषेध है ।

४ 'न कुर्यान्निष्फलं कर्म' ।

यहां 'न कुर्यात्' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अत यहां 'प्रसज्य' प्रतिषेध है ।

५ 'एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति' ।

यहां 'न सिध्यति' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अत यहां 'प्रसज्य' प्रतिषेध है ।

पर्युदास के उदाहरण—

१ 'पुत्रः शत्रुरपण्डितः' ।

'अपण्डित' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है । विधि की प्रधानता है । किन्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अत. यहां 'पर्युदास' प्रतिषेध है ।

२ 'जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः' ।

'अनाथ' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है । विधि की प्रधानता है । किन्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अत यहां 'पर्युदास' प्रतिषेध है ।

३ 'दूरादस्पर्शनं वरम्' ।

'अस्पर्शनम्' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है । विधि की प्रधानता

---

*यद्यपि यहां पर पद्य में क्रिया के साथ 'नञ्' साक्षात् नहीं; तथापि

"यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य स ।
अर्थतो ह्यसमर्थानाम् आनन्तर्यमकारणम् ।" [न्यायद० १२६]

इस न्यायदर्शनोद्धृत पद्यानुसार 'क्रियया सह यत्र नञ्' वाली बात समन्वित हो जाती है ।

है। किञ्च— विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अत. यहां 'पर्युदास' प्रतिषेध है।

४ 'नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति'।

'अप्राप्यम्' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अत यहां 'पर्युदास' प्रतिषेध है।

५ 'समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः'।

'अपेया' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अत यहां 'पर्युदास' प्रतिषेध है।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि प्राय समास में पर्युदास और असमास में प्रसज्य प्रतिषेध हुआ करता है। 'प्राय' इसलिये कहा गया है कि कहीं २ इस नियम का उल्लङ्घन भी हो जाया करता है। यथा—'अनचि च' 'सुडनपुंसकस्य' इत्यादि में समास होने पर भी 'प्रसज्य' प्रतिषेध है।

'अनचि' यहां प्रसज्य-प्रतिषेध है, अत 'अच् परे होने पर द्वित्व न हो' इस निषेध की ही प्रधानता होगी, विधि की नहीं। अर्थात् अच् परे न हो, अच् से भिन्न चाहे अन्य वर्ण परे हो या न हो द्वित्व हो जायगा। इस का फल यह होगा कि अवसान में भी द्वित्व हो जायगा। यथा—वाक्क्, वाक्। यदि 'अनचि' में पर्युदास-प्रतिषेध होता तो सदृश का ग्रहण होने से अच् के सदृश=हल् के परे होने पर द्वित्व होता, 'वाक्' इत्यादि अवसान में द्वित्व न हो सकता। अत पर्युदास की अपेक्षा प्रसज्य-प्रतिषेध मानना ही उपयुक्त है। किञ्च—यदि यहां मुनिवर पाणिनि को पर्युदास-प्रतिषेध अभीष्ट होता, तो वे 'अनचि' न कह कर इस के स्थान पर 'हलि' ही कह देते, इस से एक वर्ण का लाघव भी हो जाता; परन्तु उनके ऐसा न कहने से यह प्रतीत होता है कि यहां पर्युदास-प्रतिषेध नहीं किन्तु प्रसज्य-प्रतिषेध है।

अर्थ—(अच) अच् से परे (यर·) यर् प्रत्याहार के स्थान पर (वा) विकल्प करके (द्वे) दो शब्द-स्वरूप हो जाते हैं। (अनचि) परन्तु अच् परे होने पर नहीं होते।

कार्य का होना और पक्ष में न होना 'विकल्प' कहाता है। एक को दो करने का नाम 'द्वित्व' है। द्वित्व हो भी और न भी हो, इसे द्वित्व का विकल्प कहते हैं।*

---

*ध्यान रहे कि विकल्प के दोनों रूप शुद्ध हुआ करते हैं। इनमें से चाहे जिसका प्रयोग करें हमारी इच्छा पर निर्भर है।

'सुध्य्+उपास्य' यहा मकारोत्तर उकार=अच् से परे यर्=धकार को इस सूत्र से विकल्प करके द्वित्व करने से दो रूप बन जाते है—

१ सुध्ध्य्+उपास्य [जहा द्वित्व होता है ।]

२ सुध्य्+उपास्य [जहा द्वित्व नही होता है ।]

अब द्वित्व वाले पक्ष मे अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१६ झलां जश्झशि ।८।४।५३॥

स्पष्टम् । इति पूर्व-धकारस्य दकारः ।

अर्थः—झश् प्रत्याहार परे होने पर झलो के स्थान पर जश हो जाते हैं । इस सूत्र से पूर्व धकार के स्थान पर दकार हो जाता है ।

व्याख्या—झलाम् ।६।३। जश् ।१।१। झशि ।७।१। अर्थ –(झशि) 'झश्' प्रत्याहार परे होने पर (झलाम्) झलो के स्थान पर (जश्) 'जश्' हो जाता है ।

'झलाम्' पद मे 'षष्ठी स्थाने-योगा' (१।१।४८) के अनुसार स्थान-षष्ठी है । 'झशि' पद सप्तम्यन्त है, अत 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१६) सूत्र के अनुसार झश् से अव्यवहितपूर्व झल् को ही जश् होगा, अर्थात् झश् परे होने पर झलो को जश् होगा* ।

झल् प्रत्याहार में वर्गों के चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, प्रथम और ऊष्म वर्ण आते हैं । इनके स्थान पर जश् अर्थात् वर्गों के तृतीय वर्ण [ज्, ब्, ग्, ड, द्] हो जाते हैं, यदि झश् अर्थात् वर्गों के तृतीय चतुर्थ वर्ण परे हों तो ।

'सु ध् ध् य्+उपास्य' यहा द्वित्व वाले पक्ष में इस सूत्र से पूर्व धकार=झल को जश् होता है, क्योंकि इससे परे परला धकार=झश् विद्यमान है । जश् पाञ्च हैं—१ ज्, २ ब्, ३ ग्, ४ ड्, ५ द् । यहा 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) के अनुसार धकार के स्थान पर दकार=जश् होता है [देखो—'लृ-तु-ल-सानां दन्ता'] । यथा—

१ सुद्ध्य्+उपास्य [द्वित्व पक्ष में जश्त्व होकर]

२ सुध्य्+उपास्य [द्वित्वाभाव पक्ष में]

अब दोनों पक्षों मे समान रूप से अग्रिम-सूत्र प्राप्त होता है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२० संयोगान्तस्य लोपः ।८।२।२३॥

संयोगान्तं यत् पदं तस्य लोपः स्यात् ।

अर्थः—जिस पद के अन्त में सयोग हो उसका लोप हो जाता है ।

---

*इस कारण परले 'ध्' को जश् नहीं होगा, क्योंकि समन्तस्थित 'य्' झश नहीं ।

व्याख्या—संयोगान्तस्य ।६।१। पदस्य ।६।१। [यह अधिकार पीछे से आरहा है।] लोप ।१।१। समास —संयोगोऽन्तो यस्य तत्=संयोगान्तम्, बहुव्रीहि-समास । अर्थ — (संयोगान्तस्य) जिसके अन्त मे संयोग है ऐसे (पदस्य) पद का (लोप) लोप हो जाता है।

पाणिनीय-व्याकरण मे 'येन विधिस्तदन्तस्य' [१।१।७१] यह भी एक नियम है। इसका भाव यह है कि विशेषण के साथ तदन्त-विधि करनी चाहिये । यथा—'अचो यत्' (७७३) यहा 'धातो' पद की अनुवृत्ति आकर 'अच ।५।१। धातो ।५।१। यत् ।१।१।' ऐसा हो जाता हे । इसमे 'अच' पद 'धातो' पद का विशेषण है, इसमे तदन्त-विधि होकर 'अजन्त धातु से यत् प्रत्यय हो' ऐसा अर्थ बन जाता है । इस नियम के अनुसार यहां यदि 'संयोगस्य लोप' सूत्र भी बनाते, तो भी 'संयोगस्य' पद के 'पदस्य' पद के विशेषण होने के कारण तदन्त-विधि होकर उपर्युक्त अर्थ सिद्ध हो सकता था, पुन यहा स्पष्ट-प्रतिपत्ति अर्थात् विद्यार्थियो के क्लेश का ध्यान रख अनायास-ज्ञान के लिये ही मुनि ने 'अन्त' पद का ग्रहण किया है ।

"सुद्ध्य्+उपास्य, सुध्य्+ उपास्य" इन रूपो मे क्रमश 'सुद्ध्य्' और 'सुध्य्' संयोगान्त पद है । 'हलोऽनन्तरा संयोग' (१३) के अनुसार 'द्, ध्, य्' अथवा 'ध्, य्' वर्णों की संयोग-सञ्ज्ञा है । 'सुप्तिङन्त पदम्' (१४) सूत्र द्वारा यहा पद-सञ्ज्ञा होती है । यद्यपि इस के अन्त मे सिर्=सुप् लुप्त हो चुका है, तथापि 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१६०) द्वारा सुबन्त के अक्षुण्ण रहने से पद सञ्ज्ञा में कोई दोष नही होता । इस प्रकार दोनो पक्षो में सम्पूर्ण संयोगान्त-लोप प्राप्त होता है । अब अग्रिम-परिभाषा द्वारा केवल अन्त के लोप का विधान करते हैं ।

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—२१ अलोऽन्त्यस्य ।१।१।५२॥

***षष्ठी-निर्दिष्टस्यान्त्यस्याल आदेशः स्यात् । इति यलोपे प्राप्ते—**

अर्थः—आदेश—षष्ठी-निर्दिष्ट के अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। इस सूत्र से (दोनो पक्षो में) यकार के लोप के प्राप्त होने पर (अग्रिम वार्त्तिक द्वारा निषेध हो जाता है ।)

व्याख्या—स्थाने ।७।१। ['षष्ठी स्थाने-योगा' से] विधीयमान आदेश [ये अध्याहार किये जाते है ।] षष्ठ्या ।३।१। ['षष्ठी स्थानेयोगा' से] प्रथमान्त 'षष्ठी' शब्द आ कर तृतीयान्त-रूपेण परिणत हो जाता है ।] निर्दिष्टस्य ।६।१। [इसका अध्याहार किया गया है ।]

---

*अत्र 'षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेश स्यात्' इति क्वाचित्क पाठोऽपपाठ एव ।

अन्त्यस्य ।६।१। अल. ।६।१। अर्थ—(स्थाने) स्थान पर विधान किया आदेश (षष्ठ्या) षष्ठी-विभक्ति से निर्देश किये गये के (अन्त्यस्य) अन्त्य (अल) अल् के स्थान पर होता है।

इसका सार यह है कि जो आदेश षष्ठी-निर्दिष्ट के स्थान पर प्राप्त होता है वह उसके अन्तिम अल् को होता है। यथा—'त्यदादीनाम् अ' (१६३) त्यदादियों को 'अ' हो। यहा 'षष्ठी स्थाने-योगा' (१।१।४८) सूत्र से सम्पूर्ण त्यदादियों के स्थान पर 'अ' प्राप्त होता है, परन्तु इस परिभाषा (२१) से त्यदादियों के अन्त्य अल् को 'अ' हो जाता है। 'त्यदादीनाम्' यह यहा षष्ठी-निर्दिष्ट है।

'रायो हलि' (२१५) हलादि विभक्ति परे होने पर रै शब्द को आकार आदेश होता है। यहा सम्पूर्ण 'रै' के स्थान पर प्राप्त आदेश इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल्=ऐकार को हो जाता है। 'राय' यह यहा षष्ठी-निर्दिष्ट है।

'दिव औत्' (२६४) सु परे होने पर दिव् शब्द को औकार आदेश होता है। यहा सम्पूर्ण 'दिव्' के स्थान पर प्राप्त आदेश इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल्=वकार को ही होता है। 'दिव.' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है।

'दिव उत्' (२६५) पदान्त में दिव् को उकार आदेश हो। यहां सम्पूर्ण दिव् के स्थान पर प्राप्त आदेश इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल्=वकार को ही होता है। 'दिव' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है।

'सयोगान्तस्य लोप' (२०) सयोगान्त पद का लोप होता है। यहां सम्पूर्ण संयोगान्त पद के स्थान पर प्राप्त लोप इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल् के स्थान पर ही होता है। 'सयोगान्तस्य' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है।

यह परिभाषा-सूत्र है, अत इसका उपयोग रूप-सिद्धि में न होकर सूत्रार्थ करने में ही होता है। इस की सहायता से 'सयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र का यह अर्थ होता है—सयोगान्त पद के अन्त्य अल् का लोप हो जाता है। इस प्रकार—

१ सुद्ध्य्+उपास्य। २ मुध्य्+उपास्य।

इन दोनों पदों में अन्त्य अल् यकार का ही लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम वार्त्तिक से यकार के लोप का भी निषेध हो जाता है।

[लघु०] वा०—२ यणः प्रतिषेधो वाच्यः॥

सुद्ध्युपास्यः, मुध्युपास्यः। मद्ध्वरिः, मध्वरिः। धात्त्रंशः, धात्रंशः। लाकृतिः।

अर्थः—संयोग के अन्त में यणों के लोप का निषेध कहना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्त्तिक 'संयोगान्तस्य लोप.' (२०) सूत्र का है। जिस सूत्र पर जो

वार्तिक पढ़ा जाता है वह तद्विषयक ही समझा जाता है। 'संयोगान्तस्य लोप' (२०) सूत्र—सयोगान्त पद के अन्त्य अल् का लोप करता है, अब यदि वे अन्त्य अल् यण् (य्, व्, र्, ल्) होंगे तो उनका लोप न होगा।

इस प्रकार इस वार्तिक से पूर्वोक्त रूपों में प्राप्त यकार-लोप का निषेध हो जाता है।

१ सु द् ध् य् + उपास्य। २ सु ध् य् + उपास्य। ये दोनों उसी तरह अवस्थित रहते हैं।

हमारी लिपि [देव-नागरी] का नियम है कि 'अज्झीन परेण सयोज्यम्' अर्थात् अच् से रहित हल्, अग्रिम वर्ण के साथ मिला देना चाहिये। इस नियमानुसार हलों का अग्रिम वर्णों के साथ संयोग करके 'सुद्ध्युपास्य' और 'सुध्युपास्य' ये दो रूप बनते हैं। अब समास होने से प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होकर विभक्ति आने पर 'सुद्ध्युपास्य', 'सुध्युपास्य' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

नोटः— 'सुधी+उपास्य' इस प्रकार विसर्ग वाला रूप प्रक्रिया-दशा में रखना अत्यन्त अशुद्ध है, क्योंकि समास मे विभक्तियों के लुक् के बाद सन्धि और उसके बाद सु आदि प्रत्यय करने उचित होते है पूर्व नहीं। अत यहाँ 'सुधी+उपास्य' ऐसी दशा में प्रथम सन्धि करके 'सुध्युपास्य' बना लेना उचित है, तदनन्तर सु प्रत्यय लाकर उसके स्थान पर विसर्ग आदेश करने से 'सुध्युपास्य' प्रयोग सिद्ध करना चाहिये। [*]

'मधु+अरि' यहा 'इको यणचि' (१५) सूत्र से धकारोत्तर उकार के स्थान पर यण् प्राप्त होता है, पुनः 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) द्वारा ओष्ठ-स्थान के तुल्य होने के कारण उकार के स्थान पर वकार ही हो जाता है—'म ध् व् + अरि'। अब 'अनचि च' (१८) से धकार को वैकल्पिक द्वित्व होकर द्वित्व पक्ष में 'झलां जश्झशि' (१६) से आदि धकार को दकार करने पर—१. 'मद्ध्व्+अरि और २ मध्व्+अरि' ये दो रूप बनते हैं। अब इस दशा में दोनों पक्षों में 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) की सहायता से 'संयोगान्तस्य लोप' (२०) सूत्र द्वारा वकार के लोप के प्राप्त होने पर 'यणः प्रतिषेधो वाच्य' वार्त्तिक से उसका निषेध हो जाता है। अब 'सु' प्रत्यय लाकर उसके स्थान पर विसर्ग आदेश करने से 'मद्ध्वरि, मध्वरि' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'धातृ+अंश' यहां 'इकोयणचि' (१५) सूत्र से तकारोत्तर ऋकार के स्थान पर यण् प्राप्त होता है, पुन 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) द्वारा मूर्धा-स्थान के तुल्य होने से ऋकार के

---

[*] 'सुधी+उपास्य' में 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (५६) से प्रकृति-भाव नहीं होता, 'न समासे' (वा०-६) से निषेध हो जाता है। 'न भू सुधियो' (२०२) से यणिन्षेध भी नहीं होता, क्योंकि वह अजादि सुप् में निषेध करता है। किञ्च—'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इस न्याय से वह 'एरनेकाच —' (२००) के यण् का निषेध कर सकता है, 'इकोयणचि' (१५) के नहीं।

स्थान पर रेफ ही आदेश हो जाता है—'धातर्+अंश'। अब 'अनचि च' (१८) सूत्र से तकार को वैकल्पिक द्वित्व होकर दोनो पक्षो मे 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) की सहायता से 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र द्वारा रेफ के लोप के प्राप्त होने पर 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' (वा० २) वार्त्तिक से उसका निषेध हो जाता है। अब 'सु' प्रत्यय लाकर विसर्ग आदेश करने से 'धात्त्रंश, धात्रंश' ये दो प्रयोग सिद्ध होते है।

'लृ+आकृति' यहा 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र की सहायता से 'इको यणचि' (१५) सूत्र द्वारा दन्त-स्थान वाले लृकार के स्थान पर तादृश दन्त-स्थानीय लकार आदेश होकर 'सु' प्रत्यय लाकर विसर्ग आदेश करने से 'लाकृतिः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सुद्ध्युपास्यः' और 'मद्ध्वरिः' प्रयोगो की सिद्धि एक समान होती है। 'धात्त्रंश' मे जश्त्व की तथा 'लाकृतिः' मे द्वित्व और जश्त्व दोनो की प्रवृत्ति नही होती।

टिप्पणी—सुधीभिः=विद्वद्भिः उपास्यः=आराधनीयः=सुद्ध्युपास्यो भगवान् विष्णु-रित्यर्थः। [विद्वानों द्वारा आराधना करने योग्य भगवान् विष्णु।] मधोः=तदाख्यस्य दैत्यस्य अरिः=शत्रुः=मद्ध्वरिः, भगवान् विष्णुः। ['मधु' नामक दैत्य को मारने के कारण भगवान् विष्णु 'मद्ध्वरि' कहाते है।] धातुः=ब्रह्मणः, अंशः=भागः=धात्त्रंशः। [ब्रह्मा का भाग।] लृः आकृतिरिव आकृतिः=स्वरूपं यस्य सः=लाकृतिः, वंशी-वादन-समये वक्राकृतिश्श्रीकृष्ण इत्यर्थः। [बासुरी बजानेके समय 'लृ' के समान टेढ़ी आकृति वाले श्रीकृष्ण]

अभ्यास (२)

(१) अधोलिखित रूपों में सूत्रोपपत्ति-पूर्वक सन्धिच्छेद करो।

१ बस्लादेश। २ मात्राज्ञा। ३ वद्ध्वागमनम्। ४ यद्यपि। ५ लनुबन्ध। ६ कर्त्रायु। ७ अृखिदम्। ८ करोत्ययम्। ९ लाकार। १० पित्रधीनम्। ११ चार्वङ्गी। १२ वार्येति। १३ लादेश। १४ धात्रेतत्। १५ गुर्वाज्ञा। १६ह्ययम्। १७ गम्लादेश। १८ असौ। १९ खल्वेहि। २० दध्यत्र। २१ मद्ध्वामय। २२ अस्त्यनुभव। २३ कुर्विदम्। २४ भर्त्रादेश। २५ पुनर्वस्त्वृक्ष।

(२) निम्नलिखित रूपों में सूत्रोपपत्ति-पूर्वक सन्धि करो।

१ शशी+इदियाय। २ सिध्यतु+एतत्। ३ भाति+अम्बरे। ४ धातु+आदेश। ५ धातृ+असौ। ६ लृ+अङ्क। ७ शिशु+अङ्क। ८ नृ+आत्मज। ९ स्मृति+आदेश। १० अनु+आदेश। ११ पितृ+अर्चा। १२ अपि+पुतत। १३ वृत्रेषु+अभिलाष। १४ त्वष्टृ+आकाङ्क्षा। १५ दर्वी+असौ। १६ अभि+उदय। १७ प्रति+एक। १८ वधू+अलङ्कार। १९ वस्तु+अस्ति। २० भ्रातृ+उत्कम्।

(३) 'लाकृति' का क्या विग्रह है ? 'लृ' शब्द का षष्ठ्येकवचन तथा प्रथमैकवचन क्या बनेगा ? अथवा 'लृ' शब्द का उच्चारण लिखो।

(४) प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेधो का तात्पर्य अपनी भाषा मे स्पष्ट करते हुए 'नाय शशी' और 'अश्राद्धभोजी ब्राह्मण' मे कौन सा निषेध है सोपपत्तिक लिखें।

(५) 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' 'अलोऽन्त्यस्य' तथा 'स्थानेऽन्तरतम' ये सूत्र यदि न होते तो कौन २ सी हानियां होती ? सोदाहरण स्पष्ट करें।

(६) 'अनचि च' सूत्र मे कौन सा प्रतिषेध है और वैसा मानने की क्या आवश्यकता है ?।

(७) संहिता की विवक्षा कहां २ नित्य और कहा २ ऐच्छिक हुआ करती है ? सप्रमाण सोदाहरण विवेचन करें।

(८) 'सुधी+उपास्य' मे 'इकोऽसवर्णे—' सूत्र से प्रकृतिभाव क्यो नहीं होता ? अथवा 'न भू-सुधियो' से यणिनषेध क्यों नहीं होता ?।

—०❀०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२२ एचोऽयवायावः ।६।१।७६॥

एचः क्रमाद् अय्, अव्, आय्, आव् एते स्युरचि।

अर्थः—अच् परे होने पर एच् के स्थान पर क्रमश अय्, अव्, आय्, आव् आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—एच ।६।१। ['षष्ठी स्थाने-योगा' के अनुसार यहा स्थान-षष्ठी है।] अयवायाव ।१।३। अचि ।७।१। ['इको यणचि' सूत्र से] सहितायाम् ।७।१। [यह पीछे से अधिकृत है।] समास—अय् च अव् च आय् च आव् च=अयवायावः इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ—(अचि) अच् परे होने पर (संहितायां) संहिता के विषय में (एच.) एच् के स्थान पर (अयवायाव) अय्, अव्, आय्, आव् हो जाते हैं।।

'एच्' प्रत्याहार के मध्य 'ए, ओ, ऐ, औ' ये चार वर्ण आते हैं। इनके स्थान पर 'अय्, अव्, आय्, आव्' ये चार आदेश होते हैं यदि इनसे परे अच् अर्थात् स्वर हों तो।

'सहिता' के विषय में पीछे लिख चुके है, वही नियम यहा और अन्यत्र सब जगह समझ लेना चाहिये।

'अचि' यहा भाव-सप्तमी है, यह पूर्ववत् 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१६) परिभाषा द्वारा पर-सप्तमी हो जाती है।

यहां वृत्ति में 'क्रमात्' पद 'यथा-सङ्ख्यमनुदेश समाना' (२३) परिभाषा के कारण आया हुआ है। अब इस परिभाषा को स्पष्ट करते है—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—२३ यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्
।१।३।१०॥

समसम्बन्धी विधिर्यथासङ्ख्य स्यात्। हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः।

अर्थः—[सङ्ख्या की दृष्टि से] समान सम्बन्ध वाली विधि सङ्ख्या के अनुसार हो।

व्याख्या—समानाम् ।६।३। अनुदेश ।१।१। यथा-सङ्ख्यम् ।१।१। समास—सङ्ख्याम् अनतिक्रम्येति यथासङ्ख्यम्, अव्ययीभाव-समास। यहां समानता सङ्ख्या की दृष्टि से अभिप्रेत है। अर्थ—(समानाम्) समान सङ्ख्या वालों का (अनुदेश) कार्य्य (यथा-सङ्ख्यम्) सङ्ख्या के अनुसार अर्थात् बारी २ से होता है।

'समानाम्' मे 'षष्ठीशेषे' (१०१) सूत्र द्वारा सम्बन्ध में षष्ठी हुई है। यदि यहा 'कर्तृ-कर्मणो कृति' (२।३।६५) सूत्र द्वारा कर्म मे षष्ठी माने तो जहा स्थानी के साथ तुल्य सङ्ख्या वालो का विधान किया जाएगा, वहां ही इस सूत्र की प्रवृत्ति हो सकेगी, यथा—'एचोऽयवायाव' सूत्र मे। परन्तु जहा विधीयमान सम-सङ्ख्यक न होंगे किन्तु प्रकारान्तर से समान सङ्ख्या होती होगी वहा इस सूत्र की प्रवृत्ति न हो सकेगी, यथा—'समूलाकृत जीवेषु हन्कृञ्ग्रह' (३।४।३६) यहा विधीयमान 'णमुल्' एक है, इसकी किसी के साथ समान सङ्ख्या नही है, तीन उपपदो की तीन धातुओ के साथ समान सङ्ख्या है। यहा यदि यथासङ्ख्य नहीं करते तो अनिष्ट हो जाता है। अत 'समानाम्' पद मे कर्मणि षष्ठी न मान कर शेष-षष्ठी मानना ही युक्त है।

'एचोऽयवायाव' (२२) सूत्र द्वारा विहित 'अय्, अव्, आय, आव्' यह आदेश-रूप विधि सम-विधि है, क्योंकि एच् (ए, ओ, ऐ, औ) भी चार हैं और अय्, अव, आय्, आव् ये आदेश भी चार है। अत इस परिभाषा द्वारा यह विधि बारी २ अर्थात् पहले को पहला, दूसरे को दूसरा, तीसरे को तीसरा और चौथे को चौथा इस ढंग से होगी। 'ए' पहले को पहला अय्, 'ओ' दूसरे को दूसरा अव 'ऐ' तीसरे को तीसरा आय् तथा 'औ' चौथे को चौथा आव होगा। इन सब के क्रमशः उदाहरण यथा—

हरे+ए=हर् अय्+ए=हरये। विष्णो+ए=विष्णु अव्+ए=विष्णवे।

इन दोनों उदाहरणों में 'हरि' और 'विष्णु' शब्दों से चतुर्थी का एकवचन 'ङे' आने पर ङकार अनुबन्ध का लोप हो 'घेर्ङिति' (१७२) सूत्र से गुण हो जाता है।

नै+अक=न् आय्+अक=नायकः। पौ+अक=प आव्+अक=पावकः।

इन दोनों उदाहरणों मे 'णी' और 'पू' धातुओं से 'ण्वुल्' प्रत्यय आने पर अनुबन्धों का लोप तथा 'वु' के स्थान पर अकादेश होकर 'अचोञ्णिति' (१८२) सूत्र से क्रमशः ईकार

ऊकार को ऐकार औकार वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार भावुक, चयनम्, गायन, पवन आदि प्रयोगो मे भी अयादि-प्रक्रिया समझ लेनी चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४ वान्तो यि प्रत्यये। ६।१।७८॥

यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोर् अव् आव् एतौ स्तः।

गव्यम्। नाव्यम्।

अर्थः—यकारादि प्रत्यय परे होने पर 'ओ' को अव् तथा 'औ' को आव् हो जाता है।

व्याख्या—वान्त ।१।१। यि ।७।१। प्रत्यये ।७।१। मुनि-वर पाणिनि के 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७१) नियम का 'यस्मिन्विधिस्तदाऽऽवल्ग्रहणे' यह वार्तिक अपवाद है। इसका अभिप्राय यह है कि सप्तम्यन्त एकाल् विशेषण से तदन्त-विधि न हो किन्तु तदादि-विधि हो। यहा यि' यह सप्तम्यन्त एकाल् है और 'प्रत्यये' का विशेषण है, अत इससे तदादि-विधि होकर 'यादौ प्रत्यये' ऐसा बन जायगा। समास—व अन्ते यस्य स =वान्त, वकाराद कार उच्चारणार्थ, बहुव्रीहि-समास। जिसके अन्त मे 'व्' हो उसे वान्त कहते हैं। यहा वान्त मे अभिप्राय पूर्व-सूत्र-पठित अव्, आव् आदेशों से है। यहां स्थानी 'ओदौतोश्चेति वक्तव्यम्' वार्त्तिक मे ओ और औ समझने चाहियें। अर्थ- (यि=यादौ) जिसके आदि में 'य्' हो ऐसे (प्रत्यये) प्रत्यय के परे होने पर (वान्त) 'ओ' और 'औ' के स्थान पर अव् और आव् आदेश हो जाते हैं। इनके उदाहरण यथा—

'गो+य' [यहा 'गो' से 'गोपयसोर्यत' (४।३।१६०) द्वारा 'यत' प्रत्यय होता है।] यहा 'य' यह यकारादि प्रत्यय परे है अत गकारोत्तर औकार के स्थान पर अव् आदेश हो—ग् अव्+य=गव्य। अब विभक्ति लाने से 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है। [गोर्विकार = गव्यम्, दुग्ध-दध्यादिकमित्यर्थ। दूध, दही आदि गौ के विकार 'गव्य' कहाते हैं।]

'नौ+य' [यहा 'नौ' से तार्य='तरने योग्य' अर्थ में 'नौ वयो-धर्म——' (४।४।९१) सूत्र से 'यत' प्रत्यय होता है।] यहा 'य' यह यकारादि प्रत्यय परे है अत. नकारोत्तर औकार के स्थान पर आव् आदेश होकर विभक्ति लाने से 'नाव्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है। [नावा तार्यम्=नाव्यं जलम्, नौका से तरने योग्य जल को 'नाव्य' कहते हैं, यथा—'गङ्गाया नाव्यं जलं वर्त्तते'।]

इन उदाहरणों में 'अच्' परे न होने के कारण 'एचोऽयवायाव' (२२) सूत्र से काम नहीं चल सकता था अत यह सूत्र बनाना पडा है।

[लघु०] वा०—३ अध्वपरिमाणे च ॥

गव्यूतिः ।

अर्थः—'गो' शब्द से 'यूति' शब्द परे होन पर ओकार को वान्त (अव्) आदेश हो जाता है, यदि समुदाय मे मार्ग का परिमाण (माप) अर्थ ज्ञात हो तो ।

व्याख्या—गो ।६।१। यूतौ ।७।१। ['गोयूतौ छन्दस्युपसङ्ख्यानम्' से] वान्त ।१।१। ['वान्तो यि प्रत्यये' से] अध्व-परिमाणे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थ—(यूतौ) 'यूति' शब्द परे होने पर (गो) 'गो' शब्द के ओकार के स्थान पर (वान्त) 'अव्' आदेश हो (अध्व-परिमाण) मार्ग के परिमाण अर्थात् माप के गम्यमान होने पर । उदाहरण यथा—

गो+यूति=ग् अव्+यूति=गव्यूति । इस का अर्थ 'दो कोस' है । जहा मार्ग-परिमाण अर्थ न होगा वहा 'गोयूति ' बनेगा ।

यहा पर यकारादि प्रत्यय न होने से यह वार्त्तिक बनाना पडा है ।

अभ्यास (३)

१ निम्न-लिखित रूपो मे सन्धिच्छेद कर के सूत्रो द्वारा उसे सिद्ध करे ।

१ वटवृक्ष * । २ ग्लायति । ३ भवति । ४ गणयति । ५ माण्डव्य † । ६ स्तावक । ७ नयति । ८ गायन्ति । ९ नाविक । १० शयनम् । ११ जय । १२ गोपयति । १३ औपगव । १४ चय । १५ चिखाय । १६ अलावीत् । १७ पवन । १८ नय । १९ त्रायते । २० कवये । २१ क्षय । २२ मनवे । २३ रायौ । २४ पपावसाविह । २५ द्रवति ।

२ निम्न-लिखित रूपों में सन्धि कर के सूत्रों द्वारा उसे सिद्ध करें ।

१ असौ+अयम् । २ असे+ए । ३ चे+अन । ४ लो+अन । ५ चोरे+अति । ६ भौ+उक । ७ गै+अक । ८ साधो+ए । ९ शङ्को+य× । १० अग्नौ+इह । ११ भौ+अयति १२ पो+इत्र । १३ शे+आन । १४ भो+अन । १५ ग्लौ+औ । १६ बाभ्रो+य ‡ । १७ गो+यूति । १८ बालौ+अत्र ।

३ 'एचोऽयवायाव ' सूत्र मे यदि 'अचि' पद का अनुवर्त्तन न करें तो कौन सा दोष उत्पन्न हो जायगा ?

*'वटो+वृक्ष ' इतिच्छेद ।

†'मण्डु' शब्दाद् गोत्रापत्ये 'गर्गादिभ्यो यञ्' (१००५) इति यञ् ।

×शङ्कु शब्दात् 'तस्मै हितम्' (५।१।५) इत्यधिकारे 'उगवादिभ्यो यत् ' (५। १। २) इति यत् प्रत्यय ।

‡बभ्रु शब्दाद् अपत्येऽर्थे 'मधु बभ्र्वोर्ब्राह्मण-कौशिकयो ' (४।१।१०६) इति यञ्, ञित्वादादि-वृद्धौ ' ओर्गुणः ' (१००२) इति गुण ।

४ 'यथा-सङ्ख्यमनुदेश समानाम्' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या करते हुए 'समानाम्' पद पर प्रकाश डाले।

५ 'वान्तो यि प्रत्यये' और 'अध्व-परिमाणे च' के निर्माण का प्रयोजन बताए।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२५ अदेङ् गुणः। १। १। २॥

अद् एङ् च गुण-सञ्ज्ञः स्यात्।

अर्थः—अ, ए, ओ, इन तीन वर्णों की 'गुण' सञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या—अत् ।१।१। एङ् ।१।१। गुण ।१।१। अर्थ—(अत्, एङ्) अ, ए, ओ ये तीन वर्ण (गुण) गुण-सञ्ज्ञक होते हैं। इस सूत्र पर जो वक्तव्य है वह अग्रिम सूत्र पर लिखा जायगा।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२६ तपरस्तत्कालस्य। १। १। ६९॥

तः परो यस्मात् स च, तात् परश्चोच्चार्यमाणसमकालस्यैव सञ्ज्ञा स्यात्।

अर्थः—'त्' जिससे परे है और 'त्' से जो परे है वह अपने सदृश काल वालों की सञ्ज्ञा होता है।

व्याख्या—तपर ।१।१। तत्कालस्य ।६।१। स्वस्य ।६।१। ['स्व रूप शब्दस्याशब्द-सञ्ज्ञा' से विभक्ति-विपरिणाम करके] समास—तात् पर=तपर, पञ्चमी-तत्पुरुष। तः परो यस्मादसौ तपर, बहुव्रीहि-समास। तस्य=तपरत्वेनोच्चार्यमाणस्य काल इव कालो यस्य स तत्काल, तस्य=तत्कालस्य, बहुव्रीहि-समास। अर्थ—(तपर) 'त्' जिससे परे है और 'त्' से जो परे है वह (तत्कालस्य) अपने काल के समान काल वालो की तथा (स्वस्य) अपनी सञ्ज्ञा होता है।

'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्यय' (११) सूत्र द्वारा अण् अपने तथा अपने सवर्णों के बोधक होते हैं, यह पीछे कह चुके है। यह सूत्र उसका अपवाद (निषेध करने वाला) है। जिसके आगे या पीछे 'त्' लगाया जाए वह केवल अपना तथा अपने काल के सदृश काल वाले सवर्णों का ही ग्राहक हो अन्य सवर्णों का न हो, यही इस सूत्र का तात्पर्य है। यथा—'अदेङ् गुण' (२५) यहा 'अ' तपर है, क्योकि इससे परे 'त्' है, एवम् 'एङ्' भी तपर है, क्योंकि यह 'त्' से परे है। अब यहा 'अ' और 'एङ्' ये दोनों तपर अण्-प्रत्याहार के अन्तर्गत होते हुए भी 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्यय' (११) सूत्र द्वारा अपने सम्पूर्ण सवर्णों का ग्रहण न कराएगे, किन्तु उन्हीं सवर्णों का ग्रहण कराएगे जिनका काल इनके साथ तुल्य होगा।

अ' यह एक मात्रिक है, अतः यह अपने एक-मात्रिक सवर्णों का ही बोधक होगा दीर्घादियों का नहीं। एङ्, अर्थात् 'ए', ओ' द्वि-मात्रिक हैं, अतः ये अपने द्विमात्रिक सवर्णों के ही बोधक होंगे ह्रस्वादियों के नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि तपर अ'—केवल अपने समकाल वाले छः ह्रस्व भेदों का ही ग्राहक होगा सम्पूर्ण अठारह भेदों का नहीं। इसी प्रकार तपर ए ओ'—केवल अपने समकाल वाले छः दीर्घ भेदों के ही ग्राहक होंगे सम्पूर्ण बारह भेदों के नहीं। एवम् तपर इ, उ, ऋ, आ, ई आदियों में भी समझ लेना चाहिये।*

तो अब अदेङ् गुणः' (२५) सूत्र का यह अर्थ हुआ—'ह्रस्व अकार, दीर्घ एकार तथा दीर्घ ओकार गुणसञ्ज्ञक होते हैं'। अब अग्रिम सूत्र में गुण-सञ्ज्ञा का उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२७ आद् गुणः ।६।१।८६॥

अवर्णादचि परे पूर्व-परयोरेको गुण आदेशः स्यात्। उपेन्द्रः। गङ्गोदकम्।

अर्थः—अवर्ण से अच् परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर एक गुण आदेश हो जाता है।

व्याख्या—'अष्टाध्यायी के छठे अध्याय के प्रथम पाद में एकः पूर्वपरयोः' (६।१।८२) यह अधिकार सूत्र है इसका अधिकार ख्यत्यात्परस्य' (६।१।१०९) सूत्र के पूर्व तक जाता है। इस अधिकार+ में 'पूर्व पर दोनों के स्थान पर एक आदेश होता है'। यह 'आद् गुणः' (२७) सूत्र भी इसी अधिकार में पढ़ा गया है। आत् ।५।१। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है] गुणः ।१।१। अर्थः—(आत्) अवर्ण से (अचि) अच् परे होने पर

---

* ध्यान रहे कि इस तपर से अतिरिक्त विभक्ति तपर भी हुआ करता है। यथा- 'आद्गुणः' (२७) यहां पर 'आत्' यह 'आ' शब्द की पञ्चमी का 'त्' है अतः यहां पर ह्रस्व (उपेन्द्र) दीर्घ (रमेश) दोनों अकारों का ग्रहण हो जाता है। इसमें 'उपसर्गादृति धातौ' (३७) सूत्र ज्ञापक है। 'उपसर्गात्' यहां पञ्चमी का 'त्' है यदि यहां पर भी तपरस्तत्कालस्य' (२६) का उपयोग करते हैं, तो फिर उससे परे स्थित 'ऋ' में तपर-ग्रहण व्यर्थ हो जाता है।

+इस अधिकार के २१ सूत्र 'लघुकौमुदी' में प्रयुक्त किये गये हैं। तथाहि—१ अन्तादिवच्च। (४१), २ आद्गुणः। (२७), ३ वृद्धिरेचि। (३३), ४ एत्येधत्यूठ्सु। (३४), ५ आटश्च। (१६७), ६ उपसर्गादृति धातौ। (३७), ७ औतोऽम्शसोः। (२१४), ८ एङि पररूपम्। (३८), ६ ओमाङोश्च। (४०), १० उस्यपदान्तात्। (४६२), ११ अतो गुणे। (२७४), १२ अकः सवर्णे दीर्घः। (४२), १३ प्रथमयोः पूर्वसवर्णः। (१२६), १४ तस्माच्छसो नः पुंसि (१३७), १५ नादिचि (१२७), १६ दीर्घाज्जसि च (१६२), १७ अमि पूर्वः (१३५), १८ सम्प्रसारणाच्च (२५८), १६ एङः पदान्तादति (४३), २० ङसि-ङसोश्च (१७३), २१ ऋत उत् (२०८), इन सूत्रों को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

(पूर्व परयो) पूर्व और पर के स्थान पर (एक) एक (गुण) गुण आदेश होता है।

अवर्ण से अवर्ण परे होने पर 'अक सवर्णे दीर्घः' (४२) तथा अवर्ण से 'ए, ओ ए, औ' परे होने पर 'वृद्धिरेचि (३३) सूत्र इस गुण को बाध लेते हैं अत अवर्ण से इकार उकार, ऋकार तथा ऌकार परे होने पर ही गुण प्रवृत्त होता है।

उदाहरण यथा— उपेन्द्र'। [विष्णु]।

'उप+इन्द्र' यहां पकारोत्तर अवर्ण से परे इन्द्र' का आदि अच् इ' विद्यमान ह अत पूर्व=अवर्ण तथा पर=इवर्ण दोनों के स्थान पर एक गुण प्राप्त होता है। अदेङ गुण' (२५) सूत्र के अनुसार अ, ए, ओ' ये तीन गुण हैं। अब इन तीनों में से कौन सा गुण अ+इ' के स्थान पर किया जाए? इस शङ्का के उत्पन्न होने पर स्थानेऽन्तरतम' (१७) सूत्र से स्थान-कृत आन्तर्य द्वारा 'अ+इ' क स्थान पर 'ए' गुण हो जाता है। [अ+इ' का स्थान कण्ठ+तालु' है गुणो मे कण्ठ+तालु स्थान वाला 'ए' ही है।] उप 'ए' न्द्र='उपेन्द्र' * प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'गङ्गोदकम्'। [गङ्गा का जल]

गङ्गा+उदक' यहां गकारोत्तर 'आ' अवर्ण है, इससे परे 'उदक' का आदि उ अच विद्यमान है। 'आ+उ' का स्थान 'कण्ठ+ओष्ठ' है। तीनों गुणों में कण्ठ+ओष्ठ' स्थान 'ओ' का ही है अत पूव=आ और पर=उ इन दोनों के स्थान पर+ 'आद् गुण' (२७) द्वारा 'ओ' यह एक गुण आदेश हो कर गङ्ग् ओ' दक=गङ्गोदकम् प्रयोग सिद्ध होता है।

अवर्ण से ऋ, ऌ परे वाले उदाहरणों म उरण्रपर' (२६) सूत्र का उपयोग किया जाता है, वह सूत्र 'रँ' प्रत्याहार क आश्रित है, अत प्रथम 'रँ' प्रत्याहार की सिद्धि के लिये 'इत्' सञ्ज्ञा करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२८ उपदेशेऽजनुनासिक इत्।१।३।२॥

उपदेशेऽनुनासिकोऽज् इत्सञ्ज्ञ' स्यात्। प्रतिज्ञानुनासिक्या पाणिनीया। 'लण्' सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयो' सञ्ज्ञा।

अर्थः—जो अच् उपदेश अवस्था में अनुनासिक हो, उसकी इत् सञ्ज्ञा होती है।

---

*'जब समास' दे में सन्धि हो चुकती है तब विभक्ति की उत्पत्ति हुआ करती है' यह हम पीछे लिख चुक हैं, सवत्र नहीं लिखेंगे।

+यद्यपि 'गङ्गा+उदक' में 'आ+उ' स्थानी क त्रिमात्र होने से आदेश 'ओ' भी सदृशतम त्रिमात्र होना चाहिए, तथापि 'अदेङ गुण' [२५] में एङ क 'तपर' होने से द्विमात्र 'ओ ही गुण एक हो जाता है। यह पूर्व सूत्र में सङ्केतित कर आये हैं।

प्रतिज्ञेति—पाणिनि के वर्ण प्रतिज्ञा अर्थात् गुरु परम्परा के उपदेश से अनुनासिक धर्म वाले हैं। लण् इति—लण् सूत्र में स्थित लकारोत्तर अवर्ण (अन्त्य) के साथ युक्त हुआ रेफ (आदि) र् और ल् वर्णों की सञ्ज्ञा होता है।

व्याख्या—उपदेशे ।७।१। अनुनासिकः ।१।१। अच् ।१।१। इत् ।१।१। अर्थ—(उपदेशे) उपदेश अवस्था में (अनुनासिक) अनुनासिक (अच्) अच् (इत्) इत् सञ्ज्ञक होता है।

महामुनि पाणिनि ने अपने व्याकरण में अनुनासिक अचों पर (ँ) इस प्रकार का चिह्न किया था* परन्तु अब वह अनुनासिक पाठ परिभ्रष्ट हो गया है। अतः अब अनुनासिक जानने की व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिये—

"प्रतिज्ञाऽनुनासिक्या पाणिनीया"।

पाणिनीया=पाणिनिना प्रोक्ता वर्णा, प्रतिज्ञया=गुरुपरम्परोपदेशेन आनुनासिक्या=अनुनासिक धर्मवन्त सन्तीति शेष। अर्थ—पाणिनि से कहे गये वर्ण गुरु परम्परा के उपदेशानुसार अनुनासिक धर्म वाले जानने चाहियें। तात्पर्य यह है कि अनुनासिक के विषय में अब तक आ रही गुरु परम्परा का आश्रय करना ही युक्त है। गुरुपरम्परा से जो २ अनुनासिक चला आ रहा है उसे अनुनासिक और जो अनुनासिक नहीं माना जा रहा उसे अनुनासिक न मानना ही ठीक है।

इस सूत्र से 'लण्' में लकारोत्तर अकार की इत् सञ्ज्ञा हो जाती है, क्योंकि गुरु परम्परा से 'लणमध्येत्वित्सञ्ज्ञक' ऐसा प्रवाद चला आ रहा है अतः यह अनुनासिक 'लँण्' इस रूप में है।

इस अन्त्य इत्=अकार के साथ 'हयवरट्' सूत्र का 'र' [देखो—'हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः'।] मिलाने से र्+अँ='रँ' प्रत्याहार बन जाता है, इस 'रँ' प्रत्याहार के अन्तर्गत 'र्' और 'ल' ये दो वर्ण आते हैं। णकार 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्-सञ्ज्ञक है अतः मध्यवर्ती होने पर भी उसका ग्रहण नहीं होता।

अब 'रँ' प्रत्याहार का अग्रिम सूत्र में उपयोग बतलाते हैं—

---

*जैसे 'एधँ वृद्धौ, गम्लृँ गतौ, यजँ देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इनमें अनुनासिक का चिह्न होने से ये अक्षर पाणिनि को 'इत्' अभीष्ट हैं। अनुदात्तेत् होने से एध धातु आत्मनेपदी और स्वरितेत् होने से यज धातु उभयपदी है। 'गम्लृ' धातु में लृकार न अनुदात्त है और न स्वरित अतः अवशिष्ट उदात्त है, उदात्तेत् होने से गम्लृ धातु परस्मैपदी है। इत् सञ्ज्ञा किसी प्रयोजन के लिये होती है। प्रयोजनाभाव में अकार उच्चारणार्थक ही होता है।

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—२६ उरण्रपरः ।१।१।५०॥

'ऋ इति त्रिंशतः सञ्ज्ञे' त्युक्तम्, तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्त्तते। कृष्णर्द्धिः। तवल्कारः।

अर्थः—'ऋ' यह तीस की सञ्ज्ञा है यह हम पीछे ('अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' सूत्र पर) कह चुके हैं। उस तीस प्रकार वाले 'ऋ' के स्थान पर यदि अण् करना हो तो वह 'र्' प्रत्याहार परे वाला ही प्रवृत्त होता है।

व्याख्या—उः ।६।१। ['ऋ' शब्द का षष्ठी के एकवचन में 'पितुः' के समान उः प्रयोग बनता है।] अण् ।१।१। रपरः ।१।१। समास—रः परो यस्माद् असौ रपरः, बहुव्रीहि समास। अर्थ—(उः) 'ऋ' वर्ण के स्थान पर (अण्) अण् अर्थात् अ, इ, उ (रपरः) 'र्' प्रत्याहार परे वाले होते हैं।

'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (११) सूत्र पर 'ऋ' की तीस सञ्ज्ञाओं का प्रतिपादन कर चुके हैं उस 'ऋ' के स्थान पर यदि अण् (अ इ उ) आदेश होगा तो वह 'र्' प्रत्याहार परे वाला अर्थात् उससे परे र् और ल् भी होंगे। यथा—अर्, अल्, आर्, आल्, इर्, इल्, उर्, उल् इत्यादि। उदाहरण यथा—

'कृष्णर्द्धिः' [कृष्ण की समृद्धि]। कृष्ण+ऋद्धिः' यहां णकारस्थ अवर्ण से परे ऋकार=अच् के विद्यमान होने से 'आद् गुणः' (२७) सूत्र द्वारा पूर्व+पर के स्थान पर एक गुण प्राप्त होता है। 'अ+ऋ' का स्थान 'कण्ठ+मूर्धा' है। तीनों गुणों में 'कण्ठ' स्थान तो सब का मिलता है पर मूर्धा स्थान किसी का नहीं मिलता। अब यदि पूर्व+पर के स्थान पर 'अ' गुण करें तो उस से परे 'र्' प्रत्याहार प्राप्त हो जाता है। 'र्' प्रत्याहार में र् और ल दो वर्ण आते हैं, 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) द्वारा 'ऋ' के स्थान पर अण् करने से उस से परे 'र्' और 'लृ' के स्थान पर अण् करने से उस से परे 'ल' भी साथ प्रवृत्त हो जाता है। यहां पूर्व+पर के स्थान पर एकादेश होने से 'ऋ' के स्थान पर अण् (अ) करना है अतः उस से परे 'र्' भी हो जाता है। इस प्रकार 'अर्' का स्थान 'कण्ठ+मूर्धा' होने से स्थानी और आदेश तुल्य हो जाते हैं। तो अब 'अर्' करने से कृष्ण् 'अर्' द्धिः = 'कृष्णर्द्धिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'तवल्कारः' [तेरा लृकार]। 'तव+लृकारः' यहां 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश प्राप्त होने पर 'उरण्रपरः' (२६) से 'र्' प्रत्याहार भी परे प्राप्त होता है। अब 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र से लपर अण् होकर तव् 'अल्' कारः = 'तवल्कारः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अभ्यास (४)

१ निम्न लिखित रूपों में सन्धिच्छेद कर उस सूत्रों द्वारा सिद्ध करो—

१ गजेन्द्र । २ परीक्षोत्सव । ३ वसन्तर्तु । ४ रमेश । ५ सूर्योदय । ६ गणेश । ७ देवर्षि । ८ ममत्कार । ९ हितोपदेश । १० तथेति । ११ अत्यन्तोर्ध्वम् । १२ परमोत्तम । १३ नेति । १४ यथेच्छम् । १५ उमेश । १६ महर्षि । १७ यज्ञोपवीतम् । १८ महेष्वास । १९ विकलेन्द्रिय । २० तवोत्साह । २१ वेदर्क । २२ दयोदयोज्ज्वल ।

२ अधोलिखित प्रयोगों में उपपत्ति पूर्वक सूत्रों द्वारा सन्धि करो—

१ महा+ईश । २ तीव्र+उच्चारण । ३ राम+इतिहास । ४ न+उपलब्धि । ५ भाष्य कार+इष्टि । ६ परम+उपकारक । ७ स्वच्छ+उदक । ८ सतत+उद्यत । ९ तव+ ऌदन्त । १० ग्रीष्म+ऋतु । ११ सप्त+ऋषि । १२ मम+ऌवर्ण ।

३ (क) 'उरण्रपर' (२९) में अण् प्रत्याहार किस णकार से ग्रहण करना चाहिये ? और क्यों ? ।

(ख) 'ऋ' की तीस सञ्ज्ञाओं का उल्लेख करो ।

(ग) 'रँ' प्रत्याहार की ससूत्र सिद्धि लिख कर तदन्तर्गत वर्णों को लिखते हुए 'रँ' प्रत्याहार स्वीकार करने का प्रयोजन बताओ ।

(घ) अनुनासिक जानने की आज कल क्या व्यवस्था है ? सप्रमाण सविस्तर लिखो ।

(ङ) तपर करने का क्या प्रयोजन है ? सोदाहरण सप्रमाण स्पष्ट करो ।

(च) 'आद् गुणः' सूत्र किस २ का अपवाद है, सोदाहरण लिखो ।

—०❀०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३० लोपः शाकल्यस्य ।८।३।१९।।

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो वाऽशि परे ।

अर्थः—अश् प्रत्याहार परे होने पर अवर्ण पूर्व वाले पदान्त यकार वकार का विकल्प करके लोप हो जाता है ।

व्याख्या—अ पूर्वयो ।६।२। ['भो भगो अघो अ पूर्वस्य योऽशि' से 'अ-पूर्वस्य' अंश की अनुवृत्ति आकर वचन विपरिणाम हो जाता है ।] व्योः ।६।२। ['व्योर्लघुप्रयत्नतर शाकटायनस्य' से] पदान्तयो ।६।२। ['पदस्य' यह पीछे से अधिकार चला आ रहा है । 'व्योः' का विशेषण होने से इससे तदन्त विधि होकर वचन विपरिणाम से द्विवचन हो जाता है ।] लोप ।१।१। शाकल्यस्य ।६।१। अशि ।७।१। ['भो भगो अघो अ पूर्वस्य योऽशि' से]

समास—अ = अवर्ण पूर्वौ याभ्या तौ = अ पूर्वौ, तयो = अपूर्वयो, बहुव्रीहि समास । व च य् च = "यौ, तयो = व्यो इतरेतर द्वन्द्व । अर्थ—(अ पूर्वयो) अवर्ण पूर्व वाले (पदान्तयो) पदान्त (व्यो) वकार यकार का (अशि) अश परे होने पर (लोप) लोप हो जाता है। (शाकल्यस्य) यह कार्य शाकल्याचार्य का है।

यह लोप शाकल्याचार्य—जो पाणिनि से पूव याकरण के एक महान् आचार्य हो चुके थे—के मत में होता है पाणिनि के मत में नहीं। हमें दोनों आचार्य प्रमाण हैं अत विकल्प से लोप होगा। उदाहरण यथा—

'हरे+इह' विष्णो+इह' यहा 'हरे' और 'विष्णो' पद सम्बोधन के एकवचनान्त होने से सुप्तिङन्त पदम्' (१४) के अनुसार पद-सञ्ज्ञक हैं। इन दोनों में 'एचोऽयवायाव' (२२) सूत्र से क्रमश एकार को अय् और ओकार को अव् आदेश हो कर—'हर् अय्+इह' 'विष्ण अव्+इह' बन जाते हैं। अब पुन दोनों रूपों में 'इह' के आदि इकार=अश् के परे होने पर पदान्त यकार वकार का विकल्प से लोप हो—

लोप पक्षे	लोपाभाव पक्षे
१ हर अ + इह ।	२ हर् अय् + इह ।
१ विष्ण अ + इह ।	२ विष्ण अव् + इह ।

अब लोप पक्ष के रूपों में 'आद् गुण' (२७) सूत्र द्वारा 'अ + इ' के स्थान पर 'ए' यह गुण एकादेश प्राप्त होता है। अब इसके निवारणार्थ अग्रिम सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] अधिकार सूत्रम्—३१ पूर्वत्रासिद्धम्। ८ । २ ।१॥

सपाद-सप्ताध्यायी प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति पर शास्त्र-मसिद्धम्। हर इह, हरयिह। विष्ण इह, विष्णविह।

अर्थ—सवा सात अध्यायों के प्रति त्रिपादी-सूत्र असिद्ध होते हैं और त्रिपादी सूत्रों में भी पूर्वशास्त्र के प्रति पर शास्त्र असिद्ध होता है।

व्याख्या—'अष्टाध्यायी' में आठ अध्याय और प्रत्येक अध्याय में चार चार पाद हैं यह सब पीछे सञ्ज्ञा प्रकरण में विस्तार पूर्वक स्पष्ट कर चुके हैं। सात अध्याय सम्पूर्ण और आठवें अध्याय के प्रथम पाद के व्यतीत होने पर आठवें अध्याय के दूसरे पाद का यह प्रथम सूत्र है। यह अधिकार सूत्र है। अधिकारसूत्र स्वय कुछ नहीं किया करते किन्तु अग्रिम सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये हुआ करते हैं। इनकी अवधि [हद] नियत हुआ करती है। इस सूत्र का अधिकार यहां से लेकर 'अ अ' (८ । ४ । ६८) सूत्र अर्थात् अष्टाध्यायी के अन्त तक जाता है। आठवें अध्याय का दूसरा, तीसरा तथा चौथा पाद इसके अधिकार

में आता है। यह सूत्र इन तीनों पादों के सूत्रों में जा कर अनुवृत्ति करता है कि तू (पूर्वत्र इत्यन्ययपदम्) पूर्व शास्त्र में (असिद्धम्) असिद्ध है अर्थात् पूर्व की दृष्टि में तेरा कोई अस्तित्व ही नहीं। इससे यह होता है कि इन तीन पादों के सूत्र पूर्व पठित सवा सात (८। १ ।) अध्यायों की दृष्टि में तथा इन (८। २ ३ ४) में भी पूर्व के प्रति पर सूत्र असिद्ध हो जाता है। यथा—'आद्गुणः' (२७) सवा सात अध्यायों के अन्तर्गत सूत्र है। [यह छठे अध्याय के प्रथम पाद का ८६ वां सूत्र है।] इसकी दृष्टि मे आठवें अध्याय के तीसरे पाद मे वर्त्तमान लोपः शाकल्यस्य' (३०) सूत्र असिद्ध है अतः आद् गुणः' (२७) सूत्र लोपः शाकल्यस्य' (३०) सूत्र द्वारा किये गये यकार वकार के लोप को नहीं देखता इसे तो अब भी यकार वकार पड़े हुए दीख रहे हैं। अवर्ण से परे यकार वकार के दिखाई देने से 'आद् गुणः' (२७) द्वारा गुण एकादेश नहीं होता। 'हर इह' 'विष्ण इह' ऐसे ही अवस्थित रहते हैं। तो इस प्रकार—लोप पक्ष में 'हर इह विष्ण इह' तथा लोपाभाव पक्ष में हरयिह, विष्णविह रूप सिद्ध होते हैं।*

अभ्यास (५)

(१) कौमुदी मे लिखा लम्बा चौड़ा अर्थ पूर्वत्रासिद्धम् (३१) सूत्र स कैसे निकल आता है, सविस्तर स्पष्ट करें।

(२) सूत्र में विकल्प वाची पद के न होने पर भी लोपः शाकल्यस्य' सूत्र कैसे वैकल्पिक लोप किया करता है ?।

(३) 'हरय्+ए' विष्णव्+ए' रूपो में लोपः शाकल्यस्य' सूत्र द्वारा क्या यकार वकार का लोप हो जाय ?।

(४) 'हरय्+इह', विष्णव्+इह' यहा जब 'लोपः शाकल्यस्य' से यकार वकार का लोप प्राप्त होता है तब 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' वार्तिक से उनके लोप का निषेध क्यों नहीं हो जाता ?।

(५) निम्न लिखित रूपों में सन्धिच्छेद कर सूत्र समन्वय पूर्वक रूप सिद्धि करो—
१ गुरा आयाते। २ प्रभ इदानीम्। ३ गौर आगच्छ। ४ भाना अपि। ५ रवा उदिते। ६ न धातु लोप आर्धधातुके। ७ श्रिय उत्कण्ठित। ८ तयागच्छन्ति। ९ विधा उदिते। १० वन ऋषय।

---

*त्रिपादियों में पूर्व के प्रति पर शास्त्र की असिद्धि में उदाहरण यथा—'किम्वुक्तम्'। यहां पर मोऽनुस्वारः' [८।३।२३] इस पूर्व त्रिपादी के प्रति 'मय उञो वो वा' [८।३।३३] इस पर त्रिपादी सूत्र के असिद्ध होने से [अर्थात् व की जगह उ—अच होने से] म् को अनुस्वार नहीं होता।

(६) अधो लिखित रूपों में सूत्र समन्वय पूर्वक सन्धि करो—

१ रामौ+आगच्छत । २ तस्मै+अदात् । ३ ते+इच्छति । ४ बाले+इह । ५ एते+आगता । ६ ये+इह । ७ इतौ+अनार्षे । ८ स्थले+इदानीम् । ९ बालौ+आगतौ । १० कस्मै+अयच्छत् ।

—०※०—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—३२ वृद्धिरादैच् । १ । १ । १ ॥

आदैच् वृद्धि-सञ्ज्ञ स्यात् ।

अर्थ—'आ, ऐ, औ' वृद्धि सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—वृद्धि ।१।१। आत् ।१।१। ऐच् ।१।१। अर्थ—(आत्, ऐच्) दीर्घ आकार दीर्घ ऐकार तथा दीर्घ औकार (वृद्धि) वृद्धि सञ्ज्ञक होते हैं । 'आदैच्' यहां पर तपर किया गया है । यह तपर 'आ' के लिये नहीं किन्तु ऐच्' के लिये किया गया है, क्योंकि 'आ' तो अण् प्रत्याहार के अन्तर्गत न होने से 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय' (११) सूत्र द्वारा स्वत ही सवर्णों का ग्रहण नहीं कराता, पुन उसके लिये निषेध कैसा ? अत यहा ऐच के ग्रहण से प्लुत सवर्णों का ग्रहण न हो अथवा 'देव + ऐश्वर्य' में त्रिमात्र स्थानी तथा 'गङ्गा + ओघ' मे चतुमात्र स्थानी होने से ऐ–औ भी कहीं त्रिमात्र चतुर्मात्र न हों, किन्तु द्विमात्र हों इस लिये तपर किया गया है । इससे—दीर्घ आकार, दीर्घ ऐकार, तथा दीर्घ औकार इन तीन वर्णों की 'वृद्धि' सञ्ज्ञा होती है ।

अब अग्रिम सूत्र में इस सञ्ज्ञा का फल दिखाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३३ वृद्धिरेचि । ६ । १ । ८ । ७॥

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । गुणापवाद' । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघ' । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् ।

अर्थ—अवर्ण से एच् परे होने पर पूर्व + पर के स्थान पर एक वृद्धि आदेश हो जाता है । गुणेति—यह सूत्र 'आद् गुण (२७) सूत्र का अपवाद है ।

व्याख्या—आत् । ५ । १ । ['आद् गुण' से] एचि । ७ । १ । पूर्वपरयो । ६ । २ । एक । १ । १ । ['एक पूर्वपरयो' यह अधिकृत है ।] वृद्धि । १ । १ । अर्थ—(आत्) अवर्ण से (एचि) एच् परे होने पर (पूर्व-परयो) पूर्व + पर के स्थान पर (एक) एक (वृद्धि) वृद्धि हो जाती है । यह सूत्र 'आद् गुण' (२७) सूत्र का अपवाद है । बहुत विषय वाला उत्सर्ग और थोडे विषय वाला अपवाद हुआ करता है । 'आद्

गुणः' (२७) सूत्र बहुत विषय वाला है क्योंकि इसका अवर्ण से परे अच् मात्र विषय है। वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र थोड़े विषय वाला है क्योंकि इसका अवर्ण से परे अच् प्रत्याहार के अन्तर्गत केवल एच् ही विषय है। उत्सर्ग और अपवाद दोनों प्रकार के सूत्र महा मुनि पाणिनि ने बनाये हैं अतः हमें कोई ऐसा हल ढूंढना है जिससे दोनों प्रकार के सूत्र सार्थक हो जाएं, कोई अनर्थक न हो। अब यदि अपवाद के विषय में भी उत्सर्ग प्रवृत्त करते हैं तो अपवाद सूत्र निरर्थक हो जाते हैं क्योंकि तब इन्हें प्रवृत्त होने के लिये कोई स्थान ही नहीं मिल सकता। और यदि उत्सर्ग के विषय में अपवाद प्रवृत्त करते हैं तो उतने मात्र में प्रवृत्त होकर अपवाद सार्थक हो जाता है और शेष बचे हुए में उत्सर्ग भी प्रवृत्त हो सकता है इस प्रकार दोनों सार्थक हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्सर्ग के विषय में ही अपवाद प्रवृत्त करना युक्त है। तो अब 'आद् गुणः' (२७) के विषय में 'वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र प्रवृत्त होकर 'एच्' के स्थानों को उससे छीन लेगा, शेष बचे हुए स्थानों में वह प्रवृत्त होगा। उदाहरण यथा—

'कृष्णैकत्वम्' (कृष्ण की एकता)। कृष्ण+एकत्व यहां णकारोत्तर अवर्ण से परे 'एकत्व' शब्द का आदि एकार=एच् वर्त्तमान है। अतः वृद्धिरेचि (३३) सूत्र द्वारा पूर्व=अ और पर=ए के स्थान पर एक वृद्धि आदेश प्राप्त होता है। 'अ + ए' का स्थान 'कण्ठ + तालु' है इधर वृद्धि-सञ्ज्ञकों में 'ऐ' का स्थान 'कण्ठ + तालु' है अतः 'अ + ए' के स्थान पर ऐ' यह एक वृद्धि आदेश होकर कृष्ण 'ऐ' कत्व=कृष्णैकत्वम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'गङ्गौघः' (गङ्गा का प्रवाह)। 'गङ्गा + ओघ' यहां पूर्व=आ और पर=ओ का 'कण्ठ + ओष्ठ' स्थान है अतः वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र द्वारा पूर्व + पर के स्थान पर 'कण्ठ + ओष्ठ' स्थान वाला 'औ' यह एक वृद्धि आदेश होकर गङ्ग् 'औ' घ='गङ्गौघः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'देवैश्वर्यम्' (देवताओं का ऐश्वर्य)। 'देव + ऐश्वर्य' यहां पूर्व=अ और पर=ऐ का 'कण्ठ + तालु' स्थान है, अतः वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र द्वारा पूर्व + पर के स्थान पर 'कण्ठ + तालु' स्थान वाला ऐ' यह एक वृद्धि आदेश होकर देव् ऐ' श्वर्य='देवैश्वर्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'कृष्णौत्कण्ठ्यम्' (कृष्ण की उत्कण्ठा)। 'कृष्ण+औत्कण्ठ्य' यहां पूर्व=अ और पर=औ का 'कण्ठ + ओष्ठ' स्थान है, अतः वृद्धिरेचि (३३) सूत्र द्वारा पूर्व+पर के स्थान पर 'कण्ठ + ओष्ठ' स्थान वाला 'औ' यह एक वृद्धि आदेश होकर कृष्ण् 'औ' त्कण्ठ्य='कृष्णौत्कण्ठ्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अभ्यास (६)

१ निम्न लिखित रूपों में सूत्रार्थ समन्वय पूर्वक सन्धि करो—

१ पञ्च+एते । २ जन+एकता । ३ तण्डुल+ओदन । ४ राम+औत्सुक्य । ५ नृप+ऐश्वर्य । ६ महा+औषध । ७ एक+एक । ८ राजा+एष । ९ महा+औदार्य । १० वीर+एक । ११ महा+एन । १२ दर्शन+औत्सुक्य । १३ अस्य+औचिती । १४ सुख+औपयिक । १५ दीर्घ+एरण्ड ।

२ निम्न लिखित प्रयोगों में सूत्रार्थ समन्वय पूर्वक सन्धिच्छेद करो—

१ अत्रैकमत्यम् । २ पूर्वैन । ३ भृत्यौद्धत्यम् । ४ पण्डितौक । ५ बालैषा । ६ चित्तैकाग्र्यम् । ७ तथैव । ८ महौजस । ९ बिम्बौष्ठी* । १० तवैवम् । ११ सत्यैतिह्यम् । १२ ममौदासीन्यम् । १३ कर्मौर्ध्वदैहिकम् । १४ दीर्घैकार । १५ ज्ञातौषधि । १६ महौष्ण्यम् । १७ प्लुतौकार । १८ स्थूलैरण्ड । १९ मैवम् । २० स्थूलौतु * ।

३ उत्सर्ग और अपवाद किसे कहते हैं ? अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति क्यों नहीं हुआ करती ? ।

४ 'वृद्धिरेचि' सूत्र गुण का अपवाद है, इस वचन की व्याख्या करो ।

५ 'वृद्धिरादैच्' सूत्र में तपर करने का क्या प्रयोजन है ? ।

—०❀०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३४ एत्येधत्यूठ्सु ।६।१।८७॥

अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । पररूपगुणापवादः । उपैति । उपैधते । प्रष्ठौहः । एजाद्योः किम् ? उपेतः । मा भवान् प्रेदिधत् ।

अर्थ—अवर्ण से पर यदि एच् प्रत्याहार आदि वाली 'इण्' तथा 'एध्' धातु हो अथवा ऊठ् हो तो पूर्व+पर के स्थान पर एक वृद्धि आदेश हो जाता है । **पररूपेति**—यह सूत्र 'एङि पररूपम्' (३८) तथा 'आद् गुणः' (२७) का अपवाद है ।

व्याख्या—आत् ।५।१। ['आद् गुणः' से] एजाद्योः ।७।२। ['वृद्धिरेचि' सूत्र से 'एचि' पद की अनुवृत्ति आती है । यह पद 'एति' और 'एधति' का ही विशेषण बन सकता है असम्भव होने से 'ऊठ्' का नहीं, अतः वचनविपरिणाम से द्विवचन और 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' से तदादि विधि होकर 'एजाद्योः' ऐसा बन जाता है ।] एत्येधत्यूठ्सु

* बिम्बोष्ठी' और 'स्थूलोतु' भी होता है । देखो—'सिद्धान्तकौमुदी में 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा (वा०) ।

।७।३। [एति+एधति+ऊठ्सु] पूर्वं परयो ।६।२। एक ।१।१। ['एक पूर्व परयो' यह अधिकृत है] वृद्धि ।१।१। ['वृद्धिरेचि' से] अर्थ —(आत्) अवर्ण से (एजाद्यो) एजादि (एत्येधत्यूठ्सु) इण् और एध् धातु परे होन पर अथवा ऊठ् परे होने पर (पूर्व परयो) पूर्व+पर के स्थान पर (एक) एक (वृद्धि) वृद्धि आदेश होता है। उदाहरण यथा—

'उपैति' (पास आता है)। उप+एति' ('एति' यह पद 'इण् गतौ' (अदा०) धातु के लट् लकार के प्रथम पुरुष का एकवचन है) यहा पकारोत्तर अवर्ण से परे एजादि 'इण्' धातु वर्त्तमान है, अत इस सूत्र से पूर्व = अ और पर = ए के स्थान पर ऐ' यह एक वृद्धि आदेश हो कर उप् 'ऐ' ति= 'उपैति' प्रयोग सिद्ध होता है।

'उपैधते' (पास बढ़ता है)। उप + एधते' ('एधते' यह प, 'एध वृद्धौ' (भ्वा०)धातु के लट् लकार क प्रथमपुरुष का एकवचन है) यहा अवर्ण से परे एजादि एध धातु वर्त्तमान है अत पूर्व = अ और पर= ए के स्थान पर एक 'ऐ' वृद्धि आदेश हो कर—उप् 'ऐ धते = 'उपैधते' प्रयोग सिद्ध होता है।

'प्रष्ठौह ' (प्रष्ठवाह का×)। 'प्रष्ठ + ऊह ' (यहा 'ऊठ्' है। कैसे है ? यह हलन्त पुल्लिङ्ग में 'विश्ववाह्' शब्द पर स्पष्ट होगा।) यहा अवर्ण से ऊठ् परे है अत पूर्व=अ और पर =ऊ दोनों के स्थान पर 'औ' यह वृद्धि एकादेश हो कर प्रष्ठ् औ' ह ='प्रष्ठौह ' प्रयोग सिद्ध होता है।

यह सूत्र ऊठ् के विषय में गुण का तथा इण् और एध के विषय में आगे वक्ष्यमाण 'एङि पर रूपम् ' (३८) सूत्र का अपवाद है।

अब यहा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस सूत्र में इण् और एध् धातु का एजादि क्यों कहा गया है ? अर्थात् यदि एजादि न कहते तो कौन सी हानि हो जाती ? इस का उत्तर यह है कि एजादि न कहने से 'उपेत ' और 'प्रेदिधत्' प्रयोगों में भी वृद्धि हो जाती जो नितान्त अशुद्ध है। तथाहि–'उपेत ' (समीप पहुँचा, युक्त अथवा वे दोनों पास आते हैं)। 'उप + इत ' ('इत ' यह पद 'इण् गतौ' धातु का क्तान्त रूप है अथवा लट लकार के प्रथम पुरुष का द्विवचन है) यहा अवर्ण से परे 'इण्' धातु तो है पर वह एजादि नहीं अत वृद्धि न हो कर 'आद् गुण ' (२७) सूत्र से 'ए' यह गुण एकादेश ही होगा। इस से उप् 'ए' त = 'उपेतः' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायगा। 'मा भवान् प्रेदिधत्' (आप अधिक न बढ़ावें) ['इदिधत्' यह णिजन्त एध् धातु के लुङ् लकार के प्रथम पुरुष का एकवचन है। यहा 'न माङ्योगे' सूत्र से 'आट्' आगम नहीं होता इसी बात को जतलाने के लिये यहां 'मा' पद का प्रयोग किया

×उद्दण्डता दूर करने के लिए जिसके गले में भारी काष्ठ बाँध देते हैं ऐसे बछड़े को 'प्रष्ठवाह' कहते हैं।

गया है ।] यहां अवर्ण से परे 'एध्' धातु तो वर्त्तमान है, पर वह एजादि नहीं अतः इस सूत्र से वृद्धि न हो 'आद् गुणः' (२७) सूत्र द्वारा गुण हो जायगा। इस से प्र 'ए' दिधत् = 'प्रेदिधत्' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायगा।

ये दोनों उक्त सूत्र के प्रत्युदाहरण हैं। विपरीत उदाहरणों को प्रत्युदाहरण कहते हैं अर्थात् 'यदि सूत्र में यह न कहते तो यह अशुद्ध हो जाता' इस प्रकार जो प्रयोग दर्शाए जाते हैं उन्हें प्रत्युदाहरण कहते हैं।

सूत्र में 'एति' और 'एधति' से इण् और 'एध्' धातु का ही ग्रहण समझना चाहिये। जैसे वर्णों से स्वार्थ में 'कार' प्रत्यय लगाया जाता है [अकार, इकार, उकार, ककार आदि] वैसे धातुओं के निर्देश करने में भी इ (इक्) या 'ति' (श्तिप्) लगाए जाते हैं। यथा—गमि व गच्छति, एधि व एधति, चलि व चलति आदि। इन सब का तात्पर्य गम्, एध्, चल् आदि मूल धातुओं से ही होता है।

[लघु०] वा०—४ अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम् ॥

अक्षौहिणी सेना।

अर्थः—'अक्ष' शब्द के अन्त्य अवर्ण से 'ऊहिनी' शब्द का आदि ऊकार परे होने पर पूर्व + पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है। ऐसा अधिक वचन करना चाहिये।

व्याख्या—(अक्षात् ।५।१।) 'अक्ष' शब्द से (ऊहिन्याम् ।७।१।) 'ऊहिनी' शब्द परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है, ऐसा (उपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यम्) अधिक वचन करना चाहिये।

ध्यान रहे कि इस प्रकरण में 'आत्' और 'अचि' की अनुवृत्ति होने से सर्वत्र पूर्व से अवर्ण और पर में अच् का ग्रहण होता है।

उदाहरण यथा—अक्षौहिणी † । 'अक्ष + ऊहिनी' [अक्षाणाम् ऊहिनीति षष्ठीतत्पुरुष समास] यहां 'अ + ऊ' के स्थान कण्ठ + ओष्ठ होने से तादृश स्थान वाला 'औ' वृद्धि एकादेश हो—अक्ष् 'औ' हिनी = 'अक्षौहिनी' बना। अब 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' (८।४।३) सूत्र से नकार को णकार आदेश करने से 'अक्षौहिणी' प्रयोग सिद्ध होता है।

† 'अक्षौहिणी' विशेष परिमाण वाली सेना कहाती है। इसका परिमाण यथा—
'अक्षौहिण्याः प्रमाणं तु खाङ्गाष्टैकद्विकैर्गजैः । रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः' ॥

२१८७०	रथ	अक्षौहिणी सेना
२१८७०	हाथी	
६५६१०	घोड़े (रथवाहकों से अतिरिक्त)	
१०९३५०	पैदल	

यहां गुण की प्राप्ति में वृद्धि विधान की गई है अत यह वार्त्तिक गुण का अपवाद है।

[लघु०] वा०—५ प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु ॥

प्रौहः । प्रौढ' । प्रौढि । प्रैषः । प्रैष्यः ।

अर्थ'—'प्र' शब्द के अन्त्य अवर्ण से ऊह, ऊढ, ऊढि, एष तथा एष्य शब्दों का आदि अच परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—प्रात् ।५।१। ऊहोढोढ्येषैष्येषु ।७।३। पूर्व परयो ।६।२। एक ।१।१। वृद्धि ।१।१। ['वृद्धिरेचि' से] समास—ऊहश्च ऊढश्च ऊढिश्च एषश्च एष्यश्च तेषु= ऊहोढोढ्येषैष्येषु । इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ—(प्रात्) 'प्र' शब्द से (ऊहोढोढ्येषैष्येषु) ऊह, ऊढ, ऊढि, एष तथा एष्य शब्द परे होने पर (पूर्व परयो) पूर्व + पर के स्थान पर (एक) एक (वृद्धि) वृद्धि आदेश हो। उदाहरण यथा—

प्र + ऊह = प्र् 'औ' ह='प्रौह'।	[उत्तम तर्क व उत्तम तर्क करने वाला]
प्र + ऊढ = प्र् 'औ' ढ='प्रौढ'।	[बढ़ा हुआ व अधेड़]
प्र + ऊढि = प्र 'औ' ढि='प्रौढि'।	[प्रौढता व शेखी]
प्र + एष = प्र् 'ऐ' ष='प्रैष'।	[प्रेरणा, घञन्तोऽत्र इष धातु]
प्र + एष्य = प्र् 'ऐ' ष्य='प्रैष्य'।	[प्रेरणीय, सेवक, यदन्तोऽत्र इष धातु]

'प्रैष, प्रैष्य' यहां 'एङि पररूपम्' (३८) से पररूप प्राप्त था, शेष स्थानों पर 'आद् गुण' (२७) सूत्र से गुण प्राप्त था। यह वार्त्तिक इन दोनों का अपवाद है।

[लघु०] वा०—६ ऋते च तृतीया-समासे ॥

सुखेन ऋत'=सुखार्तः । तृतीयेति किम् ? परमर्तः ।

अर्थः—तृतीया-समास में अवर्ण से ऋत शब्द का आदि ऋवर्ण परे होने पर पूर्व + पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—आत् ।५।१। ('आद् गुणः' सूत्र से) ऋते ।७।१। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ('एक पूर्व परयो' यह अधिकृत है) वृद्धि ।१।१। ('वृद्धिरेचि' से) तृतीया समासे ।७।१। अर्थ—(तृतीया-समासे) तृतीया तत्पुरुष समास में (आत्) अवर्ण से (ऋते) 'ऋत' शब्द परे होने पर (पूर्व परयो) पूर्व + पर के स्थान पर (एक) एक (वृद्धि) वृद्धि आदेश हो जाता है।

उदाहरण यथा—'सुखेन ऋत' यह लौकिक विग्रह है। अलौकिक-विग्रह अर्थात् 'सुख टा, ऋत सु' में 'सुपो धातु प्रातिपदिकयो' (७२१) सूत्र द्वारा टा और सु का लुक् हो-

जाने पर 'सुख + ऋत' ऐसा बनता है। अब इस वार्तिक से पूर्व=अवर्ण और पर=ऋवर्ण के स्थान पर वृद्धि करनी है। 'अ + ऋ' का स्थान 'कण्ठ + मूर्धा' है। 'कण्ठ + मूर्धा' स्थान वाला वृद्धि सञ्ज्ञकों में कोई नहीं सब का 'कण्ठ' स्थान ही तुल्य है। अब यदि 'आ' यह वृद्धि एकादेश करें तो 'उरण्रपर' (२९) सूत्र से रपर होकर 'आर्' हो जाने से 'कण्ठ+मूर्धा' स्थान तुल्य हो जायगा। तो ऐसा करने से—सुख् 'आर्' त= सुखार्त' प्रयोग हो कर विभक्ति लाने से 'सुखार्त' सिद्ध हो जाता है। इसका अर्थ—सुख से प्राप्त हुआ अर्थात् सुखी है।

अब यहां यह विचार उपस्थित होता है कि अवर्ण से 'ऋत' परे होने पर वृद्धि का विधान तो समास में करना ही चाहिये, क्योंकि सुखेन + ऋत यहा लौकिक विग्रह में वृद्धि न हो कर गुण एकादेश होने से 'सुखेनर्त' प्रयोग बन सके। परन्तु तृतीया का ही समास हो अन्य विभक्तियों का न हो इस कथन का क्या प्रयोजन है? क्यों समास मात्र में ही वृद्धि का विधान न कर दिया जाए? इस का उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि यदि 'तृतीया' न कहगे, समास मात्र में ही वृद्धि विधान करेंगे तो 'परमश्चासौ ऋत=परम + ऋत' यहां गुण न हो कर वृद्धि हो जायगी, क्योंकि समास तो यहा भी है। अब यहा कर्म धारय समास में गुण हो कर 'परमर्त' यह इष्ट प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'परमर्त' का अर्थ 'मुक्त' है।

[लघु०] वा०—७ प्र-वत्सतर कम्बल-वसनार्ण दशानाम् ऋणे ॥

प्रार्णम्। वत्सतरार्णम्। इत्यादि।

अर्थ—प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण तथा दश इन छ शब्दों के अन्त्य अवर्ण से परे 'ऋण' शब्द का आदि ऋवर्ण होने पर पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—प्र वत्सतर-कम्बल वसनार्ण दशानाम्। ६।३। [यहा पञ्चमी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति समझनी चाहिये।] ऋणे। ७।१। पूर्वपरयो। ६।२। एक। १।१। वृद्धि। १।१। ['वृद्धिरेचि' से] अर्थ—(प्र वत्सतर कम्बल वसनार्ण दशानाम्) प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन ऋण तथा दश इन शब्दों से (ऋणे) ऋण शब्द परे होने पर (पूर्व परयो) पूर्व + पर के स्थान पर (एक) एक (वृद्धि) वृद्धि आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

१ प्र + ऋण = प्र 'आर्' ण='प्रार्णम्' [अधिक व उत्तम ऋण]
२ वत्सतर + ऋण = वत्सतर् 'आर्' ण='वत्सतरार्णम्' [बछड़े के लिये लिया हुआ ऋण]
३ कम्बल + ऋण = कम्बल 'आर्' ण='कम्बलार्णम्' [कम्बल का ऋण]
४ वसन + ऋण = वसन् 'आर्' ण='वसनार्णम्' [कपड़े का ऋण]
५ ऋण + ऋण = ऋण् 'आर्' ण='ऋणार्णम्' [ऋण चुकाने के लिये लिया हुआ दूसरा ऋण]
६ दश + ऋण = दश 'आर्' ण='दशार्ण' [जहां दश प्रकार के जल हों=देश-विशेष]

ध्यान रहे कि अन्तिम उदाहरण में बहुव्रीहि समास है। इसमें 'ऋशन्' के नकार का 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से लोप हो जाता है। यह वार्त्तिक भी गुण एकादेश का अपवाद है।

अभ्यास (७)

(१) निम्नलिखित रूपों में सोपपत्तिक उत्सर्गनिर्देश करते हुए सूत्रों द्वारा सन्धि सिद्ध करो—

१ विश्वौहः। २ प्रौहः। ३ भारौहः। ४ अवैति। ५ परैमि। ६ ऋणार्णम्। ७ उपैता (तृच्)। ८ अवैधते। ९ प्रौढिः। १० अक्षौहिणी। ११ प्रैति। १२ समेधते। १३ दशार्णः। १४ प्रैष्यः। १५ प्रैधे।

(२) 'एत्येधत्यूठ्सु' सूत्र में 'एजादि' ग्रहण क्यों किया गया है ?।

(३) 'ऋते च तृतीयासमासे' में समास ग्रहण तथा तृतीया ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?।

(४) 'अक्षौहिणी' सेना का परिमाण बताओ।

(५) एति और एधति में 'ति' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?।

(६) 'उपसङ्ख्यान' किसे कहते हैं ?।

(७) एत्येधत्यूठ्सु', प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु 'अक्षाद्हिन्यामुपसङ्ख्यानम्' ये सूत्र + वार्त्तिक किस २ के अपवाद हैं ?।

—०ॐ०—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—३५ उपसर्गाः क्रिया-योगे।१।४।५८॥

प्रादयः क्रिया-योगे उपसर्ग-सञ्ज्ञाः स्युः। १ प्र। २ परा। ३ अप। ४ सम्। ५ अनु। ६ अव। ७ निस्*। ८ निर्। ९ दुस्*। १० दुर्। ११ वि। १२ आङ्। १३ नि। १४ अधि। १५ अपि। १६ अति। १७ सु। १८ उद्। १९ अभि। २० प्रति। २१ परि। २२ उप। एते प्रादयः।

---

*कई लोग यहां शङ्का किया करते हैं कि निस् और निर् में तथा दुस् और दुर् में किसी एक का ही पाठ उपसर्गों में करना चाहिये दोनों का नहीं, क्योंकि सान्त भी सर्वत्र 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से रेफान्त ही हो जाया करते हैं। इसका समाधान यह है कि निस्, दुस् में जो सकार को रु होता है, उसके असिद्ध होने से प्राप्त कार्य नहीं हो पाते जैसे—'निरयते, दुरयते' में 'उपसर्गस्यायतौ' (८।२।१९) से लत्व नहीं होता क्योंकि उस की दृष्टि में 'र्' असिद्ध है। 'निर्, दुर्' में लत्व हो जाता है—'निलयते दुलयते'। इस लिये इन्हें भिन्न २ पढ़ा गया है।

अर्थ —क्रिया योग में प्रादि 'उपसर्ग' सञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—प्रादय ।१।३। [इसी सूत्र का अंश, जिसे योग विभाग करके भाष्यकार ने अलग किया है।] उपसर्गा ।१।३। क्रिया-योगे ।७।१। समास —'प्र' शब्द आदिर्येषान्ते प्रादय । तद् गुण सविज्ञान बहुव्रीहि समास । क्रियया योग = क्रिया-योग, तस्मिन् क्रिया योगे। तृतीया तत्पुरुष समास । अर्थ —(क्रिया योगे) क्रिया के साथ अन्वित होने पर (प्रादय) 'प्र' आदि २२ शब्द (उपसर्गा) उपसर्ग सञ्ज्ञक होते हैं। यह सूत्र 'प्राग्रीश्वरा न्निपाता ' (१।४।५६) के अधिकार में पढा गया है अत इन की निपात सञ्ज्ञा भी साथ ही समझ लेनी चाहिये। निपात सञ्ज्ञा का प्रयोजन 'अव्यय' बनाना है। [देखो—'स्वरादि निपातमव्ययम्' (३६७)] प्रादि कौन २ से हैं ? इस का ज्ञान 'गण पाठ' से होता है। मूल में प्रादि गण दे दिया गया है। 'गण पाठ' महामुनि पाणिनि ने रचा है। प्रादि गण पर विशेष विचार आगे यत्र तत्र बहुत किया जायेगा।

नोट —प्रादि गण में 'उद्' के स्थान पर 'उत्' पाठ प्राय सब लघुकौमुदियों तथा सिद्धान्तकौमुदियों में देखा जाता है। पर वह अशुद्ध है क्योंकि उदश्चर सकर्मकात्' (७३१), 'उदि कूले रुजि वहो' (३।२।३१), 'उद स्था स्तम्भो पूर्वस्य' (७०) इत्यादि पाणिनि सूत्रों से इस के दकारान्त होने का ही निश्चय होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—३६ भूवादयो धातव ।१।३।१॥

क्रिया-वाचिनो भ्वादयो धातु-सञ्ज्ञाः स्यु ।

अर्थ —क्रिया के वाचक 'भू' आदि धातु सञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—भूवादय ।१।३। धातव ।१।३। समास —भूश्च वाश्च भूवौ, इतरेतर द्वन्द्व । 'वा गति-गन्धनयो ' इत्यादादिको धातु । आदिश्च आदिश्च=आदी। भूवौ आदी येषा ते भूवादय बहुव्रीहि समास । प्रथम आदि शब्द प्रभृति वचन, द्वितीय आदि शब्द प्रकार वचन । भू प्रभृतयो व सदृशा इत्यर्थ । 'वा' धातुना सादृश्य क्रिया वाचकत्वेनैव बोध्यम् । अर्थ —(भूवादय) क्रिया वाची भ्वादि (धातव) धातु-सञ्ज्ञक हों। क्रिया काम को कहते हैं। खाना पीना, उठना, बैठना, करना आदि क्रियाए हैं। क्रिया अर्थ वाले भ्वादि [यहा केवल भ्वादि-गण ही नहीं समझना चाहिये, अपितु समग्र धातु पाठ का ग्रहण करना चाहिये।] धातु-सञ्ज्ञक होते हैं। यहा यदि क्रिया वाची नहीं कहते तो 'या पश्यति' (जिन स्त्रियों को देखता है।) यहा 'या + शस्' में 'आतो धातो ' (१६७) से आकार का अनिष्ट लोप प्राप्त होता है, क्योंकि भ्वादियों में 'या' का पाठ देखा जाता है। अब क्रिया-वाची कहने

से यह दोष नहीं आता क्योंकि यहां 'या' का अर्थ क्रिया नहीं अपितु 'जो' है। यह टाबन्त सर्वनाम है।

अब अग्रिम सूत्र में उपसर्ग और धातु-सञ्ज्ञा का फल बतलाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३७ उपसर्गादृति धातौ ।६।१।८६॥

अवर्णान्तादुपसर्गाद् ऋकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। प्रार्च्छति।

अर्थ—अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो।

व्याख्या—आत् ।५।१। ['आद् गुणः' से इस की अनुवृत्ति आती है, 'उपसर्गात्' का विशेषण होने के कारण इस से तदन्त विधि हो जाती है।] उपसर्गात् ।५।१। ऋति ।७।१। [धातौ' का विशेषण होने के कारण 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा इस से तदादि विधि हो जाती है।] धातौ ।७।१। पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है] वृद्धिः ।१।१। ['वृद्धिरेचि' से] अर्थः—(आत्=अवर्णान्तात्) अवर्णान्त (उपसर्गात्) उपसर्ग से (ऋति=ऋकारादौ) ऋकारादि (धातौ) धातु परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है।

उदाहरण यथा—'प्रार्च्छति' (जाता है)। 'प्र + ऋच्छति' यहां 'ऋच्छ्' (भ्वा० व तुदा०) यह गमनक्रिया वाची होने से 'भूवादयो धातवः' (३६) के अनुसार धातु सञ्ज्ञक है इस के साथ योग होने के कारण 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (३५) सूत्र द्वारा 'प्र' की उपसर्ग सञ्ज्ञा हो जाती है। तो अब 'प्र' इस अवर्णान्त उपसर्ग से 'ऋच्छ्' यह ऋकारादि धातु परे वर्त्तमान है, अतः 'उरण्रपरः' (२१) की सहायता से 'उपसर्गादृति धातौ' (३७) द्वारा पूर्व=अ और पर=ऋ के स्थान पर 'आर्' यह एक वृद्धि आदेश हो कर—प्र 'आर्' च्छति='प्रार्च्छति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यह सूत्र भी 'आद् गुणः' (२७) द्वारा प्राप्त गुण एकादेश का अपवाद समझना चाहिये।

अभ्यास (८)

(१) प्रादि-गण में कितने अजन्त और कितने हलन्त शब्द हैं ?।

(२) प्रादि गण में 'उत्' अथवा 'उद्' कौन सा पाठ युक्त है, सप्रमाण लिखो ?।

(३) 'निस्–निर्' 'दुस–दुर्' ये दो २ क्यों पढ़े गये हैं ?।

(४) 'भूवादयो धातवः' सूत्र में वकार का आगमन कैसे और क्यों हो जाता है ? क्या

'भ्वादयो धातवः' सूत्र बनाने से काम नहीं चल सकता था ? अथवा—'भूवादयो धातवः' सूत्र की व्याख्या करें।

(५) अधोलिखित रूपों में सोपपत्तिक सूत्र निर्देश करते हुए सन्धि करें—
१ प्र+ऋञ्जते। २ कन्या+ऋञ्जते। ३ परा+ऋध्नोति। ४ बाला+ऋध्नोति। ५ प्र+ऋणोति। ६ न+ऋणोति। ७ उप+ऋच्छन्। ८ का+ऋच्छन्।*

—०⁂०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३८ एङि पररूपम् ।६।१।९२॥

आदुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात्। प्रेजते। उपोषति।

अर्थः—अवर्णान्त उपसर्ग से एङादि धातु परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर पररूप एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—आत् ।५।१। ['आद् गुणः' से इस पद की अनुवृत्ति आती है। 'उपसर्गात्' का विशेषण होने से इस से तदन्त विधि हो जाती है।] उपसर्गात् ।५।१। ['उपसर्गाद्दति धातौ' से] एङि ।७।१। ['धातौ' का विशेषण होने से यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा तदादि विधि हो जाती है।] पूर्वपरयोः ।६।२। एकम् ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है। 'एक' के स्थान पर 'एकम्', 'पररूपम्' का विशेषण होने से किया गया है। अथवा 'आदेश' होने से 'एक' ही रहता है।] पररूपम् ।१।१। अर्थः—(आत्=अवर्णान्तात्) अवर्णान्त (उपसर्गात्) उपसर्ग से (एङि=एङादौ) एङादि (धातौ) धातु परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकम्) एक (पररूपम्) पररूप आदेश हो जाता है। 'पररूप' से तात्पर्य 'पर' का है, 'रूप' ग्रहण स्पष्ट प्रतिपत्ति (बोध) के लिये है।

उदाहरण यथा—'प्रेजते' (अत्यन्त चमकता† है) 'प्र+एजते' ['एजृ दीप्तौ' धातु के लट् लकार के प्रथम पुरुष का एकवचन है] यहां 'प्र' यह अवर्णान्त उपसर्ग और 'एजते' यह एङादि धातु है। अतः पूर्व (अ) और पर (ए) के स्थान पर एक पररूप 'ए' आदेश करने से—प्र 'ए' जते='प्रेजते' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'उपोषति' (जलाता है)। उप+ओषति' ['उष दाहे' धातु के लट् लकार के

---

*यहां अत्यन्त सावधानी से सन्धि करनी चाहिये क्योंकि इस में कुछ गुण के उदाहरण भी मिश्रित कर दिये गये हैं।

† 'एज कम्पने' धातु परस्मैपदी है अतः यहां 'अत्यन्त काँपता है' ऐसा अर्थ करना नितान्त अशुद्ध है।

प्रथम पुरुष का एकवचन है]। यहां 'उप' यह अवर्णान्त उपसर्ग और 'ओषति' यह ओकारादि धातु है। अतः पूर्व (अ) और पर (ओ) के स्थान पर एक पररूप 'ओ' आदेश करने से—उप् ओ' षति='उपोषति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यह सूत्र 'वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र का अपवाद है। ध्यान रहे कि एति और एधति के विषय में इस का भी अपवाद 'एत्येधत्यूठ्सु' (३४) सूत्र है।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—३९ अचोऽन्त्यादि टि।१।१।६४॥

अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसञ्ज्ञं स्यात्।

अर्थः— अचों में जो अन्त्य अच्, वह है आदि में जिसके, उस शब्द समुदाय की टि सञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या— अचः ।६।१। [यहां 'यतश्च निर्धारणम्' सूत्र द्वारा निर्धारण में षष्ठी विभक्ति होती है। यथा 'नृणां ब्राह्मणः श्रेष्ठः'। किञ्च यहां जाति में एकवचन हुआ समझना चाहिये।] अन्त्यादि ।१।१। टि ।१।१। समासः—अन्ते भवोऽन्त्यः, अन्त्य आदिर्यस्य शब्दस्वरूपस्य तत् अन्त्यादि, बहुव्रीहि समासः। अर्थः—(अचः) अचों के मध्य में (अन्त्यादि) जो अन्त्य अच, वह है आदि में जिसके ऐसा शब्दस्वरूप (टि) 'टि' सञ्ज्ञक होता है। यथा—'मनस्' यहां अचों में अन्त्य अच् नकारोत्तर अकार है, वह जिसके आदि में है ऐसा शब्द-स्वरूप 'अस्' है, अतः इस की इस सूत्र से 'टि' सञ्ज्ञा हो जाती है। एवम्—'पतत्' यहां 'अत्' की, 'आताम्' यहां 'आम्' की, 'ध्वम्' यहां 'अम्' की तथा 'अग्निचित्' यहां 'इत्' की 'टि' सञ्ज्ञा समझनी चाहिये। जहां अन्त्य अच से परे अन्य कोई वर्ण नहीं होता, वहां उस अन्त्य अच् की ही 'टि' सञ्ज्ञा हो जाती है। यथा—'कुल' यहां अचों में अन्त्य अच् लकारोत्तर अकार है, यह किसी के आदि में नहीं। 'यथा देवदत्तस्यैकः पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठः' इस न्यायानुसार अपने ही आदि और अपने ही अन्त में वर्त्तमान है अतः यहां केवल 'अ' की ही 'टि' सञ्ज्ञा होती है। [इस विषय का स्पष्टीकरण 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' सूत्र की व्याख्या समझने के बाद ही हो सकता है।]

अब अग्रिम वार्तिक में 'टि' सञ्ज्ञा का उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] वा०—८ शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्॥

तच्च टेः। शकन्धुः। कर्कन्धुः। कुलटा। मनीषा। आकृतिगणोऽयम्। मार्तण्डः।

अर्थः—शकन्धु आदि शब्दों में (उन की सिद्धि के अनुरूप) पररूप कहना चाहिये। (तत्) वह पररूप (टेः) टि (च) और अच के स्थान पर समझना चाहिये।

व्याख्या—शकन्ध्वादिषु ।७।३। पररूपम् । १ । १ । वाच्यम् । १ । १ । अर्थ—(शकन्ध्वादिषु) शकन्धु आदि शब्दों में (पररूपम्) पररूप (वाच्यम्) कहना चाहिये ।

शकन्धु आदि बन बनाए अर्थात् पर रूप कार्य किये हुए शब्द एक गण में मुनिवर कात्यायन ने पढ़े हैं । इस गण का प्रथम शब्द 'शकन्धु' होने से इस गण का नाम शकन्ध्वादि गण है* । अब इस वार्त्तिक द्वारा कात्यायन जो कहते हैं इन में पर रूप कर लेना चाहिये इस पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस के स्थान पर पर रूप करें ? इस का उत्तर सुतरां यह मिल जाता है कि योग के अनुसार इन को विभक्त कर उन २ के स्थान पर पर रूप किया जाये, जिन के स्थान पर पर रूप करने से गणपठित शब्द सिद्ध हो जाते हैं । जिस प्रकरण में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है इस प्रकरण में 'आत्' और 'अचि' पदों की अनुवृत्ति आ रही है तथा वह 'एकः पूर्वपरयोः' (६।१।८२) के अधिकार के अन्तर्गत है । अतः प्रकरण वशात् तो यही प्राप्त होता है कि—पूर्व अवर्ण और पर अच् के स्थान पर एक पर रूप आदेश हो । अब यदि प्रकरणागत इन के स्थान पर पररूप एकादेश करते हैं तो और तो सब गण पठित शब्द सिद्ध हो जाते हैं, केवल 'मनीषा' और 'पतञ्जलि' शब्द सिद्ध नहीं होते क्योंकि यहां 'मनस् + ईषा' और 'पतत् + अञ्जलि' इस प्रकार छेद होने से अवर्ण नहीं मिलता । अब यदि प्रकरणागत अवर्ण की बजाय 'टि' कर दें [टि और अच् के स्थान पर पररूप एकादेश हो ।] तो सब शब्द जैसे गण में पढ़े गये हैं वैसे के वैसे सिद्ध हो जाते हैं, कोई दोष नहीं आता । अतः इन शकन्ध्वादियों में पूर्व=टि और पर=अच् के स्थान पर पररूप एकादेश करना ही युक्त है । ग्रन्थकार ने अपने मन में यह सब विचार कर 'तच्च टेः' कहा है । शकन्ध्वादि गण पठित शब्द यथा—

१—'शकन्धु' [शकानाम्=देशविशेषाणाम् अन्धुः=कूपः, शकन्धुः । गवेषणीयोऽस्य प्रयोगः ।] । 'शक + अन्धु' यहां ककारोत्तर अकार की 'अचोऽन्त्यादि टि' (३६) सूत्र से 'टि' संज्ञा हो जाती है । इस टि और 'अन्धु' शब्द के आदि अकार के स्थान पर एक पररूप 'अ' हो कर विभक्ति लाने से—शक् 'अ' न्धु ='शकन्धु' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

२—'कर्कन्धु' [कर्काणाम्=राजविशेषाणाम् अन्धुः=कूपः, कर्कन्धुः ‡ । अन्वेषणीयोऽस्य

---

*इसी प्रकार अन्यत्र भी सर्वत्र समझ लेना चाहिये यथा—प्रादि-गण, सर्वादि-गण, स्वस्रादि गण आदि । गणों के पाठ से महान् लाघव होता है, अन्यथा सभी शब्दों को सूत्रों में पढ़ने से बहुत गौरव हो जायगा ।

‡बेर के वृक्ष का नाम 'कर्कन्धू' है । यह कर्कोपपद 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जु०) धातु से औणादिक 'कू' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है । इस का निपातन उणादि के 'अन्दू-दृम्भू-जम्बू-कफेलू-कर्कन्धू-दिधिषूः' (९३) इस सूत्र में किया गया है कर्कम्=कण्टकं दधातीति कर्कन्धूः । यह शब्द पुल्लिङ्ग

प्रयोग ।]। 'कर्क+अन्धु' यहां भी पूर्ववत् ककारोत्तर अकार=टि और 'अन्धु' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश करने से—कर्क् 'अ' न्धु='कर्कन्धु' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

३—'कुलटा' [व्यभिचारिणी स्त्री]। 'कुल+अटा' यहां लकारोत्तर अकार=टि और 'अटा' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश करने से—कुल् 'अ' टा='कुलटा'× प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

४—'मनीषा' [बुद्धि]। मनस्+ईषा' यहां 'अचोऽन्त्यादि टि' (३९) से 'अस् की टि' सञ्ज्ञा है। इस टि और 'ईषा' शब्द के आदि ईकार के स्थान पर 'ई' यह एक पररूप आदेश करने से—मन् ई' षा='मनीषा'* प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

ग्रन्थकार ने यहां सम्पूर्ण शकन्ध्वादि गण नहीं लिखा। निम्न लिखित शब्द भी इसी गण में आते हैं—

५—'हलीषा' [हलस्य ईषा=दण्ड हलीषा। हल का दण्ड]। 'हल+ईषा' यहां लकारोत्तर अकार=टि और 'ईषा' शब्द के आदि ईकार के स्थान पर 'ई' यह एक पर रूप आदेश करने से—हल 'ई' षा=हलीषा'† प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

६—'लाङ्गलीषा' [लाङ्गलस्य=हलस्य ईषा=दण्ड = लाङ्गलीषा। हल का दण्ड।]। 'लाङ्गल+ईषा' यहां लकारोत्तर अवर्ण=टि और ईषा शब्द के आदि ईकार के स्थान पर 'ई' यह एक पररूप हो कर—लाङ्गल् 'ई' षा=लाङ्गलीषा' प्रयोग सिद्ध होता है।

—और स्त्रीलिङ्ग दोनों प्रकार का होता है। 'कर्क धु' ऐसा ह्रस्वोवर्णान्त शब्द भी कहीं २ बेरवाची मिलता है। वहां 'उणादयो बहुलम्' (८४८) सूत्र में 'बहुल ग्रहण के सामर्थ्य से 'कू' प्रत्यय की बजाय 'कु' प्रत्यय हुआ समझना चाहिये। बेरवाची इस 'कर्कन्धु' शब्द का शकन्ध्वादियों में पाठ करना व्यर्थ है क्योंकि वहां 'डुधाञ्' धातु है 'अन्धु' शब्द नहीं। अतः वहां पररूप करने की कोई आवश्यकता ही नहीं। कुछ लोग बेर वाची 'कर्कन्धु' शब्द का 'कर्क+अन्धु' ऐसा छेद कर के पर रूप करते हैं, जैसा कि क्षीरस्वामी ने अमरकोष की टीका तथा श्रीहेमचन्द्राचार्य ने अपने 'अभिधानचिन्तामणि' कोष में लिखा है। परन्तु उन की यह कल्पना ठीक नहीं, क्योंकि इस से ऐसा कोई अर्थ नहीं निकल सकता जिस का बेर से दूर का भी सम्बन्ध हो सकता हो।

×अट गतौ (भ्वा) इत्यस्माद् 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (७८६) इति कर्तर्यचि 'अजाद्यतष्टाप्' (१२४५) इति टापि अटेति सिध्यति। अटतीत्यटा। कुलानामटा=कुलटा। कुलान्यटतीति विग्रहे तु कर्मण्यणि 'टिड्ढ—' (१२४७) इति ङीपि कुलाटीति स्यात्।

*इष गतौ (भ्वा०) इत्यस्माद् भावे 'गुरोश्च हलः' (८६८) इति अ प्रत्ययः। स्त्रियामित्यधिकारात् ततष्टाप्, मनस ईषा=गतिः, मनीषा। बुद्धिर्मनीषेत्युच्यते।

†कई लोग 'मनीषा' की देखादेखी 'हलीषा' का भी हल न्+ईषा ऐसा छेद करते हैं पर यह भारी भूल है।

७—'पतञ्जलि' [व्याकरणमहाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि]। 'पतत्+अञ्जलि' यहां 'अत्' की 'टि' सञ्ज्ञा है। इस टि और 'अञ्जलि' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप हो कर—'पत् अ' ञ्जलि=पतञ्जलि * प्रयोग सिद्ध होता है।

८—'सारङ्ग' [चातक व हरिण]। 'सार+अङ्ग' यहां रेफोत्तर अवर्ण=टि और 'अङ्ग' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश करने से—'सार् अ' ङ्ग='सारङ्ग' प्रयोग सिद्ध होता है।

यहां यह ध्यान रहे कि चातक और हरिण अर्थ में ही इसका शकन्ध्वादियों में पाठ है, अन्य अर्थ में शकन्ध्वादियों में पाठ न होने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) द्वारा सवर्ण दीर्घ हो कर 'साराङ्ग' बन जाता है। अतएव गणपाठ में 'सारङ्गः पशुपक्षिणोः' ऐसा उल्लेख किया गया है।

९—'सीमन्त' [सीम्नोऽन्तः=सीमन्तः]। 'सीम+अन्त'× यहां मकारोत्तर अवर्ण=टि और 'अन्त' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह पररूप एकादेश करने से—'सीम् 'अ' न्त=सीमन्त' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। केशों की सीमा के अन्त अर्थात् माँग को 'सीमन्त' कहते हैं। स्त्रियां जब कङ्घी द्वारा बाल सवारती हैं तो बालों के मध्य जो रेखा सी हो जाती है उसे सीमन्त या माँग कहते हैं। 'माँग' से भिन्न अर्थ में इस का शकन्ध्वादि गण में पाठ न होने के कारण 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्ण दीर्घ हो कर 'सीमान्त'† बनेगा।

❀ 'आकृति-गणोऽयम्'‡। समास—आकृत्या=स्वरूपेण=कार्य दर्शनेन गण्यते=परिचीयत इति आकृति गणः। अर्थ—(अयम्) यह शकन्धु आदि शब्दों का समूह (आकृति गण) आकृति से गिना जाता है। इस का भाव यह है कि शकन्ध्वादि जितने शब्द गण में पढ़े गये हैं, ये इतने ही हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिये। किन्तु जिस २ शब्द में पररूप कार्य हुआ दीखे उसे शकन्ध्वादि गण में गिन लेना चाहिये। यथा—मार्तण्ड'

---

*पतन् अञ्जलिर्यस्मिन् नमस्कार्यत्वाद् असौ पतञ्जलिः, बहुव्रीहि समासः। तपस्यन्त्या गोपी नाम्न्याः स्त्रिया अञ्जलेः सर्परूपेण पतितोऽयं पतञ्जलिरिति इतिहास-संवादे तु 'अञ्जलेः पतन्' इति विग्रहः तत्र च मयूरव्यंसकादित्वात् समासः।

× यहां समास में विभक्ति लोप होने से पदत्व के कारण 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो जाता है।

† इस का अर्थ है—भूमि आदि की सीमा का अन्त।

‡ इस गण के आकृति-गण होने में 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' (१।३।४२) [समर्+अर्थाभ्याम्], 'अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु'... 'समर्थयोः' (२।३।५७) [समर्+अर्थयोः] इत्यादि पाणिनि के निर्देश प्रमाण हैं।

शब्द लोक में प्रसिद्ध है, इस में पररूप हुआ मिलता है अत इसे भी शकन्ध्वादिगण के अन्तर्गत समझना चाहिये। इस की साधन प्रक्रिया यथा—'मृतञ्चादोऽण्डम्' इस कर्मधारय समास में विभक्तियों का लुक् हो कर 'मृत + अण्ड' हो जाता है। अब तकारोत्तर अवर्ण तथा 'अण्ड' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह पररूप एकादेश करने से मृत् 'अ' ण्ड='मृतण्ड' बन जाता है। मृतण्डे भव =मातण्ड, * यहां 'तत्र भव' (१०८१) से अण् 'तद्धितेष्वचामादेः' (९३८) से आदि वृद्धि तथा 'यस्येति च' (२३६) से अकार का लोप हो जाता है †।

[लघु०] विधि सूत्रम्—४० ओमाङोश्च ।६।१।६३॥

ओमि आङि चात् परे पररूपमेकादेशः स्यात् । शिवायोंनमः । 'शिव + एहि' इति स्थिते—

अर्थ—अवर्ण से ओम् अथवा आङ् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर एक पर रूप आदेश हो जाता है।

व्याख्या—आत् ।५।१। ['आद् गुणः' से] ओमाङो ।७।२। च इत्यव्ययपदम्। पूर्व परयो ।६।२। एक ।१।१। ['एक पूर्व-परयो' यह अधिकृत है।] पर रूपम् ।१।१। ['एङि पररूपम्' से] समास—ओम् च आङ् च=ओमाङौ तयो =ओमाङो इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ—(आत्) अवर्ण से (ओमाङो) ओम् अथवा आङ् परे होने पर (पूर्व परयो) पूर्व+पर के स्थान पर (पररूपम्) पररूप (एक) एकादेश हो जाता है।

'ओम्' यह अव्यय तथा 'आङ्' यह उपसर्ग है। 'आङ्' के ङकार की प्रयोग दशा में इत्' संज्ञा हो जाती है, अत 'तस्य लोप' (३) से लोप होने के कारण 'आ' शेष रह जाता है।

उदाहरण यथा—'शिवायोंनमः' [ओं नमः शिवाय=शिव जी के प्रति नमस्कार हो।] शिवाय + ओंनमः' (ओम्+नम ' यहां 'मोऽनुस्वार' [७७] से मकार को अनुस्वार हो 'वा पदान्तस्य' [८०] में उसे वैकल्पिक परसवर्ण नकार हो जाता है।) यहाँ यकारोत्तर अवर्ण से 'ओम् परे है अत पूर्व=अवर्ण और पर=ओकार के स्थान पर 'ओ' पररूप आदेश हो कर शिवाय 'ओ' न्नम = शिवायोंनमः' प्रयोग सिद्ध होता है।

---

* मार्तण्ड =मरे हुए अण्डे में होने वाला=सूर्य इस की कथा मार्कण्डेय पुराण के १०५ वें अध्याय में देखें।

† कश्चिदत्र—मृतोऽण्डो यस्य स =मृतण्ड, मृतण्डस्य अपत्यम्=मार्तण्ड, 'तस्यापत्यम्' (१००१) इत्यण इत्येव विगृह्णन्ति।

'शिवेहि' [शिव जी आओ] । शिव ! आ+इहि' यहा 'आद् गुण' (२७) सूत्र से 'आ+इ के स्थान पर 'ए' यह गुण एकादेश हो कर—'शिव एहि' रूप बना । अब यहा 'आङ' न होने से 'ओमाङाश्च' सूत्र प्राप्त नहीं होता इस पर 'ए' में आङत्व लाने के लिये अग्रिम अतिदेश सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—४१ अन्तादिवच्च । ६ । १ । ८३ ॥

योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत् परस्यादिवत् स्यात् । शिवेहि ।

अर्थ—जो यह एकादेश किया जाता है वह पूर्व के अन्त के समान तथा पर के आदि के समान होता है ।

व्याख्या—एक ।१।१। पूर्वपरयो ।६।२। ('एक पूर्वपरयो' स) अन्तादिवत् इत्यव्ययपदम् । च इत्यव्ययपदम् । समास—अन्तश्च आदिश्च=अन्तादी, इतरेतर द्वन्द्व । अन्तादिभ्या तुल्यम्=अन्तादिवत् 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वति' (११४८) इति वति प्रत्यय । अर्थ—(एक) यह एकादेश (पूव परया) पूर्व और पर के (अन्तादिवत्) अ त और आदि के समान होता है । तात्पर्य यह है कि 'एक पूर्वपरयो' (६।१।८२) सूत्र से जिस एकादेश का अधिकार किया गया है वह एकादेश पूर्व के अन्त के समान तथा पर के आदि के समान हाता है । इस सम्पूर्ण एकादेश के अधिकार में पूर्व और पर वर्ण ही स्थानी हैं, इन वर्णों के एकादेश के अखण्ड होने स इन में अन्त और आदि नहीं बन सकते । अत यहां पूर्व से पूव वर्ण घटित (पूव वर्ण वाला) शब्द तथा पर से पर-वर्ण घटित (पर वर्ण वाला) शब्द ग्रहण किया जाता है । यथा—क्षीरप+इन' यहा आद् गुण' (२७) से पकारोत्तर अकार तथा 'इन' शब्द के आदि इकार के स्थान पर ए' यह एक गुणादेश हो 'एकाजुत्तर पदे ण' (२८६) से णत्व करने पर 'क्षीरपेण बनता है । यहां एकादेश 'ए' है । यह 'ए पूर्व शब्द अर्थात् क्षीरप' शब्द के अन्त=अ के समान तथा पर शब्द अर्थात् 'इन' के आदि=इ के समान होगा । अर्थात् इस 'ए' को अकार मान कर अकाराश्रित कार्य तथा इकार मान कर इकाराश्रित कार्य हो जाएगे । इस सूत्र के उदाहरण 'काशिका' आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखने चाहियें ।

'शिव+एहि यहा 'ए' यह एकादेश है । यह एकादेश पूर्व शब्द के अन्त के समान होगा । पूर्व शब्द 'आ है । इस का अन्त भी आ है (क्योंकि एक अक्षर में—वही अपना आदि और वही अपना अन्त हुआ करता है । जैसे किसी का एक पुत्र हो तो उस के लिये वही बडा और वही छोटा हुआ करता है) । अत यह 'आ' 'आङ् के सदृश होगा अर्थात् जो २ कार्य 'आङ्' के रहने पर हो सकते हैं, वे इस के रहने पर भी होंगे । 'आङ्' के होने से 'ओमाङोश्च' (४०) सूत्र प्रवृत्त होता है, वह अब 'ए' के होने से भी होगा । तो इस

प्रकार 'ओमाङोश्च' (४०) सूत्र से पूर्व+पर के स्थान पर एक पररूप 'ए' हो कर—शिव् 'ए' हि='शिवेहि' प्रयोग सिद्ध होता है ।

प्रश्न :—'ओमाङोश्च' (४०) सूत्र में यदि 'आङ्' का ग्रहण न भी करें तो भी 'शिवेहि' आदि रूप यथेष्ट सिद्ध हो सकते हैं । तथाहि—'शिव+आ+इहि' यहां प्रथम 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्ण दीर्घ हो—'शिवा + इहि' बन जायगा, पुनः 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश करने से—'शिवेहि' प्रयोग सिद्ध हो जायगा । तो 'ओमाङोश्च' (४०) सूत्र में 'आङ्' ग्रहण क्यों किया गया है ? ।

उत्तर—पाणिनीय व्याकरण में '**असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे**' एक परिभाषा है । इस का अभिप्राय यह है कि जहां अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कार्य युगपत्=इकट्ठे उपस्थित हों वहां बहिरङ्ग को असिद्ध समझ कर प्रथम अन्तरङ्ग कार्य कर लेना चाहिये । बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कार्यों का विस्तार पूर्वक विचार व्याकरण के उच्च-ग्रन्थों में किया गया है वहीं देखें । यहां इतना समझ लेना चाहिये कि '**धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्**' अर्थात् धातु+उपसर्ग का कार्य अन्तरङ्ग होता है । 'शिव+आ+इहि' यहां 'आ' यह उपसर्ग तथा 'इहि' यह धातु है । अतः 'आ + इ' के स्थान पर गुण कार्य अन्तरङ्ग होने से प्रथम होगा, सवर्ण दीर्घ बहिरङ्ग होने से प्रथम न होगा । इस से जब 'शिव+एहि' बन जायगा तब यदि 'ओमाङोश्च' (४०) में 'आङ्' का ग्रहण न करेंगे तो 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर—'शिवैहि' ऐसा अनिष्ट प्रयोग बन जायगा । अतः इस की निवृत्ति के लिये सूत्र में 'आङ्' का ग्रहण अत्यावश्यक है ।

नोट:—ध्यान रहे कि 'ओमाङोश्च' (४०) सूत्र 'वृद्धिरेचि' (३३) तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) दोनों का अपवाद है ।

अभ्यास (६)

(१) आकृति गण किसे कहते हैं ? शकन्ध्वादि गण के आकृति-गण होने में क्या प्रमाण है ? सविस्तर प्रकाश डालें ।

(२) 'नैजते' में 'एङि पररूपम्', 'अव+एहि' में 'एत्येधत्यूठ्सु', 'लाङ्गल+ईषा' में 'आद् गुणः', 'कुल + अटा' तथा 'सा+अर्थात्'* में 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होते ? ।

(३) 'तच्च टे' यह किस की उक्ति है ? इस का क्या अभिप्राय और क्या आधार है ? स्पष्ट सविस्तर प्रतिपादन करें ।

---

* अत्र 'आङ्' बोध्य ।

(४) 'अन्तादिवच्च' सूत्र की आवश्यकता बताते हुए सूत्रार्थ पर विशेष प्रकाश डालें ।

(५) 'कर्कन्धु' शब्द पर क्षीरस्वामी आदि की प्रक्रिया का उल्लेख कर उस का खण्डन करें ।

(६) सारङ्ग, साराङ्ग सीमन्त सीमान्त कुलटा, कुलाटी, इन पदयुगलों का परस्पर सप्रमाण भेद निरूपण करें ।

(७) अधोलिखित प्रयोगों मे सन्धिच्छेद कर के उसे सूत्रों द्वारा प्रमाणित करें—
१ कोमित्यवोचत् । २ प्रेषयति । ३ पतञ्जलि । ४ कदोढा * । ५ उपेहि । ६ अच्छर्यात् * । ७ मार्तण्ड । ८ अवेजते । ९ लाङ्गलीषा । १० प्रोषति । ११ मनीषा । १२ प्रेषणीयम् । १३ कृष्णेहि । १४ अद्योढा * ।

(८) निम्न लिखित वचनों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१ यथा देवदत्तस्यैक पुत्र स एव ज्येष्ठ स एव कनिष्ठ । २ असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे । ३ धातूपसर्गयो कार्यमन्तरङ्गम् ।

(९) 'टि' सञ्ज्ञा विधायक सूत्र का व्याख्यान करें ।

—० ❀ ०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—४२ अक सवर्णे दीर्घ ।६।१।९८॥

अक' सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेश' स्यात् ।दैत्यारिः।श्रीशः। विष्णूदयः । होतॄकार ।

अर्थ—अक् से सवर्ण अच् परे होने पर पूर्व+पर के स्थान में दीर्घ एकादेश हो जाता है ।

व्याख्या—अक ।५।१। सवर्णे ।७।१। अचि ।७।१। ('इको यणचि' से) पूर्व परयो ।६।२। एक ।१।१। ('एक पूर्वपरयो' यह अधिकृत है) दीर्घ ।१।१। अर्थ—(अक) अक से (सवर्णे) सवर्ण (अचि) अच् परे होने पर (पूर्व परयो) पूर्व+पर के स्थान में (एक) एक (दीर्घ) दीर्घ आदेश हो जाता है ।

अक प्रत्याहार में 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' ये पाञ्च वर्ण आते हैं इन से परे यदि इन का कोई सवर्ण अच् हो तो इन दोनों के स्थान पर एक दीर्घ हो जाता है । यद्यपि दीर्घ अच बहुत हैं तथापि 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) से वही दीर्घ किया जाता है जो इन स्थानियों के तुल्य होता है । उदाहरण यथा—

१—'दैत्यारि' (दैत्यों के शत्रु=भगवान् विष्णु) । 'दैत्य+अरि' यहा यकारोत्तरवर्ती अकार 'अक्' है, इस से परे 'अरि' शब्द का आदि अकार सवर्ण अच् है । अत इन दोनों

* एषु सर्वत्र 'आङ्' बोध्य ।

के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) द्वारा 'आ' यह दीर्घ एकादेश हो कर विभक्ति लाने से—दैत्य् 'आ' रि='दैत्यारि' प्रयोग सिद्ध होता है। दैत्यानाम् अरि =दैत्यारि ।

२–'श्रीश' (लक्ष्मी के स्वामी=भगवान् विष्णु)। 'श्री+ईश' यहां रेफोत्तर ईकार 'अक्' और उससे परे 'ईश' शब्द का आदि ईकार सवर्ण अच् है। इन दोनों के स्थान पर 'ई' यह सवर्ण दीर्घ एकादेश हो कर विभक्ति लाने से—श्र् 'ई' श='श्रीश' प्रयोग सिद्ध होता है। श्रिय ईश =श्रीश ।

३–'विष्णूदय' (विष्णो =तन्नाम देव विशेषस्य, सूर्यस्य वा उदय =आविर्भाव उन्नतिर्वा विष्णूदय)। 'विष्णु+उदय' यहां णकारोत्तर उकार 'अक्' है इस से परे 'उदय' शब्द का आदि उकार सवर्ण अच् है अत पूर्व+पर के स्थान पर 'ऊ' यह सवर्ण दीर्घ एकादेश करने से—विष्ण् 'ऊ' दय='विष्णूदय' प्रयोग सिद्ध होता है।

४–'होतॄकार' (होतुः ऋकार =होतॄकार । होता का ऋकार)। 'होतृ+ऋकार' यहां पूर्व + पर के स्थान पर 'ॠ' यह एक सवर्ण दीर्घ हो कर—होत् 'ॠ' कार='होतॄकार' प्रयोग सिद्ध होता है।

ऌकार का उदाहरण अप्रसिद्ध तथा कठिन होने से यहां नहीं दिया गया 'सिद्धान्त-कौमुदी' में दिया गया है, वहीं देखें।

'यह सूत्र अकार के विषय में 'आद् गुण' (२७) सूत्र का तथा अन्यत्र 'इकोयणचि' (१५) सूत्र का अपवाद है।

अभ्यास (१०)

(१) अधो-लिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद कर के सूत्रों द्वारा उसे प्रमाणित करो—

१दण्डाग्रम् । २ मधूदके । ३ दधीन्द्र । ४ होतॄश्य । ५ कुमारीहते । ६ पितॄणाम् । ७ विद्यानन्द । ८ भूमीश । ९ परमार्थ । १० यथार्थ । ११ विधूदय । १२ विद्यार्थी । १३ महीन । १४ वेदाभ्यास, । १५ कमलाकर: । १६ कर्तॄणि १७ भानूदय । १८ पक्तॄजीषम् । १९ तरूर्ध्वम् । २० गिरीश ।

(२) अधो लिखित रूपों में सूत्रार्थसमन्वय दर्शाते हुए सन्धि करो —

१ कदा + अगात् । २ महती+इच्छा । ३ हरि + इन्द्र । ४ मधु+उत्तमम् । ५ कर्तृ + ऋद्धि । ६ सनक+आदि । ७ फलानि + इमानि । ८ कारु + उत्तम । ९ नेतृ + ऋभुक्षा । १० वधू+उत्सव । ११ कदा + अत्र । १२ सती + ईश । १३ श्रद्धा + अस्ति । १४ मुनि+इन्द्र । १५ अन्त+आदि । १६ यदा + आसीत् । १७ नदी+इदानीम् । १८ तरु+उपेत । १९ भर्तृ+ऋद्धि । २० तुल्य+आस्य ।

(३) 'अक सवर्णे दीर्घ' सूत्र किस २ का अपवाद है ?

—०ॐ०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—**४३ एङः पदान्तादति ।६।१।१०६॥**

पदान्तादेङोऽति परे पूर्व-रूपम् एकादेशः स्यात् । हरेऽव । विष्णोऽव ।

अर्थ—पदान्त एङ् से अत् परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है ।

व्याख्या—पदान्तात् ।५।१। एङः ।५।१। अति ।७।१। पूर्व परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्व परयोः' यह अधिकृत है ।] पूर्वः ।१।१। ['अमि पूर्वः' से] अर्थ—(पदान्तात्) पदान्त (एङः) एङ् से (अति) अत् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्वः) पूर्वरूप आदेश हो जाता है ।

एङ्' प्रत्याहार मे 'ए, ओ' ये दो वर्ण आते हैं यदि ये वर्ण पद के अन्त मे स्थित हो और इन से परे अत् अर्थात् ह्रस्व अकार हो तो पूर्व+पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है । यह सूत्र 'एचोऽयवायावः (२२) सूत्र का अपवाद है ।

उदाहरण यथा—[१] 'हरेऽव' (हे हरे ! रक्षा करो) । 'हरे+अव यहा 'हरे यह सम्बोधन का एकवचनान्त होने से पद है इस पद के अन्त वाले एकार=एङ् से 'अव' शब्द का आदि अत् परे है, अत इन दोनों के स्थान पर एक पूर्वरूप 'ए' हो कर—हर् 'ए' व='हरेऽव प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

[२] 'विष्णोऽव' (हे विष्णो ! रक्षा करो) । 'विष्णो+अव' यहा भी पूर्ववत् पूर्व=ओकार और पर=अकार के स्थान पर एक पूर्वरूप ओ' हो कर—विष्ण् 'ओ' व='विष्णोऽव' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

नोट—'ऽ' यह चिह्न करें या न करें अपनी इच्छा पर निर्भर है । यह केवल इस बात को प्रकट करता है कि यहा पहले अकार था* । कई लोग इस चिह्न को अकार समझ कर वैसा उच्चारण करते हैं वह उन की भूल है, क्योंकि जब एकादेश हो गया तो अन्य वर्ण कहा से आया ? ।

सूत्र में एङ' को पदान्त कहने का अभिप्राय यह है कि 'जे+अ=जय , ने+अ=नय भो+अ=भव ' इत्यादि प्रयोगों में अपदान्त एङ से अत परे होने पर पूर्वरूप एकादेश न हो ।

---

* यह चिह्न अत्यन्त आधुनिक है, तभी तो 'भ्यसो भ्यम्' (३१३) सूत्र के महाभाष्य में लिखा है—"किमयं 'भ्यम्' शब्द आहोस्विद् 'अभ्यम्' शब्द ? । कुत सन्देह ? समानो निर्देश " । यहा 'समानो निर्देश ' से सिद्ध होता है कि पहले उक्त चिह्न नहा था प्रत्युत भट्टोजिदीक्षित के समय में भी नहीं था । समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे' इस सूत्र को लिख कर दीक्षित ने वृत्ति में ['अग्रन्थे' इतिच्छेद] ऐसा लिखा है यदि तब यह चिह्न होता तब 'यमोऽग्रन्थ होने से छेद लिखना व्यर्थ था । चिह्नों पर विशेष टिप्पण आगे (१३१) सूत्र पर देखें ।

अभ्यास (११)

(१) निम्न लिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद कर उसे सूत्रों द्वारा प्रमाणित करें—

१ अग्नेऽत्र। २ वायोऽत्र। ३ गुरवेऽदात्। ४ रामोऽस्ति। ५ पचतेऽसौ। ६ नमोऽस्तु। ७ संसारेऽधुना। ८ सर्पोऽहम्। ९ तेऽत्र। १० ब्राह्मणोऽब्रवीत्। ११ वटोऽयम्। १२ ब्रह्मणेऽस्तु। १३ वचनोऽनुनासिक। १४ स्थानेऽन्तरतम। १५ पण्डितोऽपि।

(२) सूत्रार्थ समन्वय पूर्वक सन्धि करें—

१ ते + अकमका। २ पुरुषो + अत्र। ३ वने + अस्मिन्। ४ ततो + अ यत्र। ५ आधारो + अधिकरणम्। ६ सहयुते + अप्रधाने। ७ उपो + अधिके च। ८ अभ्यासा + अत्र। ९ को + अपि। १० अन्धो + असौ। ११ के + अपि। १२ लोके + अत्र। १३ इको + असवर्णे। १४ एचो + अयवायाव। १५ उपदेशे + अज्।

(३) एङ पदान्तादति' में 'पदान्त' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?।

—०❀०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—४४ सर्वत्र विभाषा गो ।६।१।११९॥

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभाव' पदान्ते। गो अग्रम। एङन्तस्य किम्? गोः।

अर्थ—लोक और वेद में एङन्त 'गो' शब्द को पदान्त में विकल्प कर के प्रकृति भाव हो जाता है।

व्याख्या—सर्वत्र इत्यव्ययं पदम्*। पदान्तस्य ।६।१। ['एङ पदान्तादति' से 'पदान्तात्' पद आ कर विभक्ति विपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है। इसे यदि सप्तमी विभक्ति में परिणत करें तो भी कुछ दोष नहीं होता, जैसा कि ग्रन्थकार ने वृत्ति में किया है।] एङः ।६।१। ['एङ पदान्तादति' से विभक्ति विपरिणाम द्वारा प्राप्त होता है।] यह 'गो' पद का विशेषण है, अतः इस से 'येन विधिस्तदन्तस्य' द्वारा तदन्तविधि हो कर 'एङन्तस्य'

*पीछे से 'यजुषि=यजुर्वेद में' की अनुवृत्ति आ रही है उस की निवृत्ति के लिये यहां 'सर्वत्र' पद का ग्रहण किया गया है। लौकिक और वैदिक के भेद से संस्कृत भाषा दो प्रकार की होती है। लौकिक भाषा लोक अर्थात् काव्यादि लौकिक ग्रन्थों में प्रयुक्त होती है यहां लौकिक भाषा के लिये केवल 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यथा— प्रत्यये भाषायां नित्यम्। वैदिक भाषा वेद में ही प्रयुक्त होती है, उसके लिये यहां कुछ विशेष नियम हैं। परन्तु यह सूत्र 'सर्वत्र' अर्थात् दोनों भाषाओं में समानरूप से प्रवृत्त होता है।

बन जाता है ।] गो ।६।१। अति ।७।१। ['एङ पदान्तादति' से] विभाषा ।१।१। प्रकृत्या ।३।१। ['प्रकृत्यान्त पादम यपरे' से] अवस्थान भवतीति शेष । अर्थ —(सवत्र) चाहे यजुर्वेद हो या अन्य वेद अथवा लोक ही क्यों न हो सब जगह (पदान्तस्य) पदान्त (एङ = एङन्तस्य) जो एङ—तदन्त (गो) गो शब्द का (अति) अत् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (प्रकृत्या) स्वभाव से अवस्थान हो जाता है ।

एङन्त गो शब्द से ओदन्त गो शब्द का ग्रहण समझना चाहिये, क्योंकि एदन्त गो शब्द तो कभी हो ही नहीं सकता ।

प्रकृति का अर्थ **स्वभाव** है । वर्णों का स्वभाव उन का स्वरूप ही हो सकता है । 'प्रकृति से रहते हैं या प्रकृति भाव को प्राप्त होते हैं इस का तात्पय प्रयोग का मूल अवस्था मे रह जाना अर्थात् कोई विकार न होना है । अतएव प्रकृति भाव स्थल में संहिताकाय-सन्धि नही होती ।

गो+अग्र' ['गवाम् अग्रम्' ऐसा यहा षष्ठी तत्पुरुष समास है ।] यहा यद्यपि समास के कारण गो शब्द से परे 'आम्' सुप का सुपो धातु प्रातिपदिकयो ' (७२१) सूत्र से लुक् हुआ २ है तथापि प्रत्यय लोपे प्रत्यय लक्षणम्' (१९०) सूत्र की सहायता से यहा 'सुप्तिङन्त पदम्' (१४) द्वारा इस की पद सञ्ज्ञा अक्षुण्ण है अत गो शब्द के अन्त में पदान्त एङ वत्तमान है, इस के आगे 'अग्र' शब्द का आदि अत् भी मौजूद है । तो यहा गो शब्द प्रकृति स अर्थात अपने स्वरूप में सन्धि कार्य से रहित वैसे का वैसा विकल्प से रहेगा । जहां प्रकृतिभाव होगा वहां विभक्ति लाने से—'गो अग्रम्' प्रयोग सिद्ध होगा । ध्यान रहे कि यहा प्रथम एङ पदान्तादति' (४३) से पूर्व रूप प्राप्त था । पुन उसे बाध कर 'अवङ् स्फोटायनस्य' (४७) से वैकल्पिक अवङ् प्राप्त होता था । यह सूत्र उस का अपवाद समझना चाहिये । जहा प्रकृति भाव नहीं होगा वहा 'अवङ् स्फोटायनस्य' (४७) सूत्र प्रवृत्त होगा* ।

यहा 'एङ त' कहने का यह प्रयोजन है कि ओदन्त गो शब्द को ही प्रकृतिभाव हो उकारान्त गोशब्द को न हो । यद्यपि गोशब्द स्वयम् ओदन्त है उकारान्त नहीं तथापि समास में 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (९४२) सूत्र से ह्रस्व करने पर उकारान्त हो जाया करता है ।

---

*यहां कई लोग विकल्प पक्ष में 'एङ पदान्तादति (४३) से पूर्वरूप कर 'गोऽग्रम्' ऐसा मूल में पाठ लिखते हैं यह उन की भूल है क्योंकि यह सूत्र 'अवङ् स्फोटायनस्य' (४७) सूत्र का अपवाद है, 'एङ पदान्तादति' (४३) सूत्र का नहीं अत इस के प्रवृत्त हो चुकने पर उसी की ही प्रवृत्ति करनी योग्य है । हा जब वह प्रवृत्त हो चुकेगा तब वैकल्पिक होने से पक्ष में एङ पदान्तादति (४३) सूत्र भी प्रवृत्त हो जायगा ।

उदाहरण यथा—'चित्रगु+अग्रम्' [चित्रा गावो यस्य स चित्रगु, बहुव्रीहि समास । चित्र गोरग्रम् इति षष्ठी तत्पुरुष-समासे सुब्लुकि रूपमिदम् ।] यहा गोशब्द के एङन्त न होने से सर्वत्र विभाषा गो' (४४) से प्रकृतिभाव नही होता 'इको यणचि' (१५) से उकार को वकार हो कर विभक्ति लाने पर 'चित्रग्वग्रम्' प्रयोग बन जाता है* ।

यहा गोशब्द को पदान्त में प्रकृतिभाव इसलिये कहा गया है कि अपदान्त म प्रकृतिभाव न हो जाय । यथा—'गो + अस्' [यहा गोशब्द से ङसि व ङस् प्रत्यय किया गया है ।] यहा पदान्त न होने से यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता, 'ङसि ङसोश्च' (१७३) सूत्र से पूर्वरूप हो कर गो' प्रयोग बन जाता है । इस की विशेषतया सिद्धि 'अजन्त पुंल्लिङ्ग प्रकरण' मे 'गो' शब्द पर देखें† ।

अब प्रकृतिभाव के अभाव पक्ष मे 'अवङ् स्फोटायनस्य' (४७) सूत्र प्रवृत्त करने के लिये दो परिभाषाए लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—४५ अनेकाल् शित् सर्वस्य ।१।१।५५॥

[अनेकाल् य आदेशः शिच्च, स सर्वस्य षष्ठी निर्दिष्टस्य स्थाने स्यात् ।]

नोट—यहा वृत्ति हमारी जोड़ी हुई है ग्रन्थकार ने स्पष्ट होने से वृत्ति नहीं लिखी ।

अर्थ—जिस आदेश म अनेक अल (वर्ण) हों तथा जिस का शकार इत्सञ्ज्ञक हो वह सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है । इस परिभाषा के प्राप्त होने पर [अग्रिम परिभाषा प्रवृत्त हो जाती है ।] ।

व्याख्या—अनेकाल् ।१।१। शित् ।१।१। सर्वस्य ।६।१। समास —न एक =अनेक, नञ्तत्पुरुष । अनेकोऽल् यस्य स =अनेकाल्, बहुव्रीहि समासः । श् (शकारः) इत् यस्य स शित्, बहुव्रीहि समास । अर्थ —(अनेकाल) अनेक अलों वाला तथा (शित्) शकार इत् वाला आदेश (सर्वस्य) सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है ।

'अल्' प्रत्याहार में सम्पूर्ण वर्ण आ जाते हैं अत अल या वर्ण पर्याय अर्थात् एकार्थ वाची शब्द हैं । जिस आदेश में एक से अधिक अल् या वर्ण हों अथवा जिस आदेश के शकार की इत्सञ्ज्ञा होती हो तो वह आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा ।

*ध्यान रहे कि यदि किसी अवयवी का एक अवयव विकृत हो जय, तो भी वह वही रहता है अन्य नहीं हो जाता यथा— यदि किसी कुत्ते की पूछ कट जाए तो भी वह कुत्ता ही रहता है अन्य नहीं हो जाता । इसी प्रकार यहा यद्यपि गो शब्द का अवयव ओकार विकृत हो कर उकार बन गया है तथापि वह गो शब्द ही रहता है ।

† 'हे चित्रगोऽग्रम्' में भी प्रकृतिभाव न होगा, क्योंकि यहा एङ् लाक्षणिक है प्रतिपदोक्त नही । इस की विशेष व्याख्या अन्यत्र देखें ।

अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र कहता है कि आदेश स्थानी के अन्त्य अल् को हो, परन्तु यह सूत्र अनेकाल् तथा शित् आदेशों को सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होना बतलाता है। अतः यह सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र का अपवाद है।*

अनेकाल् आदेश का उदाहरण यथा—रामैः। यहां 'भिस्' स्थानी के सम्पूर्ण स्थान पर 'अतो भिस ऐस्' (१४२) से ऐस् आदेश होता है। यह सूत्र न होता तो 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) द्वारा भिस के अन्त्य सकार को फिर उस के बाधक 'आदेः परस्य' (७२) से आदि को 'ऐस्' हो जाता।

शित् आदेश का उदाहरण यथा—इतः। यहां 'इदम्' स्थानी के सम्पूर्ण स्थान पर 'इदम इश्' (११६७) से इश् आदेश होता है। यह सूत्र न होता तो 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) द्वारा 'इदम्' के अन्त्य मकार को इश् हो जाता।

प्रश्न—जितने 'इश' आदि शित् आदेश हैं वे सब अनेक अलों वाले हैं अनेकाल् होने के कारण ही वे सब सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर हो सकते हैं। पुनः सूत्र में 'शित्' के लिये विशेष यत्न क्यों किया गया है ?।

उत्तर—इस प्रकार शित् ग्रहण के बिना भी कार्य के सिद्ध हो जाने से महामुनि पाणिनि यह परिभाषा जतलाना चाहते हैं कि **'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्'** अर्थात् अनुबन्धों के कारण किसी को अनेकाल् नहीं मान लेना चाहिये जब तक कि उस के अन्य अल् अनेक न हों। जिस की इत्सञ्ज्ञा होती है उसे अनुबन्ध कहते हैं। 'इश्' आदि में शकार आदि की इत्सञ्ज्ञा होती है अतः शकार आदि अनुबन्ध हैं। अब यदि 'इश्' में अनुबन्ध शकार को छोड़ दें तो केवल 'इ' रह जाता है। तब यह अनेकाल् नहीं रहता, अतः यह सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर प्राप्त नहीं हो सकता। इस लिये 'शित्' ग्रहण आवश्यक है। इस की विशेष व्याख्या व्याकरण के उच्चग्रन्थों में देखें।

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—४६ ङिच्च।१।१।५२॥

ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात्।

अर्थः—ङित् आदेश चाहे अनेकाल् भी क्यों न हो अन्त्य अल् के स्थान पर होगा।

व्याख्या—ङित्।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अन्त्यस्य।६।१। अलः।६।१। ['अलोऽन्त्यस्य' से] समासः—ङ् (ङकार) इत् यस्य स ङित्, बहुव्रीहि समासः। अर्थः—(ङित्) ङकार इत् वाला आदेश (अन्त्यस्य) अन्त्य (अलः) अल के स्थान पर होता है। यह सूत्र 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' (४५) सूत्र का अपवाद है। जिस आदेश के ङकार की इत्सञ्ज्ञा

---

*इसी प्रकार 'आदेः परस्य' (७२) सूत्र का भी यह अपवाद समझना चाहिये।

होती हो फिर वह चाहे अनेक अलों वाला भी क्यों न हो सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर न होकर अन्त्य अल् के स्थान पर ही होगा। इस सूत्र का उदाहरण अग्रिम सूत्र पर देखें।

[लघु०] विधि सूत्रम्—४७ अवङ् स्फोटायनस्य ।६।१।१२०॥

पदान्त एङन्तस्य गोरवङ् वा स्यादचि। गवाग्रम्। गोऽग्रम्। पदान्ते किम्? गवि।

अर्थ—पदान्त में जो एङ्, तदन्त गो शब्द को अच् परे होने पर विकल्प कर के अवङ् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—पदान्तस्य।६।१। [एङः पदान्तादति' से विभक्ति विपरिणाम कर के प्राप्त होता है। इसका सप्तमी विभक्ति में भी विपरिणाम हो सकता है जैसा कि ग्रन्थकार ने किया है।] एङः ।६।१। [एङः पदान्तादति' से विभक्ति विपरिणाम कर के प्राप्त होता है यह 'गो' पद का विशेषण है अतः इस से तदन्त विधि हो कर एङन्तस्य' बन जाता है।] गोः ।६।१। [सर्वत्र विभाषा गोः से] अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] अवङ् ।१।१। स्फोटायनस्य ।६।१। [यहां स्फोटायन' ग्रहण उन के सत्कार के लिये है, क्योंकि 'विभाषा' पद तो पीछे से आ ही जाता है।] अर्थः—(पदान्तस्य) पद के अन्त वाला (एङन्तस्य) जो एङ्, तदन्त (गोः) गो शब्द के स्थान पर (अचि) अच् परे रहते (अवङ्) अवङ् आदेश हो जाता है (स्फोटायनस्य) स्फोटायन आचार्य के मत में।

'स्फोटायन' पाणिनि से पूर्व-वर्त्ती व्याकरण के आचार्य हो चुके हैं इस सूत्र में पाणिनि ने उन के मत का उल्लेख किया है। यह अवङ् आदेश स्फोटायन आचार्य के मत में होता है अन्य आचार्यों के मत में नहीं होता। हमें सब आचार्य प्रमाण हैं, अतः अवङ् आदेश विकल्प से होगा*।

उदाहरण यथा—'गो+अग्र' यहां समास में षष्ठी के बहुवचन 'आम्' का लुक् हुआ है अतः प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९०) द्वारा 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) से 'गो' की पद सञ्ज्ञा है। इस के अन्त में पदान्त एङ्=ओ वर्त्तमान है। इस से परे 'अग्र' शब्द का आदि अकार अच् भी वर्त्तमान है। अतः इस सूत्र से 'गो' को अवङ् आदेश प्राप्त होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) से इस आदेश की अन्त्य अल्=ओकार के स्थान पर प्राप्ति होती है, परन्तु अनेक अलों वाला होने के कारण 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' (४५) द्वारा सम्पूर्ण 'गो' के स्थान पर प्राप्त होता है। पुनः 'ङिच्च' (४६) सूत्र की सहायता से अन्त्य

*परन्तु यह व्यवस्थित विभाषा होने से 'गवाक्ष' में नित्य ही अवङ् होगा वहां पर 'गो अक्ष' तथा 'गोऽक्ष' रूप नहीं बनेंगे। कहीं पर यह अवङ् होगा ही नहीं।

अब् 'ओ' को अवङ् आदेश हो कर — ग् अवङ् + अग्र हो जाता है। अब ङकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोप' (३) से लोप हो 'अक सवर्णे दीर्घ' (४२) से सवर्ण दीर्घ एकादेश होने पर— गवाग्र बना। अब विभक्ति लाने से— गवाग्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। जिस पक्ष मे अवङ् आदेश नहीं होता वहा 'एङ पदान्तादति' (४३) से पूर्व रूप हो कर गोऽग्रम्' प्रयोग बन जाता है। इस प्रकार प्रकृतिभाव वाले रूप सहित तीन रूप हो जाते हैं।

प्रकृतिभाव पक्ष मे —	१ गो अग्रम्।	['सर्वत्र विभाषा गो']।
प्रकृतिभाव के अभाव मे—	२ गवाग्रम्।	['अवङ् स्फोटायनस्य']।
	३ गोऽग्रम्।	[एङ पदान्तादति']।

यहा पदान्त ग्रहण इस लिये किया है कि अपदान्त एङन्त गो को अवङ न हो। यथा—गो+इ=गवि। यहा गो शब्द से परे सप्तमी का एकवचन ङि' प्रत्यय किया गया है अत यहा गो शब्द पदान्त नहीं। इस लिये अवङ् आदेश न हो कर 'एचोऽयवायाव (२२) से अव् आदेश हो जाता है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ गवेश, गवीश। २ गवेश्वर, गवीश्वर। ३ गो अधिप, गवाधिप गोऽधिप। ४ गवालय। ५ गवेच्छा गवीच्छा। ६ गवोदय, गवुदय। ७ गवर्द्धि गवृद्धि। ८ गवाढ्य गवुढ्य। ९ गवाक्ष।

ध्यान रहे कि अवङ् आदेश में केवल ङकार की ही इत्सञ्ज्ञा होती है। वकारोत्तर अकार अनुनासिक नहीं अत 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से उस की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। यदि इस का भी इत्सञ्ज्ञा हो जाती तो लोप हो जाने से 'गवाग्रम्, गवाधिप आदि में सवर्ण दीर्घ तथा गवेश्वर गवर्द्धि' आदि मे गुण न हो सकता।

[लघु०] विधि सूत्रम्—४८ इन्द्रे च ।६।१।१२१॥ ✓

गोरवङ् स्याद् इन्द्रे । गवेन्द्रः।

अर्थः—(एङन्त) गो शब्द को इन्द्र शब्द पर होने पर अवङ आदेश हो जाता है।

व्याख्या—एङ ।६।१। [एङ पदान्तादति से विभक्ति विपरिणाम कर के। यह 'गो' पद का विशेषण है अत इस से तदन्तविधि हो कर 'एङन्तस्य' बन जाता है।] गो ।६।१। [सर्वत्र विभाषा गो से] इन्द्रे ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अवङ् ।१।१। [अवङ स्फोटायनस्य' से] अर्थ —(एङ) एङन्त (गो) गो शब्द के स्थान पर (अवङ) अवङ आदेश हो जाता है (इन्द्रे) इन्द्र शब्द परे होने पर। यह सूत्र 'अवङ् स्फोटायनस्य (४७)

सूत्र का अपवाद है। उस से यहां विकल्प कर के अवङ् प्राप्त होता था इस सूत्र से नित्य हो जाता है।

उदाहरण यथा—'गवेन्द्र' (श्रेष्ठ व बडा बैल)। 'गो+इन्द्र' [गवां गोषु वा इन्द्र =श्रेष्ठ ।]=ग् अवङ + इन्द्र=गव+इन्द्र=गवेन्द्र ['आद् गुणः']।

एङन्त' इस लिये कहा है कि 'चित्रगु + इन्द्र' [चित्रगूनामिन्द्र =स्वामी, षष्ठी तत्पुरुष ।]='चित्रग्विन्द्र । यहां एङन्त न होने से अवङ आदेश न हो कर 'इको यणचि' (१५) से यण्=वकार हो जाता है। ध्यान रहे कि सूत्र की वृत्ति में 'एङन्त' कहना ग्रन्थकार से छूट गया है।

यहां 'पदान्त' की अनुवृत्ति लाने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि अपदान्त में एङन्त गो से परे इन्द्र शब्द आ ही नहीं सकता।

नोट—काशिका कार श्रीजयादित्य ने इस सूत्र से अगले प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' (६।१।१२२) सूत्र में 'नित्यम्' पद का ग्रहण नहीं किया, किन्तु इसी 'इन्द्रे च' (६।१।१२१) सूत्र मे ही 'नित्यम्' पद का ग्रहण किया है। पर ऐसा मानना ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि यहां 'नित्यम्' पद के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं। यदि यह कहा जाय कि—'यहां 'नित्यम्' पद ग्रहण न करने से 'इन्द्रे च' (४८) सूत्र विकल्प से अवङ् करता क्योंकि 'सर्वत्र विभाषा गोः' (४४) से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति आ रही है" तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'इन्द्रे च' (४८) सूत्र तो आरम्भ सामर्थ्य से ही नित्य हो जायगा, उस के लिये नित्यम्' पद के ग्रहण की कोई आवश्यकता ही नहीं। महाभाष्य पढ़ने से भी यही विदित होता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—४९ दूराद्धूते च ।८।२।८४॥

दूरात् सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा स्यात्।

अर्थ—दूर से सम्यग्बोध कराने में प्रयुक्त जो वाक्य उस की टि को विकल्प कर के प्लुत हो जाता है।

व्याख्या—दूरात् ।५।१। हूते ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। वाक्यस्य ।६।१। टेः ।६।१। प्लुतः ।१।१। ['वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' यह अधिकार आ रहा है।] वा इत्यव्ययपदम्। [भाष्यकार ने सम्पूर्ण प्लुत के प्रकरण को विकल्प कर दिया है अतः यहां पर 'वा' प्राप्त हो जाता है।] 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' (भ्वा० उ०) इस धातु से भाव में 'क्त' प्रत्यय करने करने पर 'हूत' शब्द सिद्ध होता है। इस का अर्थ 'बुलाना' है। परन्तु यहां इस से सम्बोधन=अच्छी तरह से जनाना' अर्थ अभिप्रेत है। अर्थ—(दूरात्) दूर से (हूते)

सम्बोध कराने में प्रयुक्त (वाक्यस्य) जो वाक्य उस की (टे) टि को (वा) विकल्प कर के (प्लुत) प्लुत हो जाता है।

जिस देश में ठहरे हुए का वाक्य सम्बोध्यमान [सम्यक् जनाया जाता हुआ] साधारण प्रयत्न से न सुन सके किन्तु विशेष प्रयत्न से सुन सकता हो उस देश को 'दूर' कहते हैं। उस दूर देश से किसी को कुछ जनाने या बुलाने के लिये जो वाक्य प्रयुक्त किया जाता है उसकी टि को विकल्प कर के प्लुत होता है। उदाहरण यथा—हम से देवदत्त ऐसे स्थान पर ठहरा हुआ है जहां हम उसे साधारण प्रयत्न से बोल कर कुछ बोध नहीं करा सकते तो अब हमारा स्थान दूर हुआ। इस दूर स्थान से हम ने जो 'एहि देवदत्त !' 'सक्तून् पिब देवदत्त !' इत्यादि वाक्य प्रयुक्त किये इन वाक्यों की टि को विकल्प कर के प्लुत होगा।

[प्लुत पक्ष में]	[प्लुताभाव पक्ष में]
१ एहि देवदत्त ३ ! ।	१ एहि देवदत्त ! ।
२ सक्तून् पिब देवदत्त ३ ! ।	२ सक्तून् पिब देवदत्त ! ।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि जिस वाक्य में हूयमान [सम्यग् जनाया जाता हुआ] अन्त में होगा उसी वाक्य की टि को प्लुत होगा जहां हूयमान अन्त में न होगा उस वाक्य की टि को प्लुत न होगा। यथा—'देवदत्त ! एहि', 'देवदत्त ! सक्तून् पिब' यहां हूयमान=देवदत्त अन्त में नहीं है अतः टि को प्लुत न होगा।

इस प्रकार प्लुत का विधान कर अब उस का यहां उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—५० प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम् ।६।१।१२२॥

एतेऽचि प्रकृत्या स्युः । आगच्छ कृष्ण ३ ! अत्र गौश्चरति ।

अर्थः—प्लुत और प्रगृह्य-सञ्ज्ञक अच् परे होने पर प्रकृति से रहते हैं।

व्याख्या—प्लुत प्रगृह्या ।१।३। अचि ।७।१। नित्यम् ।२।१। [क्रियाविशेषणमेतत्] प्रकृत्या ।३।१। ['प्रकृत्यान्तःपादम्' से] समास—प्लुताश्च प्रगृह्याश्च=प्लुत प्रगृह्या इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थ—(प्लुत प्रगृह्या) प्लुत और प्रगृह्य सञ्ज्ञक (अचि) अच् परे होने पर (नित्यम्) नित्य (प्रकृत्या) प्रकृति से=स्वभाव से=वैसे के वैसे अर्थात् सन्धि कार्य से रहित रहते हैं। उदाहरण यथा—'आगच्छ कृष्ण ३ ! अत्र गौश्चरति' (आओ कृष्ण ! यहां गौ चर रही है।) यहां 'आगच्छ कृष्ण' यह एक वाक्य है। इस की टि=णकारोत्तर अकार को 'दूराद्धूते च' (४९) से वैकल्पिक प्लुत होता है। जिस पक्ष में प्लुत होता है वहां प्रकृतिभाव हो जाने से णकारोत्तर प्लुत अकार तथा 'अत्र' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ नहीं होता वैसे का वैसा अर्थात्

'आगच्छ कृष्ण ३ ! अत्र गौश्चरति' ही रहता है। जिस पक्ष में प्लुत नहीं होता वहां प्रकृतिभाव न होने से सवर्णदीर्घ हो जाता है—'आगच्छ कृष्णात्र गौश्चरति'।

इस के अन्य उदाहरण यथा—

१ 'सक्तून् पिब देवदत्त ३ ! अह गच्छामि', 'सक्तून् पिब देवदत्ताह गच्छामि'।

२ 'कार्यं कुरु राम ३ ! एष आगत', 'कार्यं कुरु रामैष आगत'।

३ आगच्छ हरे ३ ! अत्र क्रीडेम', 'आगच्छ हरेऽत्र क्रीडेम'।

४ 'आगच्छ राम ३ ! अत्रास्ति लक्ष्मण', 'आगच्छ रामात्रास्ति लक्ष्मण'।

इस सूत्र में 'नित्यम्' पद के ग्रहण का प्रयोजन 'सिद्धान्त कौमुदी' मे स्पष्ट किया गया है, वहीं देखें।

अब प्रगृह्य सञ्ज्ञकों के उदाहरणों के लिये प्रगृह्य सञ्ज्ञा करने वाले सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—५१ ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् ।१।१।११॥

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यं स्यात् । हरी एतौ । विष्णू इमौ । गङ्गे अमू ।

अर्थः—ईदन्त ऊदन्त तथा एदन्त द्विवचन प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—ईदूदेत् ।१।१। द्विवचनम् ।१।१। प्रगृह्यम् ।१।१। समास—ईच्च ऊच्च एच्च=ईदूदेत्, समाहारद्वन्द्व। तपरकरणमसन्देहार्थम्। 'ईदूदेत्' यह पद 'द्विवचनम्' पद का विशेषण है अत 'येन विधिस्तदन्तस्य' द्वारा इस से तदन्त विधि हो जाती है। अर्थ—(ईदूदेत्) ईदन्त, ऊदन्त तथा एदन्त (द्विवचनम्) द्विवचन (प्रगृह्यम्) प्रगृह्यसञ्ज्ञक हों। उदाहरण यथा—'हरी एतौ' (ये दो हरि अर्थात् घोड़े व बन्दर हैं) यहां रेफोत्तर ईकार ईदन्त द्विवचन है* इस की इस सूत्र से प्रगृह्य सञ्ज्ञा होती है। प्रगृह्य सञ्ज्ञा होने से 'प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' (५०) सूत्र द्वारा प्रकृतिभाव हो जाता है, अत एकार=अच् परे होने पर भी 'इको यणचि' (१५) से ईकार को यण् नहीं होता।

'विष्णू इमौ' (ये दो विष्णु हैं) यहां णकारोत्तर ऊकार ऊदन्त द्विवचन है†, इस की इस सूत्र से प्रगृह्य सञ्ज्ञा होती है। प्रगृह्य सञ्ज्ञा होने से 'प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्'

---

* हरि शब्द से प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ' आने पर 'प्रथमयो पूर्वसवर्ण' (१२६) से रेफोत्तर इकार तथा औ के स्थान पर पूर्व सवर्ण दीर्घ ईकार हो कर 'हरी' शब्द सिद्ध होता है। यहां 'ई' यह एकादेश परादिवद्भाव ('अन्तादिवच्च' से द्विवचन तथा व्यपदेशिवद्भाव से ईदन्त है।

† यहां भी पूर्ववत् विष्णु शब्द से प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ' आने पर 'ऊ' यह एक पूर्वसवर्णदीर्घ आदेश हो जाता है। यह एकादेश परादिवद्भाव से द्विवचन तथा व्यपदेशिवद्भाव (इसका वर्णन 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' सूत्र पर देखें) से ऊदन्त है।

अमुष्मै अमूभ्याम् अमीभ्य	अमुष्यै अमूभ्याम् अमूभ्य	अमुष्मै अमूभ्याम् अमीभ्यः
अमुष्मात् ,, ,,	अमुष्या ,, ,,	अमुष्मात् ,, ,,
अमुष्य अमुयो अमीषाम्	,, अमुयो अमूषाम्	अमुष्य अमुयो अमीषाम्
अमुष्मिन् ,, अमीषु	अमुष्याम् ,, अमूषु	अमुष्मिन् ,, अमीषु

अदस् शब्द के मकार से परे ईत् और ऊत् × इस चिह्न वाले स्थानों के सिवाय और कहीं नहीं मिल सकते अर्थात् पुल्ँलिङ्ग में प्रथमा के बहुवचन तथा प्रथमा द्वितीया के द्विवचन में और स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा द्वितीया के द्विवचन में मकार से परे ईत् ऊत् उपलब्ध होते हैं†। इन में से स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग वाले इस सूत्र के उदाहरण नहीं होते, क्योंकि वहां पूर्वले 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' (५१) सूत्र से ही प्रगृह्यसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है। केवल पुल्ँलिङ्ग के 'अमू, अमी' इन दो रूपों के लिये ही यह सूत्र बनाया गया है।

उदाहरण यथा—'अमी ईशा' (ये स्वामी हैं)। यहां पुल्ँलिङ्ग में 'अदस्' शब्द से प्रथमा का बहुवचन 'जस्' करने पर त्यदाद्यत्व, पररूप, जस् को शी आदेश तथा गुण हो कर 'अदे' बन जाता है। अब 'एत ईद् बहुवचने' (८।२।८१) सूत्र से 'ए' को 'ई' तथा दकार को मकार करने से 'अमी' प्रयोग सिद्ध होता है। इस के आगे 'ईशा' पद लाने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) द्वारा सवर्णदीर्घ प्राप्त होता है जो अब इस सूत्र से प्रगृह्यसञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण नहीं होता।

नोट—यहां पूर्वसूत्र (१।१।११) की दृष्टि में 'अमी' के स्थान पर 'अदे' था क्योंकि 'एत ईद् बहुवचने' (८।२।८१) सूत्र त्रिपादीस्थ होने से उस की दृष्टि में असिद्ध है। 'अदे' एदन्त तो था परन्तु द्विवचन न था बहुवचन था अतः पूर्व सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता था, इस लिये यह सूत्र बनाना पड़ा है। यदि इस (१।१।१२) की दृष्टि में भी 'एत ईद् बहुवचने' (८।२।८१) सूत्र असिद्ध होने से 'अमी' के स्थान पर 'अदे' माना जावे तो यह सूत्र व्यर्थ हो जायगा क्योंकि तब इस अदस के मकार से परे ईत् ऊत् कहीं नहीं मिल सकेगा। [अदस शब्द में मकार का आना तथा उस से आगे ईत्, ऊत् का होना 'एत ईद् बहुवचने' (३५७) तथा 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३८६) की ही कृपा का फल है।] अतः इस की दृष्टि में 'अमी' असिद्ध नहीं होता मकार से परे ईकार की प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो जाती है।

† यद्यपि अदस् शब्द के मकार से परे 'अमीभ्य, अमूभ्य, अमीषाम् अमूषाम्' इत्यादियों में भी ईत्, ऊत् पाये जाते हैं तथापि यहां इन का ग्रहण नहीं होता। क्योंकि प्रगृह्यसञ्ज्ञा करने का प्रयोजन प्रकृतिभाव करना होता है। वह अच् परे होने पर 'इको यणचि' (१५) आदि सूत्रों द्वारा स्वरसन्धि प्राप्त होने पर ही सार्थक हो सकता है अन्यत्र 'भ्य, भि, षाम्' आदियों का व्यवधान होने से स्वरसन्धि के प्राप्त न होने के कारण सार्थक नहीं हो सकता। अतः इस सूत्र के उपयोगी 'अमू' और 'अमी' ये दो ही शब्द हैं।

द्वितीय उदाहरण यथा—'राम कृष्णावमू आसाते' (वे दो राम और कृष्ण बैठे हैं)। यहां 'रामकृष्णौ + अमू' में एचोऽयवायाव' (२२) से अव् आदेश हो जाता है। 'राम कृष्णौ' पद इस बात को जतलाने के लिये लिखा गया है कि 'अमू' पुल्लिङ्ग का है, स्त्रीलिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग का नहीं। स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग का अमू' इस सूत्र का उदाहरण नहीं होता*। 'अमू + आसाते' यहा 'अमू' की प्रगृह्यसञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण 'इको यणचि' (१५) से यण नहीं होता।

नोट— अदस्' शब्द से 'औ' विभक्ति लाने पर सकार को अकारादेश, पररूप तथा वृद्धि एकादेश हो कर—'अदौ हुआ। अब 'अदसोऽसेर्दादु दो म' (८।२।८०) से दकार को मकार तथा औकार को ऊकार करने से 'अमू' सिद्ध होता है। यद्यपि 'अमू' में ऊदन्त द्विवचन होने के कारण पूर्व सूत्र से प्रगृह्यसञ्ज्ञा सिद्ध हो सकती थी तथापि 'अदसोऽसेर्दादु दो म' (८।२।८०) से किये मत्व और ऊत्व के असिद्ध होने से उस की दृष्टि में 'अदौ' रहता था अत यह सूत्र बनाया गया है। इस की दृष्टि में तो आरम्भ सामर्थ्य से ही असिद्ध नहीं होता यह पहले कह चुके हैं।

मात् किम्? । अब यहा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सूत्र में 'मात्' अर्थात् 'म् से परे' ऐसा क्यों कहा गया है? क्योंकि मकार के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ण से परे ईत् व ऊत् अदस्

---

* स्त्रीलिङ्ग में अदस् शब्द से परे प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ आने पर अत्व, पररूप, टाप्, 'औङ आप' (२१६) से शी तथा 'आद् गुण' (२७) से गुण हो कर 'अदे' हुआ। पुन 'अदसोऽसेदादु दो म' (३५६) से मत्व और ऊत्व करने पर 'अमू प्रयोग सिद्ध होता है। यहां पूर्व-सूत्र की दृष्टि में 'अदे' होने से एदन्त द्विवचन है, अत इस को उस सूत्र (१।१।११) से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो सकती है। इस के लिये इस सूत्र (१।१।१२) के बनाने की कोई आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार—नपुंसकलिङ्ग में 'औ आने पर त्यदाद्यत्व, पररूप, 'नपुंसकाच्च (२३५) से शी आदेश तथा आद् गुण' (२७) से गुण हो कर 'अदे' हुआ। पुन अदसोऽसेदादु दो म (३५६) से मत्व और ऊत्व करने पर 'अमू प्रयोग सिद्ध होता है। यहा पर भी पूर्व सूत्र की दृष्टि में 'अदे होने से एदन्त द्विवचन है अत प्रगृह्य सञ्ज्ञा सिद्ध है। इस के लिये भी इस सूत्र के रचने की कोई आवश्यकता नहीं। इस से सिद्ध होता है कि—केवल पुल्लिङ्ग के 'अमू, अमी शब्दों के लिये ही यह सूत्र बनाया गया है।

'बाले अमू आसाते' इत्यादि स्त्रीलिङ्गप्रयोग कुले अमू उत्कृष्टे' इत्यादि क्लीबप्रयोगे च 'ईदूदेद्—' (५१) इत्यनेनैव प्रगृह्यता। न च 'राम कृष्णावमू आसाते' इत्यादि पुल्लिङ्गप्रयोगवद् अत्राप्यारम्भसामर्थ्याद् 'अदसो मात्' (५२) इत्यनेनैव प्रगृह्यता किन्न स्यात्? इति वाच्यम्, यत पुंसि 'अमू आसाते इत्यत्र तु पूर्वेण प्रगृह्यता न सम्भवतीति युक्तम् 'अदसो मात् (५२) इतिसूत्रे आरम्भसामर्थ्यम्, परन्त्वत्र स्त्रियां क्लीबे तु पूर्वेण सिद्धायां प्रगृह्यसञ्ज्ञायां नास्त्यारम्भसामर्थ्यम् अत स्त्रियां क्लीबे च (५१) इत्यनेनैव प्रगृह्यता, पुंसि 'अदसो मात् (५२) इत्यनेनैवेति शम्।

के तीनों लिङ्गों के रूपों में कहीं नहीं पाए जाते अत 'मात्' ग्रहण न करने से भी 'अमू, अमी' शब्दों की ही प्रगृह्यसञ्ज्ञा होगी। इस का उत्तर है—'अमुकेऽत्र'। अर्थात् 'मात्' का ग्रहण न करने से 'अमुकेऽत्र' प्रयोग मे दोष आयेगा। तथाहि— अदस शब्द से परे 'अव्यय सर्वनाम्नामकच प्राक्टे' (१२२६) सूत्र द्वारा 'अकच्' प्रत्यय हो कर 'अदकस्' बनने पर 'अदसोऽसेर्दादु दो म' (३५६) से मुत्व हो— अमुकस् शब्द निष्पन्न होता है। अब इस के आगे प्रथमा का बहुवचन जस् प्रत्यय लाने पर त्यदाद्यत्व, पररूप, 'जस शी' (१५२) से शी आदेश तथा 'आद् गुण' (२७) से गुण एकादेश हो कर 'अमुके' प्रयोग सिद्ध होता है। अब इस के आगे 'अत्र' पद लाने स 'एङ पदान्तादति' (४३) द्वारा पूर्वरूप करने पर 'अमुकेऽत्र' (वे यहा हैं) बन जाता है। यदि सूत्र मे 'मात्' ग्रहण न करते तो यहा ककार से परे भी *प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता, इस से 'एङ पदान्तादति' (४३) सूत्र प्रवृत्त न हो सकता, अत 'मात्' ग्रहण किया गया है।

प्रश्नः—यह आप का प्रत्युदाहरण ठीक नहीं, क्योंकि यहा 'ईत्' अथवा 'ऊत्' नहीं। आप को तो अपने प्रत्युदाहरण में मकार से भिन्न किसी अन्य वर्ण से परे 'ईत्' या 'ऊत्' ही दिखाने चाहियें थे। आप के प्रत्युदाहरण में तो ककार स परे 'एत्' दिखाया गया है।

उत्तर—'ईदूदेद्—' (५१) इस पूर्व सूत्र से यहां 'ईत्, ऊत्, एत्' इन तीनों की अनुवृत्ति आ रही थी परन्तु इस सूत्र में 'मात्' ग्रहण के सामर्थ्य से 'एत्' का अनुवर्त्तन नहीं किया जाता, क्योंकि म् से परे अदस शब्द में कहीं 'एत्' नही पाया जाता। अब यदि यहा 'मात्' का ग्रहण नहीं करेंगे तो 'एत्' की भी अनुवृत्ति आ जाने से 'अमुकेऽत्र' यहा प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण सन्धि न हो सकेगी अत 'एत्' की अनुवृत्ति रोकने के लिये 'मात्' पद का ग्रहण करना अत्यावश्यक है।

अभ्यास (१२)

(१) क्या वर्ण उच्छृङ्खल हो जाया करते हैं जो उन के लिय प्रकृतिभाव का उपदेश किया जाता है? अन्यथा प्रकृतिभाव का क्या प्रयोजन?।

(२) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिये—

(क) 'इन्द्रे च' सूत्र की वृत्ति में किस बात की कमी रह गई है? और उस से क्या दोष उत्पन्न होता है?।

(ख) 'सर्वत्र विभाषा गो' में 'सर्वत्र' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है?।

---

* क्योंकि 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इस से 'अदकस्' भी 'अदस्' शब्द माना जाता।

(ग) 'दूराद्धूते च' सूत्र के अर्थ में 'विकल्प कहाँ से आ जाता है ?।
(घ) 'देवदत्त एहि' इस वाक्य की टि को प्लुत क्यों नहीं होता ?।
(ङ) आगच्छ कृष्णात्र गौश्चरति' क्या यह शुद्ध है ?। |
(च) 'इन्द्रे च' सूत्र बनाने की क्या आवश्यकता थी ? क्या पूर्व सूत्र से 'गवेन्द्र सिद्ध नहीं हो सकता था ?
(छ) 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' सूत्र में 'शित्' ग्रहण पर प्रकाश डालें।
(ज) अदसो मात्' सूत्र स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग के 'अमू' में क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?।

(३) निम्नलिखित रूपों में या तो सन्धि करो अथवा सन्धि न करने का कारण बताओ— १ कवी अत्र । २ योगी अत्र । ३ वायू अत्र । ४ रामे अत्र । ५ माले अत्र । ६ कुले इमे उत्कृष्टे एधेते अधुना । ७ धनुषी एते अस्य । ८ धने अस्मिन्। ९ वर्धेते अस्मिन्। १० ऋतू अतीतौ। ११ पाणी उत्क्षिपति । १२ हस्ती उत्क्षिपति। १३ बालिके अधीयाते । १४ नेत्रे आमृशति । १५ वटू उत्कूर्देते अत्र । १६ अमी अश्नन्ति । १७ बालावमू अश्नीत । १८ कुमार्यावमू अश्नीत । १९ ते अत्र । २० कन्ये आसाते । २१ अमू इन्द्र प्रस्थे दृष्टौ । २२ कवी आगच्छत ।

(४) 'इन्द्रे च नित्यम्' ऐसा पाठ मानने वालों का क्या अभिप्राय है ? क्या नित्यम्' पद हटा देने से कोई दोष उत्पन्न हो जाता है ?।

(५) 'मात् किम् ? अमुकेऽत्र' इस अंश की व्याख्या करते हुए प्रत्युदाहरण में दोष की उद्भावना कर के उस का समाधान करें ।

(६) 'हरी एतौ में कौन ईदन्त द्विवचन है सप्रमाण स्पष्ट करें ।

(७) 'गवाक्ष' प्रयोग के अन्य विकल्प गो अक्ष, गोऽक्ष' क्यों नहीं बनते ?।

(८) अलोऽन्त्यस्य, अनेकाल शित् सर्वस्य ङिच्च' इन तीन परिभाषाओं मे कौन उत्सर्ग और कौन अपवाद है ? प्रत्येक का उदाहरण प्रदर्शन पूर्वक स्पष्टीकरण करें ।

—०॥०—

अब निपातों की प्रगृह्य सञ्ज्ञा करने के लिये प्रथम निपात विधायक सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—५३ चादयोऽसत्त्वे ।१।४।५७॥

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः ।

अर्थः—यदि चादियों का द्रव्य अर्थ न हो तो उन की निपात सञ्ज्ञा होती है ।

व्याख्या—चादय ।१।३। असत्त्वे ।७।१। निपाता ।१।३। ['प्राग्रीश्वरान्निपाता'

यह अधिकृत है ।] समास—च = च शब्द आदिर्येषां ते चादय, तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास । न सत्त्वम् = असत्त्वम् तस्मिन् = असत्त्वे, नञ् तत्पुरुष । यहां प्रसज्य प्रतिषेध है यदि पर्युदास प्रतिषेध मानें तो अनर्थक चादियों की निपात सञ्ज्ञा न हो सकेगी । अर्थ—(असत्त्वे) द्रव्य अर्थ न होने पर (चादयः) चादि शब्द (निपाताः) निपात सञ्ज्ञक होते हैं ।

जिस में सङ्ख्या पाई जावे या जिस के लिये सर्वनाम का प्रयोग हो सके, उसे 'द्रव्य' कहते हैं । चादि गण आगे 'अव्यय प्रकरण' में आ जायगा । उदाहरण यथा—'लोध नयन्ति पशु मन्यमानाः' यहां 'पशु' शब्द का अर्थ 'सम्यक् = ठीक प्रकार से' ऐसा है । अतः यह अद्रव्यवाची होने से निपात सञ्ज्ञक होता है । यदि 'पशु' का अर्थ 'जानवर' होगा, तो वह द्रव्यवाची होने से निपात सञ्ज्ञक न होगा । यथा—पशु नयन्ति । निपात सञ्ज्ञा होने से (३६७) सूत्र द्वारा 'अव्यय' सञ्ज्ञा हो जाती है, इस से विभक्ति का लुक् हो जाता है यह सब आगे 'अव्यय प्रकरण' में सविस्तर लिखेंगे ।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—५४ प्रादयः । १ । ४ । ५८ ॥

एतेऽपि तथा ।

अर्थः—अद्रव्यार्थक प्रादि भी निपात-सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—असत्त्वे ।७।१। ['चादयोऽसत्त्वे' से] प्रादयः ।१।३। निपाताः ।१।३। ['प्राग्रीश्वरान्निपाताः' यह अधिकृत है ।] अर्थः—(असत्त्वे) द्रव्य अर्थ न होने पर (प्रादयः) प्र आदि शब्द (निपाताः) निपात-सञ्ज्ञक होते हैं । प्रादि-गण पीछे (३५) सूत्र पर मूल में ही आ चुका है ।

'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१।४।५६।) सूत्र से अष्टाध्यायी में निपातों का अधिकार आरम्भ किया जाता है अर्थात् इस सूत्र से ले कर 'अधिरीश्वरे (१।४।९६।) सूत्रपर्यन्त निपात सञ्ज्ञक कहे गये हैं । इसी अधिकार में पाणिनि ने 'प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे' ऐसा एक सूत्र पढ़ा है । इस का अर्थ यह है—'प्र' आदि बाईस शब्द क्रियायोग में निपात सञ्ज्ञक होते हुए उपसर्ग सञ्ज्ञक होते हैं । अब इस अर्थ से यह दोष उत्पन्न होता है कि जहां क्रिया योग नहीं वहां निपात सञ्ज्ञा नहीं हो सकती । परन्तु हमें तो क्रियायोग में उपसर्ग सञ्ज्ञा के साथ साथ तथा क्रियायोगाभाव में भी निपात सञ्ज्ञा करनी इष्ट है । भाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने इस एक सूत्र से ये दोनों कार्य न होते देख कर इस के दो विभाग कर दिये हैं । १—प्रादयः । २—उपसर्गाः क्रियायोगे । तो अब प्रथम सूत्र से क्रियायोगाभाव में तथा दूसरे सूत्र से क्रियायोग में निपात-सञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है । क्रियायोगाभाव में

निपात सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन—'यश्चद्न्तो ऽपि मूर्खः' इत्यादि में लुग्लुक आदि कार्य करना है। क्रियायोग में निपात सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन—'प्राच्छृति' आदि में अव्ययसञ्ज्ञा कर विभक्ति का लुक् करना है।

द्रव्य अर्थ में प्रादियों की निपात सञ्ज्ञा नहीं होती। यथा प्रादियों मे 'वि' शब्द पढा गया है यदि इस का अर्थ पक्षी होगा तो द्रव्यार्थक होने से इस की निपात-सञ्ज्ञा न होगी। 'वि = पक्षी विं पश्य' इत्यादि।

अब अग्रिम सूत्र द्वारा निपातों की प्रगृह्य सञ्ज्ञा करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—५५. निपात एकाजनाङ् ।१।१।१४॥

एकोऽच् निपात आङ्वर्जः* प्रगृह्यः स्यात्। इ इन्द्रः। उ उमेशः। वाक्य-स्मरणयोरङित्। आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्। अन्यत्र ङित्—ईषदुष्णम्=ओष्णम्।

अर्थः—आङ् को छोड कर एक अच् मात्र निपात प्रगृह्यसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—निपातः ।१।१। एकाज् ।१।१। अनाङ् ।१।१। प्रगृह्यः ।१।१। ['ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' से] समास—एकश्चासावच्=एकाच् कर्मधारय समासो न तु बहुव्रीहिः। न आङ्=अनाङ्, नञ्तत्पुरुष। अर्थः—(अनाङ्) आङ से भिन्न (एकाज्) एक अच् रूप (निपातः) निपात (प्रगृह्यः) प्रगृह्य सञ्ज्ञक होता है।

उदाहरण यथा—इ इन्द्रः [ओह ! यह इन्द्र है।], उ उमेशः [जान पडता है कि यह महादेव है।]। यहां 'इ' और 'उ' एक अच् रूप तथा अद्रव्यार्थक होने से चादयो ऽसत्त्वे (५३) द्वारा निपात सञ्ज्ञक हैं अतः इस सूत्र से इन की प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो कर (५०) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से प्राप्त सवर्णदीर्घ नहीं होता। यहां इ निपात आश्चर्य करने में तथा 'उ' निपात वितर्क करने में प्रयुक्त हुआ है।

'एकाच्' यहां 'एकश्चासावच्=एकाच्' [एक भी हो और वह अच् भी हो] इस प्रकार कर्मधारय समास करना ही उचित है। यदि 'एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्' [एक अच् जिस में हो वह] इस प्रकार बहुव्रीहि समास करेंगे तो—'च+अस्ति=चास्ति' में सवर्णदीर्घ न हो सकेगा, क्योंकि तब 'च' की भी प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो जायगी।

चादिगण में 'आ' तथा प्रादिगण में 'आङ्' इस प्रकार दो निपात पढे गये हैं। इन में से प्रथम 'आ' की इस सूत्र से प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो जाती है पर दूसरे 'आङ' की इस सूत्र में

---

* वर्ज्यते=त्यज्यत इति=वर्जः, कर्मणि घञ् प्रत्ययः। आङा वर्जः=आङ्वर्जः, तृतीया तत्पुरुषः। आङ्भिन्न इत्यर्थः।

'अनाङ' कहने के कारण प्रगृह्य सञ्ज्ञा नहीं होती। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि आ और आङ प्रयोग में 'आ' के रूप में ही मिलते हैं, ऐसी दशा में यह कैसे विदित हो कि यह आ है और यह आङ। इस के लिये भाष्यकार ने यह व्यवस्था की है—

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥

अर्थात्—अल्प (थोड़ा) अर्थ में, क्रिया के योग मे, मर्यादा और अभिविधि अर्थ मे जो आकार हो उसे ङित्—आङ् समझना चाहिये। पूर्व कही बात को अन्यथा करने के लिये प्रयुक्त वाक्य में तथा स्मरण अर्थ में अङित्—'आ' समझना चाहिये।

१ ईषदर्थे यथा—आ + उष्ण = ओष्णम्। [यहां 'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया' वार्त्तिक से नित्य-समास होता है। नित्य समासों का स्वपद विग्रह नहीं हुआ करता, मूल में इसी लिये 'ईषदुष्णम्' ऐसा अस्वपद विग्रह दिखाया गया है। 'ओष्णम्' का अर्थ 'थोड़ा गरम' है।] यहा 'आङ्' होने से प्रगृह्य सञ्ज्ञा नहीं होती अतः प्रकृतिभाव न होने के कारण 'आद् गुणः' (२७) सूत्र से गुण एकादेश हो जाता है।

२ क्रिया-योगे यथा—आ + इहि = एहि (आओ), आ+इत =एत (वे दो आते हैं)। यहा 'इण गतौ' इस अदादि-गणीय क्रिया का योग है अतः 'आङ' होने से प्रगृह्य सञ्ज्ञा नहीं होती। प्रगृह्य सञ्ज्ञा न होने से प्रकृतिभाव भी नही होता 'आद् गुणः' (२७) से गुण हो जाता है।

३ मर्यादायां* यथा—आ+अलवरात=आलवराद् मेघो वृष्टः। (अलवर देश तक परन्तु अलवर देश को छोड कर मेघ बरसा) यहा मर्यादा अर्थ होने से 'आ' ङित् अर्थात् 'आङ' है अतः प्रगृह्य सञ्ज्ञा न होने के कारण प्रकृतिभाव नहीं होता, 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ हो जाता है।

४ अभिविधौ* यथा—आ+अलवराद्=आलवराद् मेघो वृष्टः। (अलवर देश तक

* तेन विनेति मर्यादा, तेन सहेत्यभिविधिः। मर्यादा और अभिविधि में यह भेद होता है कि मर्यादा में अवधि का ग्रहण नहीं होता और अभिविधि में ग्रहण होता है। यथा—'अलवर तक मेघ बरसा' यहा मेघ बरसने की अवधि 'अलवर' है। मर्यादा में इस अवधि का ग्रहण न होने से यह तात्पर्य होगा कि अलवर देश को छोड कर उस तक मेघ बरसा। अभिविधि में इस अवधि का ग्रहण होने से यह तात्पर्य होगा कि अलवर देश सहित उस तक मेघ बरसा। अन्य उदाहरण यथा—'आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघः, आ कुमारं यशः पाणिनेः' इत्यादि।

अर्थात् अलवर देश मे भी मेघ बरसा) यहा अभिविधि अथ होने से 'आ' ङित् अर्थात् 'आङ्' है अत प्रगृह्य सञ्ज्ञा न होने के कारण प्रकृतिभाव नहीं होता सवर्णदीर्घ हो जाता है।

अब 'आ' के उदाहरण—

१ वाक्ये यथा—'आ एव नु मन्यसे' (अब तू ऐसा मानता है, अर्थात् पहले तू ऐसा नहीं मानता था अब मानने लगा है।) यहा आ' के अङित् होने से प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता है। वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र से वृद्धि एकादेश नहीं होता।

२ स्मरणे यथा—'आ एव किल तत्' (हा वह ऐसा ही है) यहा 'आ' के अङित् होने से प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता है। 'वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—५६ ओत् । १ । १ । १५ ॥

ओदन्तो निपात प्रगृह्य स्यात् । अहो ईशा' ।

अर्थ'—ओकार अन्त वाला निपात प्रगृह्य सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—ओत् ।१।१। निपात ।१।१। ['निपात एकाजनाङ' से] प्रगृह्य ।१।१। [ईदूदेद् द्विवचन प्रगृह्यम्' से] 'ओत' यह 'निपात ' पद का विशेषण है, अत इस से तदन्त विधि होती है। अर्थ —(ओत्=ओदन्त) ओदन्त (निपात) निपात (प्रगृह्य) प्रगृह्य सञ्ज्ञक होता है। यथा—'अहो ईशा ' (अहो ! ये स्वामी हैं।) यहा अद्रव्यवाची होने से 'चादयोऽसत्त्वे' (५३) द्वारा 'अहो' निपात सञ्ज्ञक है इस की इस सूत्र से प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो जाती है। प्रगृह्य सञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण 'एचोऽयवायाव ' (२२) द्वारा अवादेश नहीं होता। ध्यान रहे कि यहा एक अच् रूप निपात न होने से पूर्वसूत्र द्वारा प्रगृह्य सञ्ज्ञा नहीं हो सकती थी।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—५७ सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे।१।१।१६॥

सम्बुद्धि-निमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिक इतौ परे। विष्णो इति। विष्ण इति। विष्णविति।

अर्थ'—सम्बुद्धि निमित्तक ओकार—अवैदिक अर्थात् वेद में न पाए जाने वाले 'इति' शब्द के परे होने पर विकल्प कर के प्रगृह्य सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—सम्बुद्धौ ।७।१। [निमित्त सप्तम्येषा] ओत् ।१।१। ['ओत्' से] अनार्षे ।७।१। इतौ ।७।१। प्रगृह्य ।१।१। ['ईदूदेद् द्विवचन प्रगृह्यम्' से] शाकल्यस्य ।६।१। समास — ऋषिर्वेद, उक्तञ्च मेदिनीकोषे—'ऋषिर्वेदे वसिष्ठादौ दीधितौ च पुमानयम्' ऋषौ (वेदे)

भव =आर्ष, 'तत्र भव (१०८६) इत्यण, न आर्ष =अनार्षस्तस्मिन्=अनार्षे नञ्तत्पुरुष। 'अवैदिके' इत्यर्थ। अर्थ—(अनार्षे) वेद मे न पाए जाने वाले (इतौ) इति शब्द के परे होने पर (सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि को निमित्त मान कर पैदा हुआ (ओत्) ओकार (प्रगृह्य) प्रगृह्य सञ्ज्ञक होता है (शाकल्यस्य) शाकल्य के मत में। अन्य आचार्यों के मत में प्रगृह्य सञ्ज्ञा नही होती परन्तु हमें सब आचार्य्य प्रमाण हैं, अत विकल्प से प्रगृह्य सञ्ज्ञा होगी।

उदाहरण यथा—'विष्णो इति'। विष्णु शब्द से परे सम्बुद्धि [सम्बोधन के एकवचन को सम्बुद्धि कहते हैं। देखो—'एकवचन सम्बुद्धि' (१३२)] करने पर 'ह्रस्वस्य गुण' (१६१) सूत्र से सम्बुद्धि को निमित्त मान कर गुण हो कर—विष्णो+स हुआ। अब 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धे' (१३४) सूत्र से सकार का लोप करने पर 'विष्णो' पद सिद्ध हो जाता है। इस के आगे 'इति' पद लाने से 'एचोऽयवायाव' (२२) द्वारा आकार का अव् आदेश प्राप्त होता था जो अब इस सूत्र से प्रगृह्य सञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण नहीं होता। अन्य आचार्यों के मत में प्रगृह्य सञ्ज्ञा न होने से अव् आदेश हो कर 'विष्णव इति' बना। अब इस दशा में पदान्त वकार का लोप 'शाकल्यस्य' (३०) सूत्र से वैकल्पिक लोप हो जाता है। लोप पक्ष में 'विष्ण इति' और लोपाभाव पक्ष मे 'विष्णविति' इस प्रकार कुल मिला कर तीन रूप सिद्ध होते हैं।

यह उदाहरण वेद का नही वेद मे तो 'इति' शब्द परे होने पर प्रगृह्य सञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु अव आदेश हो जाता है। यथा—'एता गा ब्रह्मबन्धविित्यब्रवीत्' [यह काठक संहिता का वचन है]।*

नोट—वस्तुत अन्य आचार्यों के मत में 'विष्णविति' ही रूप होता है 'विष्ण इति' नहीं। क्योंकि जब शाकल्य आचार्य के मत में ओ को अव ही नही होता तो पुन उस के मत में वकार का लोप कैसे सम्भव हो सकता है। काशिका आदि प्राचीन ग्रन्थों में सर्वत्र इस सूत्र पर दो ही उदाहरण लिखे मिलते हैं लोप वाला रूप कहीं नहीं देखा जाता।

[लघु०] विधि सूत्रम्—५८ मय उञो वो वा।८।३।३३॥

मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि। किम्वुक्तम्। किमु उक्तम्।

अर्थः—मय प्रत्याहार से परे उञ् निपात को विकल्प कर के 'व्' आदेश हो जाता है अच परे हो तो।

व्याख्या—मय ।५।१। उञ ।६।१। व ।१।१। वकारादकार उच्चारणार्थः। वा इत्यव्ययपदम्। अचि ।७।१। ['ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' से] अर्थ—(मय) मय् प्रत्या-

* इस सूत्र पर प्राय सब ग्रन्थकार पदपाठ का ही उदाहरण देते हैं। लौकिक उदाहरण भी दे सकते हैं, कोई निषेध नहीं करता जैसा कि पुरुषोत्तमदेव ने 'भाषावृत्ति' में दिया है।

हार से परे (उञ) उञ् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (व) व आदेश होता है (अचि) अच परे हो तो। मय प्रत्याहार में जकार को छोड़ कर अन्य सब वर्गस्थ वर्ण आ जाते हैं।

उदाहरण यथा— किम् उ उक्तम् (क्या कहा ?) यहां उञ के एक अच् रूप निपात होने से 'निपात एकाजनाङ' (५५) सूत्र प्राप्त होता है। इसे बाध कर इस सूत्र से वैकल्पिक वकार हो जाता है। जहां वकार आदेश होता है वहां— किम्वुक्तम्' प्रयोग सिद्ध होता है। वकारादेश के अभाव में यथाप्राप्त प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव के कारण सवर्ण दीर्घ नहीं होता—'किम् उ उक्तम्। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—यह सूत्र 'मोऽनुस्वार' (८.३.२३) सूत्र की दृष्टि में पर त्रिपादी होने से असिद्ध है अतः 'किम्वुक्तम्' यहां हल्=वकार परे होने पर भी मोऽनुस्वार' (७७) से मकार को अनुस्वार नहीं होता। तथा हि—

'त्रिपादीये वकारे तु नानुस्वारः प्रवर्त्तते।'

नोट—ध्यान रहे कि उञ का जकार 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञक हो कर 'तस्य लोपः' (३) से लुप्त हो जाता है।

अभ्यास (१३)

(१) अधोलिखित प्रयोगों में सूत्र निर्देश पूर्वक सन्धि करो या सन्ध्यभाव का कारण बताओ— १ भानविति। २ शम्वस्तु वेदि। ३ वाय इति। ४ अहो आश्चर्यम्। ५ तद्वस्य परेत। ६ शम्भो इति। ७ अथो इति। ८ उ उत्तिष्ठ। ९ नो इदानीम्। १० एन्द्राद् हरिभक्तिः। ११ अहो अद्य महोष्णता। १२ इ इन्द्र पश्य।

(२) कहां २ 'आ' ङित् और कहां २ अङित् होता है ? सोदाहरण स्पष्ट करो।

(३) 'प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे' इस एक योग के विभाग करने की क्या आवश्यकता है ? उदाहरण दे कर स्पष्ट करो।

(४) 'किम्वुक्तम्' यहां मोऽनुस्वार' (७७) सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?

(५) 'निपात एकाजनाङ्' सूत्र की व्याख्या करते हुए 'एकाच्' पद का विशेष स्पष्टीकरण करो तथा इस में बहुव्रीहि समास मान लेने से क्या दोष उत्पन्न हो जाता है ? इस का भी निर्देश करो।

(६) 'वस्तुतः 'विष्ण इति' रूप नहीं बनता' इस कथन की सप्रमाण व्याख्या करें।

(७) उदाहरण प्रदर्शन पूर्वक मर्यादा और अभिविधि का परस्पर भेद बताएं।

—०※०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—५६ इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥६।१।१२४॥

पदान्ता इको ह्रस्वा वा स्युरसवर्णेऽचि। ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वरसन्धि । चक्रि अत्र । चक्र्यत्र । पदान्ता इति किम्? गौर्यौ ।

अर्थ—असवर्ण अच् परे होने पर पदान्त इक् को विकल्प कर के ह्रस्व हो जाता है । **ह्रस्वविधीति**—ह्रस्वविधान करने के सामर्थ्य से स्वर सन्धि नहीं होती ।

व्याख्या—पदान्तस्य ।६।१। [एङ पदान्तादति' से विभक्तिविपरिणाम करके] इक ।६।१। असवर्णे ।७।१। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] ह्रस्व ।१।१। शाकल्यस्य ।६।१। च इत्य व्ययपदम् । अथ —(असवर्णे) असवर्ण (अचि) अच् परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (इक) इक् के स्थान पर (ह्रस्व) ह्रस्व हो जाता है (शाकल्यस्य) शाकल्य आचार्य के मत में । अन्य आचार्यों के मत में नहीं होता इमें सब आचार्य प्रमाण हैं अत ह्रस्व विकल्प से होगा ।

उदाहरण यथा—'चक्री + अत्र' (विष्णु यहा है ।) यहां पदान्त इक् ईकार है, इस से परे 'अ' यह असवर्ण अच वर्त्तमान है अत इक् को विकल्प करके ह्रस्व होगया । जहा ह्रस्व हुआ वहा— चक्रि अत्र' । जहा ह्रस्व न हुआ वहां 'इको यणचि' (१५) से यण होकर 'चक्र्यत्र' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते है ।

एवम् अन्य उदाहरण यथा—१ मधु* अस्ति मध्वस्ति। २ दधि अस्ति, दध्यस्ति । ३ वस्तु आनय, वस्त्वानय ।४ वारि अत्र, वार्यत्र । योगि आगच्छति, योग्यागच्छति ।६ धनि अवोचत्, धन्यवोचत् । ७ नन्द् एधते नद्येधते ।८ जाह्नवि अवतरति, जाह्नव्यवतरति। ९ बलि ऋत, बल्यृत । १० भवति एव, भवत्येव ।११ धातृ अत्र, धात्रत्र ।

अब जहा ह्रस्व करते हैं वहा यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यहा इको यणचि' (१५) सूत्र से यण् क्यों न किया जावे ? इसका उत्तर यह है कि यदि वहा भी यण् हो जावे तो पुन इस सूत्र से ह्रस्व करना व्यर्थ होजायगा क्योंकि तब दोनों पक्षों में 'चक्र्यत्र' रूप समान हो जायगा जो इस सूत्र के बिना भी 'इको यणचि' (१५) सूत्र से सिद्ध हो सकता है । अत इस सूत्र द्वारा ह्रस्व करने के सामर्थ्य से यहा सन्धि न होगी । [ध्यान रहे कि मूल में 'स्वरसन्धि' कथन इस लिये किया गया है कि वहा स्वर सन्धि के अतिरिक्त अन्य कोई सन्धि प्राप्त नहीं हो सकती ।]

---

* ध्यान रहे कि ह्रस्वों को भी 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्ति' न्याय से ह्रस्व हो जाया करता है । इस का फल स्वध्यभाव स्पष्ट ही है । यह विषय इस सूत्र के भाष्य में अत्यन्त स्पष्ट है ।

इस सूत्र मे 'असवर्णे' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि 'योगी + इच्छति=योगीच्छति, कुमारी + ईहते=कुमारीहते' इत्यादियों में सवर्ण अच् परे होने पर ह्रस्व न हो।

'पदान्त' ग्रहण इस लिये किया गया है कि-'गौरी+औ' यहां अपदान्त इक् को ह्रस्व न हो जाय। 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर गौर्यौ बन जाय।

अब प्रसङ्गवश 'गौर्यौ' म द्वित्व करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—६० अचो रहाभ्यां द्वे ।८।४।४६॥

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः । गौर्य्यौ ।

अर्थ—अच् से परे जो रेफ या हकार उस से परे यर् को विकल्प करके द्वित्व हो जाता है।

व्याख्या—अचः ।५।१। रहाभ्याम् ।५।२। यरः ।६।१। ['यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से] द्वे ।१।२। वा इत्यव्ययपदम् । ['यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से] अर्थ—(अचः) अच् से परे (रहाभ्याम्) जो रेफ या हकार उस से परे (यरः) यर के (द्वे) दो शब्दस्वरूप (वा) विकल्प कर के हो जाते हैं।

उदाहरण यथा—'गौर् यौ' यहां अच 'औ' से पर रेफ है उस से परे यर यकार को विकल्प करके द्वित्व होकर द्वित्वपक्ष में 'गौर्य्यौ' तथा द्वित्वाभावपक्ष में 'गौर्यौ' इस प्रकार दो रूप बन जाते हैं। इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ आर्य्य, आर्य । २ अर्क्क, अर्क । ३ कार्य्यम्, कार्यम् । ४ हर्य्यनुभव, हर्यनुभव । ५ उर्व्वी, उर्वी । ६ आह्ल्लाद, आह्लाद । ७ अर्ज्जुन, अर्जुन । ८ आर्त्त, आर्त । ९ आह्व्वय, आह्वय । १० आर्द्द्रकम्, आर्द्रकम् । ११ ब्रह्म्मा, ब्रह्मा । १२ अर्त्थ, अर्थ । १३ न ह्य्यस्ति, न ह्यस्ति । १४ गर्ब्भ, गर्भ । १५ ऊर्द्ध्वम्, ऊर्ध्वम् । १६ दुर्ग्ग, दुर्ग । १७ अर्घ्य, अर्घ्य । १८ मूर्च्छ्ना, मूर्छना । १९ अपह्न्नुते, अपह्नुते । २० मूर्क्ख, मूर्ख । २१ शर्म्मा, शर्मा । २२ विसर्ग्ग, विसर्ग । २३ प्राणर्णम्, प्रार्णम् । २४ कर्म्म, कर्म । २५ निर्झ्झर, निर्झर ।

अब प्रसङ्गत प्राप्त हुए द्वित्व को कह कर पुनः 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (५९) सूत्र पर निषेधक वार्त्तिक लिखते हैं—

[लघु०] वा०—९ न समासे ॥

वाप्यश्वः ।

अर्थः—समास में अच् परे होने पर पदान्त इक को ह्रस्व नहीं होता ।

व्याख्या—वापी + अश्व [बावडी में घोड़ा । वाप्यामश्व = वाप्यश्व, 'सहसुपा' इति समास ।] यहां समास में विभक्तियों का लुक् होने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१६०) सूत्र द्वारा ईकार पदान्त हो जाता है, इसे असवर्ण अच् (अ) परे होने पर ह्रस्व प्राप्त था जो अब इस वार्त्तिक के निषेध के कारण नहीं होता। 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर विभक्ति लाने से— वाप्यश्व ' सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार— सुध्युपास्य, मध्वरि, गौर्यात्मज, नद्युदय, चार्वङ्गी, मात्राज्ञा, वध्वागमनम्, लाकृति ' प्रभृति रूपों में भी समझ लेना चाहिये ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—६१ **ऋत्यक** ।६।१।१२५॥

ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद् वा । ब्रह्म ऋषिः । ब्रह्मर्षिः । पदान्ताः किम् ? आर्च्छत् ।

अर्थः—ऋत् अर्थात् ह्रस्व ऋकार परे होने पर पदान्त अक् को विकल्प से ह्रस्व हो जाता है ।

व्याख्या—ऋति ।७।१। पदान्तस्य ।६।१। ['एङः पदान्तादति' से] अक ।६।१। ह्रस्व ।१।१। शाकल्यस्य ।६।१। ['इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' से] अर्थ —(ऋति) ह्रस्व ऋवर्ण परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (अक) अक् के स्थान पर (ह्रस्व) ह्रस्व हो जाता है (शाकल्यस्य) शाकल्य आचार्य के मत में । अन्य आचार्यों के मत में न होने से विकल्प हो जायगा ।

उदाहरण यथा—'ब्रह्मा + ऋषि' यहां 'ऋषि' शब्द का आदि ऋत परे है, अत मकारोत्तर पदान्त आकार को विकल्प करके ह्रस्व होकर—'ब्रह्म ऋषि ' तथा ह्रस्वाभावपक्ष में 'आद् गुण ' (२७) से गुण, रपर होकर ब्रह्मर्षि ' बना । [अथवा 'ब्रह्म + ऋषि' ऐसे छेद में ह्रस्व को ह्रस्व होगा । ब्रह्मण =वेदस्य ऋषि —ब्रह्मर्षिरित्यादि विग्रह ।]

पूर्व (५६) सूत्र सवर्ण परे होने पर प्रवृत्त नहीं होता था तथा अकार को ह्रस्व भी नहीं करता था, इन दोनों आवश्यकताओं के लिये यह सूत्र बनाया गया है । जैसा कि महाभाष्य में कहा है—'सवर्णार्थम् अनिगन्तार्थञ्च' । सवर्ण परे होने पर यथा—होतृ ऋश्य, होतृश्य । यहा पूर्व सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता था । अकार का उदाहरण ब्रह्मऋषि ,ब्रह्मर्षि ।

ध्यान रहे कि जहां २ ह्रस्व करेंगे वहा २ पूर्ववत् ह्रस्वविधान के सामर्थ्य से स्वर सन्धि नहीं होगी ।

इस सूत्र में भी पूर्ववत् 'पदान्त' का ग्रहण होता है, अत अपदान्त अक् को ह्रस्व नहीं होता । उदाहरण यथा—'आ + ऋच्छत्' [यह तौदादिक 'ऋच्छ्' अथवा भौवादिक 'ऋ'

धातु के लङ् लकार व प्रथम पुरुष का एकवचन है। 'आ' यह यहां 'आट्' आगम समझना चाहिये।] यहां आ' (ट्) पदान्त नहीं अत ऋत् परे होन पर भी इसे ह्रस्व नहीं होता। 'आटश्च' (१९७) से पूर्व+पर के स्थान पर 'आर' वृद्धि होकर— आर्च्छत्' बन जाता है।

'इकोऽसवर्णे—' (५६) सूत्र समास में प्रवृत्त नहीं होता है, परन्तु यह सूत्र समास में भी प्रवृत्त हो जाता है। यथा—सप्त ऋषीणाम्, सप्तर्षीणाम्।*

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ कन्य ऋज्वी, कन्यर्ज्वी। २ कुमारि ऋतुमती, कुमार्यृतुमती। ३ प्रज्ञ ऋतम्भरा, प्रज्ञर्तम्भरा। ४ पुरुष ऋषभ, पुरुषर्षभ। ५ मह ऋषि, महर्षि। ६ शङ्ख्म ऋणी, शङ्ख्मर्णी। ७ कर्तृ ऋणि, कर्तृणि।

[लघु०] इत्यच्सन्धि प्रकरणम्।

अर्थ—यह अचो की सन्धि का प्रकरण समाप्त होता है।

प्रश्नः—अच्सन्धि' शब्द में 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से श्चुत्व क्यों न हो?।

उत्तर—'अकच्स्वरौ तु कर्त्तव्यौ' इस भाष्य के निर्देश से नहीं होता।

इति भैमीव्याख्ययोपबृंहितायां
लघुसिद्धान्तकौमुद्यामच्सन्धि-
प्रकरणं समाप्तम्॥

---

*'प्रार्च्छति' में यह प्रकृतिभाव नहीं होता इस की स्पष्टता 'सिद्धान्तकौमुदी' में देखें।

❀ अथ हल्-सन्धि-प्रकरणम् ❀

अब हलों अर्थात् व्यञ्जनों का व्यञ्जनो के साथ मेल दिखाया जायगा।

[लघु०] विधि सूत्रम्—६२ स्तोः श्चुना श्चुः ।८।४।४०॥

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः।
रामश्शेते। रामश्चिनोति। सच्चित्। शार्ङ्गिञ्जय।

अर्थः—सकार तवर्ग के स्थान पर, शकार चवर्ग के साथ योग होने पर शकार चवर्ग हो जाते हैं।

व्याख्या—स्तोः ।६।१। श्चुना ।३।१। श्चुः ।१।१। समास—स् च तुश्च=स्तु, तस्य=स्तोः, समाहार द्वन्द्व। [यद्यपि समाहार द्वन्द्व में नपुंसकलिङ्ग होता है, तथापि यहां सौत्र पुंस्त्व जानना चाहिये।] श् च चुश्च=श्चु, तेन=श्चुना, समाहारद्वन्द्व। अर्थ—[स्तोः] सकार तवर्ग के स्थान पर [श्चुना] शकार चवर्ग के साथ [श्चुः] शकार चवर्ग हो जाता है। भाव—'स्, त्, थ्, द्, ध्, न्' इन वर्णों के स्थान पर 'श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्' ये वर्ण हो जाते हैं, यदि 'स्, त्, थ्, द्, ध्, न्' से 'श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्' इन वर्णों का योग [मेल] हो तो।

यहां स्थानी—'स्, त्, थ्, द्, ध्, न्' ये छः वर्ण हैं।

और आदेश—श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्' ये छः वर्ण हैं।

अतः स्थानी के स्थान पर आदेश 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) द्वारा क्रमशः से होंगे अर्थात् स् को श्, त् को च्, थ् को छ्, द् को ज्, ध् को झ् तथा न् को ञ् होगा।

ध्यान रहे कि यहां स्थानी और आदेश के विषय में यथासङ्ख्य होता है परन्तु योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं होता, अर्थात् यहां यह नहीं समझना चाहिये कि सकार को शकार—शकार के योग में, तकार को चकार—चकार के योग में, थकार को छकार—छकार के योग में, दकार को जकार—जकार के योग में, धकार को झकार—झकार के योग में तथा नकार को ञकार—ञकार के योग में ही होता है। किंतु योग चाहे किसी 'श्चु' का हो—सकार को शकार, तकार को चकार, थकार को छकार, दकार को जकार, धकार को झकार तथा नकार को ञकार ही होगा। यदि योग के विषय में भी यथासङ्ख्य होता तो 'शात्' (६३) सूत्र से निषेध करने की कुछ आवश्यकता न होती, क्योंकि शकार से परे तो तवर्ग को चवर्ग प्राप्त ही नहीं हो सकता था। अतः निषेध करने से ज्ञात होता है कि आचार्य योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं चाहते।

उदाहरण यथा—१ 'रामश्शेते' [राम सोता है]। 'रामस + शेते' [राम शब्द से सुँ प्रत्यय करने पर 'ससजुषा रु' (१०५) से रुँ तथा खरवसानयोर्विसर्जनीय' (९३) से विसर्ग हो पुन 'वा शरि' (१०४) से विकल्प कर के विसग होने पर और तद्भाव पक्ष में सकार करने पर—रामस् शेते, राम शेते ये दो प्रयाग बनते हैं। यहा विसर्गाभाव पक्ष में सत्व वाले रूप का ग्रहण किया गया है।] यहा सकार का शकार के साथ योग होने से उस के स्थान पर क्रमानुसार शकार हो 'रामश्शेते' प्रयोग सिद्ध हाता है।

अब ग्रन्थकार यह जतलाने के लिये कि योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं होता सकार का अन्य उदाहरण देते है—२ 'रामश्चिनोति' [राम चुनता है]। 'रामस्+चिनोति' [राम शब्द मे सुँ प्रत्यय करने पर ससजुषो रु' (१०५) से उसे रुँ तथा खरवसानयो र्विसर्जनीय' (९३) से विमर्ग हो पुन विसजनीयस्य स' (१०३) से सकार हो जाता है।] यहां सकार का चकार के साथ योग होने से उस के स्थान पर क्रमानुसार शकार हो 'रामश्चिनोति' प्रयोग सिद्ध होता है।

३ 'सच्चित् [सत् और ज्ञान] सत्+चित्' यहां तकार का चकार के साथ योग है अत उस के स्थान पर क्रमानुसार चकार हो 'सच्चित्' प्रयोग सिद्ध होता है। [वस्तुत यहा 'स्तो श्चुना श्चु' (८।४।४०) के असिद्ध होने से प्रथम 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से तकार को दकार हा पुन 'खरि च' (८।४।५५) के असिद्ध होने से स्तो श्चुना श्चु' (८।४।४०) से दकार को जकार हो कर 'खरि च' (७४) से चकार हो जाता है।]

४ 'शार्ङ्गिञ्जय' [हे विष्णो ! तुम्हारी जय हो]। 'शार्ङ्गिन्+जय' यहा नकार का जकार के साथ योग है अत नकार के स्थान पर ञकार हो कर शार्ङ्गिञ्जय' प्रयोग सिद्ध होता है।

योग वर्ण के आगे या पीछे दोनों अवस्थाओं में हो सकता है, किसी को यह न समझ लेना चाहिये कि यदि श्चु आगे आएगे तो स्तु को श्चु होगा। चाहे श्चु—स्तु से आगे आए या पीछे, स्तु को श्चु हो जायगा। यथा—'राज+न्+अस्' यहां नकार का पूव जकार के साथ योग होने पर उसके स्थान पर ञकार हो 'राज्ञ' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न—यदि योग में आगे पीछे का नियम नहीं, तो 'अश्नन्धि' में स को श् हो जावे, 'शात्' (९३) सूत्र निषेध नहीं कर सकता। 'अच तकारे' में तकार को चकार होजावे।

उत्तर—'अल्पाच्तरम्' (९८६) इस सूत्र के निर्देश से, 'सिद्धमनच्त्वात्' इस वार्त्तिक के प्रयोग से तथा 'अकच्स्वरौ तु कर्त्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ' इस भाष्य के प्रमाण्य से यह प्रमाणित होता है कि चकार के सामने भी सकार तवर्ग को श्चुत्व नहीं होता।

[लघु०] निषेध सूत्रम्—**६३ शात् ।८।४।४४॥**

शात्परस्य तवर्गस्य चुत्वं न स्यात् । विश्नः । प्रश्नः ।

अर्थः—शकार से परे तवर्ग के स्थान पर चवर्ग नहीं होता ।

व्याख्या—शात् ।५।१। तोः ।६।१। ['तोः षि' से] । 'न' इत्यव्ययपदम् । ['न पदान्ताट्टोरनाम्' से] क्या नहीं होता ? इस जिज्ञासा के उत्पन्न होने पर सुतरां यही आएगा कि जो प्राप्त होता है वह नहीं होता । शकार से परे तवर्ग के स्थान पर 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से चवर्ग ही प्राप्त हो सकता है अन्य कोई प्राप्त नहीं हो सकता * अतः यहां भी उसी का निषेध समझना चाहिये । अर्थः—[शात्] शकार से परे [तोः] तवर्ग के स्थान पर चवर्ग [न] नहीं होता । उदाहरण यथा—

१ 'विश् न' [यहां 'विच्छँ गतौ' (तुदा०) धातु से † 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' (८६०) द्वारा नङ् प्रत्यय तथा 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (८४३) द्वारा छकार को शकार हो गया है ।] यहां 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) द्वारा नकार को ञकार प्राप्त था जो अब इस सूत्र के निषेध के कारण नहीं होता । विश्नः ।

२ 'प्रश् न' [यहां 'प्रच्छँ ज्ञीप्सायाम्' (तुदा०) धातु से पूर्ववत् नङ् प्रत्यय तथा छकार को शकार आदेश हुआ २ है ।] यहां 'स्तोः श्चुना श्चुः' द्वारा नकार को ञकार प्राप्त था जो अब इस सूत्र के निषेध के कारण नहीं होता । प्रश्नः ‡ । इसी तरह 'क्लिश्नाति' ।

स्मरण रहे कि यह सूत्र (८।४।४४) 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) से परे होने के 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) द्वारा असिद्ध होने पर भी वचनसामर्थ्य से उस की दृष्टि में असिद्ध नहीं होता, उस का अपवाद हो जाता है । ['अपवादो वचनप्रामाण्यात्' इति भाष्यम् ।]

इस सूत्र से विधान किया निषेध नकार के सिवाय तवर्गस्थ अन्य वर्णों से प्रायः सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि 'श' से परे 'त्, थ्, द्, ध्' होने पर 'व्रश्चभ्रस्ज—' (३०७) द्वारा षत्व हो जाया करता है ।

---

* यहां 'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' इस परिभाषा को भी ध्यान में रखना चाहिये ।

† 'विच्छ' यहां पर अनुनासिक, अच् की इत्संज्ञार्थ है । अच् स्वरार्थ है । स्वर का कोई चिह्न न दीखने से उदात्त स्वर समझना चाहिये । उदात्तेत् धातु परस्मैपदी होती है । 'यत्' यहां पर अच् में अधोरेखा अनुदात्त की है । अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है । 'यजँ' यहां पर अच् में ऊर्ध्वरेखा स्वरित की है । स्वरितेत् होने से उभयपदी होगी ।

‡ यहां 'ग्रहिज्या ' (६३४) सूत्र द्वारा सम्प्रसारण नहीं होता, क्योंकि 'प्रश्ने चासन्नकाले' (३।२।११७) सूत्र में महामुनि ने स्वयं सम्प्रसारण नहीं किया ।

अभ्यास (१४)

(१) १ प्रमाद् + चलित । २ हरिस + छनत्र । ३ ईश्वराद् + जगद् + जायते । ४ सोम सुन् + झकार । ५ हश् + नाथति । ६ याच् + ना । ७ शश् + नाथ । ८ अश् + नित्यम् । ९ शश्+नथतु । १० जश् + त्वम् । ११ श+तिप्* ।

(२) निम्नलिखित रूपों में सत्रसम वय पूर्वक सन्धिच्छेद् करो ? ।

१ कृष्णश्चपन्न । २ यज्ञ । ३ अग्निचिच्छिनत्ति । ४ नारदश्शशाप । ५ भूज्जौ । ६ सच्छात्र ।

(३) श्चुत्व विधि में कहा यथासङ्ख्य हाता है और कहा नहीं होता ? सप्रमाण लिखो ? ।

(४) 'स्तो श्चुना श्चु' सूत्र की दृष्टि मे 'शात्' सूत्र असिद्ध है । तो भला असिद्ध कैसे सिद्ध का निषेध कर सकता है ? ।

—०※०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—६४ ष्टुना ष्टु । ८।४।४१॥

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात् । रामष्षष्ठः । रामष्टीकते । पेष्टा । तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे ।

अर्थः—सकार तवर्ग के स्थान पर, षकार टवर्ग के साथ योग होने पर षकार टवर्ग हो जाता है ।

व्याख्या—स्तो ।६।१। ['स्तो श्चुना श्चु' से] । ष्टुना ।३।१। ष्टु ।१।१। समास —ष च टुश्च=ष्टु , तेन=ष्टुना, समाहारद्वन्द्व । सौत्रम् पुं स्त्वम् । अर्थ —[स्तो] सकार तवर्ग के स्थान पर [ष्टुना] षकार टवर्ग के साथ [ष्टु] षकार टवर्ग हो जाता है । भाव—'स, त्, थ्, द्, ध्, न्' इन छ वर्णों के स्थान पर 'ष्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्' ये छ वर्ण हो जाते हैं यदि 'ष्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्' इन छ वर्णों का योग अर्थात मेल हो तो । यहा भी पूर्ववत् स्थानी और आदेश के विषय में यथासङ्ख्य होता है योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं होता । यदि योग के विषय में भी यथासङ्ख्य होता तो षकार से परे तवर्ग को टवर्ग प्राप्त ही न हो सकता, पुन उस के निषेध के लिये 'तो षि' (६६) सूत्र क्यों

---

* वस्तुत यह 'शात्' (६३) का उदाहरण नहीं । यहा तकार झल परे होने से 'व्रश्चभ्रस्ज (३०७) द्वारा शकार को षकार प्राप्त था, जो असन्देहार्थं नहीं किया गया । अथवा यदि 'शात्' (६३) का उदाहरण मान लिया जावे, तब भी कोई हानि नहीं क्योंकि सार्वधातुक सञ्ज्ञा करने के लिये 'श्तिप्' को शित् अवश्य करना चाहिये तब उस के सामर्थ्य से षत्व नहीं होगा तब फिर चुत्व प्राप्ति में 'शात्' (६३) निषेधक बनेगा ।

बनाते ? अतः इस से यह जाना जाता है कि ष्टुत्वविधि में योगविषयक यथासङ्ख्य नहीं होता। उदाहरण यथा—

१ रामष्षष्ठः । [राम छठा है ।] 'रामस्+षष्ठः' ['राम' प्रातिपदिक से सु प्रत्यय लाने पर रुत्व विसर्ग हो 'वा शरि' (१०४) द्वारा विकल्प कर के विसर्ग होने पर तदभावपक्ष में सकार आदेश हो जाता है । जिस विसर्गाभाव पक्ष में सकार आदेश होता है उसी का यहां ग्रहण किया गया है ।] यहां षकार के साथ योग होने से सकार को षकार हो 'रामष्षष्ठः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

२ 'रामष्टीकते' । [राम जाता है ।] 'रामस + टीकते' [यहां राम शब्द से सु' प्रत्यय ला कर रुत्व, विसर्ग हो, 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से पुनः सकारादेश हो जाता है] यहां टकार के साथ सकार का योग है । अतः सकार को षकार आदेश हो रामष्टीकते' प्रयोग सिद्ध होता है ।

नोट—सकार का यह दूसरा उदाहरण यह जतलाने के लिये ही दिया गया है कि योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं हुआ करता ।

३ 'पेष्टा' [पीसने वाला, पीसना] 'पेष + ता' ['पिष्लृँ सञ्चूर्णने' (रुधा०) धातु से तृच् प्रत्यय या लुट् के प्रथम पुरुष का एकवचन करने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) सूत्र से इकार को एकार गुण हो जाता है ।] यहां षकार के साथ योग होने से तकार को टकार हो कर—'पेष्टा' प्रयोग सिद्ध होता है ।

नोट—'ष्टु परे होने पर' ऐसा न कह कर 'ष्टु के साथ योग होने पर' ऐसा इस लिये कहा गया है कि 'पेष्टा' आदियों में 'ष्टु' का पूर्वयोग होने पर भी 'स्तु' को 'ष्टु' हो जाए ।

४ 'तट्टीका' । [उस की टीका, अथवा वह टीका] 'तद् + टीका' [यहां 'तस्य टीका' ऐसा षष्ठी तत्पुरुष अथवा कर्मधारयसमास हो 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' वार्त्तिक से पुंवद्भाव समझना चाहिये ।] यहां टकार के योग में दकार को डकार हो कर खरि च' (७४) सूत्र से डकार को टकार करने से 'तट्टीका' प्रयोग सिद्ध होता है । ग्रन्थकार को यहां पर बल्कि 'सच्चित्' प्रयोग पर ही 'खरि च' (७४) सूत्र लिखना उचित था ।

नोट—यहां पर कुछ लोग 'तत्+टीका' ऐसा छेद करके सीधा ष्टुत्व कर दिया करते हैं, यह नितान्त अशुद्ध होता है, क्योंकि 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) सूत्र की दृष्टि में 'खरि च' (८।४।५५) सूत्र असिद्ध है अतः ष्टुत्व से पूर्व चर्त्व नहीं हो सकता, और यदि 'तद्' शब्द को दकारान्त न मान कर तकारान्त मानते हैं तो यहां तो कोई दोष नहीं आता परन्तु 'अतितद्, अतितदौ, अतितदः' इत्यादि प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकते । अतः उपर्युक्त छेद ही युक्त है ।

५ 'चक्रिण्ढौकसे । [हे चक्रधारिन् ! तुम जाते हो ।] 'चक्रिन्+ढौकसे' यहां ढकार का योग होने से नकार को णकार होकर 'चक्रिण्ढौकसे' प्रयोग सिद्ध होता है।

[लघु०] निषेध सूत्रम्—६५ न पदान्ताट्टोरनाम् ।८।४।४२॥

पदान्तात् टवर्गात् परस्यानाम स्तोः ष्टुर्न स्यात् । षट् सन्त । षट् ते । पदान्तात् किम् ? ईट्टे । टोः किम् ? सर्पिष्टमम् ।

अर्थ—पदान्त टवर्ग से परे 'नाम्' के नकार को छोड़ कर अन्य सकार तवर्ग को षकार टवर्ग नहीं होता।

व्याख्या—पदान्तात् ।५।१। टोः ।५।१। अनाम् ।६।१। [यहां षष्ठी के एकवचन ङस् का लुक् हो गया है।]। स्तोः ।६।१। [स्तोः श्चुना श्चुः' से]। ष्टुः ।१।१। [ष्टुना ष्टुः से]। न इत्यव्ययपदम् । अर्थ—[पदान्तात्] पदान्त [टोः] टवर्ग से परे [अनाम्] नाम्शब्द के अवयव से भिन्न [स्तोः] सकार तवर्ग को [ष्टुः] षकार टवर्ग [न] नहीं होता। यह सूत्र 'ष्टुना ष्टुः' (६४) का अपवाद है। इसके उदाहरण यथा—

१ 'षट् सन्त'। [छः सज्जन] 'षड्+सन्त' [यहां 'षड्' सुबन्त होने से पदसञ्ज्ञक है। इस रूप में प्रथम 'ङः सि धुट्' (८६) द्वारा वैकल्पिक 'धुट्' होता है। जहां 'धुट्' नहीं होता, उस पक्ष का यहां ग्रहण समझना चाहिये।] यहां 'खरि च' (८।४।५५) के असिद्ध होने से 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) द्वारा सकार को षकार प्राप्त होता है। पुनः इस सूत्र से उस का निषेध हो जाता है क्योंकि यहां पदान्त टवर्ग [डकार] से परे स्तु [सकार] को ष्टुत्व [षकार] करना है। अब 'खरि च' (७४) से डकार को टकार हो कर—'षट् सन्त' प्रयोग सिद्ध होता है।

२ 'षट् ते'। [वे छः] 'षड्+ते' यहां 'खरि च' (८।४।५५) के असिद्ध होने से 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) द्वारा ष्टुत्व अर्थात् तकार को टकार प्राप्त होता है, इस पर इस सूत्र से निषेध होकर पुनः 'खरि च' (७४) से चर्त्व टकार करने से 'षट् ते' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—लिडिनमित्त इयन लिट्सु आदि प्रयोगों में भी ष्टुत्व का निषेध समझ लेना चाहिये।

पदान्तात् किम् ? ईट्टे ।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पदान्त टवर्ग क्यों कहा ? केवल टवर्ग ही कह देते तो क्या हानि थी ? इस का उत्तर यह है कि यदि 'पदान्त' न कहते तो 'ईट्टे' [मैं स्तुति करता हूं] यह प्रयोग अशुद्ध हो जाता। तथाहि—

'ईड्+ते [ईड़ स्तुतौ (अदा०) धातु से लट्, उसे 'त' आदेश, शप्, उस का लुक् तथा 'त' की टि=अकार को एकार हो यह रूप निष्पन्न होता है।] यहां 'खरि च

(८।४।४१) के असिद्ध होने से प्रथम 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) से तकार को टकार तदनन्तर 'खरि च' (८।४।५५) से डकार को टकार होकर 'ईट्टे' प्रयोग सिद्ध होता है। अब यदि 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) सूत्र में 'टो' पद का विशेषण 'पदान्तात्' नहीं बनाते तो यहां अपदान्त डकार से परे भी तवर्ग को टवर्ग करने का निषेध हो जाता, जो अनिष्ट था। अब 'पदान्तात्' कहने से कुछ भी दोष नहीं आता।

टोः किम्? सर्पिष्टमम्।

प्रश्नः—इस सूत्र में 'टवर्ग' का ग्रहण क्यों किया गया है? केवल 'न पदान्तादनाम्' इतना ही कह देते, अर्थात् 'पदान्त वर्ण से परे नाम् के नकार को छोड़ अन्य सकार तवर्ग को षकार टवर्ग नहीं होता' इतने मात्र के कथन से क्या हानि हो सकती थी?।

उत्तर—यदि 'टवर्ग' का ग्रहण न करते तो पदान्त षकार से परे भी 'स्तु' को 'ष्टु' होने का निषेध हो जाता इस से 'सर्पिष्टमम्' आदि प्रयोगों में ष्टुत्व न हो सकने से अनिष्ट हो जाता। तथाहि—'सर्पिस्' शब्द से 'तमप्' प्रत्यय करने पर 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' (८।३।१०१) सूत्र से सकार को षकार हो 'सर्पिष्+तम'। अब 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ष्टुत्व अर्थात् तकार को टकार करने से 'सर्पिष्टम' प्रयोग निष्पन्न होता है। यहां 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) सूत्र से 'सर्पिष्' की पद सञ्ज्ञा होने के कारण षकार पदान्त हो जाता है*। अब यदि 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) सूत्र में 'टोः' का ग्रहण न करते तो यहां पदान्त षकार से परे तकार को टकार होने का निषेध हो अनिष्ट रूप हो जाता अतः सूत्र में 'टोः' का ग्रहण परमावश्यक है।

[लघु०] वा०—१० अनाम्नवति-नगरीणामिति वाच्यम्॥

षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः।

अर्थः—"पदान्त टवर्ग से परे नाम्, नवति तथा नगरी शब्दों के नकार को छोड़ अन्य सकार तवर्ग को षकार टवर्ग न हो" ऐसा कहना चाहिये।

व्याख्या—सूत्रकार [भगवान् पाणिनि] ने 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) में केवल नाम् के नकार को ही ष्टुत्वनिषेध से मुक्त किया था, अतः नवति तथा नगरी शब्दों में ष्टुत्व-निषेध प्राप्त होने से दोष उत्पन्न होता था। यह देख कर वार्तिककार कात्यायन ने वार्तिक

---

*यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि 'झलाञ्जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार हो टवर्ग हो जाने से 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) द्वारा ष्टुत्व का निषेध क्यों न हो जाए?। स्मरण रहे कि 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' (८।३।१०१) द्वारा किया गया षत्व 'झलाञ्जशोऽन्ते' (८।२।३९) की दृष्टि में असिद्ध है। अतः डकारादेश नहीं होता।

बनाया कि केवल 'नाम्' के नकार को ही ष्टुत्वनिषेध से मुक्त नहीं करना चाहिये, अपितु 'नवति' और 'नगरी' शब्दों को भी ष्टुत्वनिषेध से मुक्त कर देना चाहिये। वार्तिक में पुन 'नाम्' का ग्रहण अनुवादार्थ है। उस के ग्रहण न करने से उस का बाध हो जाता क्योंकि वार्तिक सूत्र का बाधक होता है।

इन के उदाहरण यथा—१ षण्णाम्। [छः का] षड्+नाम्' ['षष' शब्द से षष्ठी का बहुवचन 'आम्' प्रत्यय करने पर 'षष्+ आम्। ष्णान्ता षट् (२६७) से 'षष्' की षट सञ्ज्ञा होकर 'षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) से 'आम्' को नुडागम कर षष्+ नाम्'। अब स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) से पद सञ्ज्ञा हो 'झलाञ्जशोऽन्ते' (६७) से षकार का डकार करने से षड्+नाम्' रूप बनता है।] यहां 'न पदान्ताट्टोरनाम् (६५) सूत्र में ष्टुत्व निषेध से 'नाम्' को मुक्त कर देने के कारण पदान्त टवर्ग=डकार से परे नकार को ष्टुना ष्टु' (६४) स ष्टुत्व=णकार हो, प्रत्यये भाषायां नित्यम्' (११) वार्तिक द्वारा डकार को भी णकार करने से षण्णाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

२ षण्णवति'। [छियानवे] 'षड्+ नवति [षडधिका नवति' या 'षट् च नव तिश्च' इस विग्रह में क्रमश तत्पुरुष और द्वन्द्व करने पर विभक्तियों का लुक हो 'षड्+ नवति' होता है। यहां उसी का ग्रहण है।] 'अनाम्नवति—'(१०) इस वार्तिक में ष्टुत्व निषेध से 'नवति' के मुक्त हो जाने के कारण यहां पदान्त टवर्ग=डकार से परे नकार को 'ष्टुना ष्टु' (६४) से ष्टुत्व= णकार हो कर 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (६८) सूत्र द्वारा डकार को भी विकल्प करके णकार करने पर विभक्ति लाने से 'षण्णवति' तथा 'षड्णवति' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

३ 'षण्णगर्यः'। [छः नगरियां हैं] 'षड्+नगर्यः' 'अनाम्नवति- (१०) इस वार्तिक में ष्टुत्व निषेध से 'नगरी' के भी मुक्त हो जाने के कारण यहां पदान्त टवर्ग=डकार से पर नकार को 'ष्टुना ष्टु' (६४) से ष्टुत्व=णकार हो 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (६८) सूत्र द्वारा डकार को भी विकल्प करके णकार करने से 'षण्णगर्यः तथा 'षड्णगर्यः ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—६६ तोः षि।८।४।४३॥

तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम्। सन्षष्ठः।

अर्थः—षकार परे होने पर तवर्ग के स्थान पर षकार टवर्ग नहीं होता।

व्याख्या—तोः।६।१। षि।७।१। न इत्यव्ययपदम्। ['न पदान्ताट्टोरनाम्' से]

ष्टु ।१।१। [ष्टुना ष्टु ' से] । अर्थ —[षि] षकार परे होने पर [तो] तवर्ग के स्थान पर [ष्टु] षकार टवर्ग [न] नहीं होता । यह सूत्र 'ष्टुना ष्टु ' (६४) का अपवाद है ।

उदाहरण यथा—'सन्+षष्ठ' यहां षकार के योग में 'ष्टुना ष्टु ' (६४) से नकार को णकार प्राप्त होता है, जो अब इस सूत्र से निषेध कर देने के कारण नहीं होता । 'सन् षष्ठ ' ।

(१) नोट—स्मरण रहे कि यद्यपि यहां 'ष्टु' की अनुवृत्ति आती है तथापि तवर्ग के स्थान पर प्राप्त टवर्ग का ही इस सूत्र से निषेध होता है, क्यों कि षकार तो टवर्ग के स्थान पर प्राप्त ही नहीं होता । जो प्राप्त नहीं उस का पुनः निषेध कैसे सम्भव हो सकता है ? ।

(२) नोट—यद्यपि यह सूत्र भी 'शात्' (६३) सूत्र के समान 'ष्टुना ष्टु ' की दृष्टि में असिद्ध है, तथापि वचनसामर्थ्य से उस का यह अपवाद है । ['अपवादो वचनप्रामाण्यात्' इति भाष्यम् ।] ।

अभ्यास (१५)

(१) इन अधोलिखितरूपों में सन्धिविच्छेद कर सन्धि विधायक सूत्र लिखो ?
१ न पदान्ताट्टोरनाम् । २ कृषीष्ट । ३ गरुत्माण्डयते । ४ टिड्ढाणञ्— । ५ पेष्टुम् । ६ सोमसुड्ढौकते । ७ इष्ट । ८ अग्रुर्नष्टकरोति ।

(२) निम्नलिखित रूपों में सूत्र निर्देश पूर्वक सन्धि करो—
१ भवान्+षण्ढ । २ हरिस्+षडङ्गमधीते । ३ परिव्राट्+साधु । ४ सोमसुन्+षडङ्गमधीते । ५ अग्निचित्+ठकार । ६ राट्+नगरी ।

(३) 'ष्टुना ष्टु ' (८।४।४१) की दृष्टि में 'तो षि' (८।४।४३) सूत्र असिद्ध है तो किस प्रकार यह उस का अपवाद हो सकता है ? ।

—०❀०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—६७ झलां जशोऽन्ते । ८ । २ । ३९ ॥

पदान्ते झलां जशः स्युः । वागीशः ।

अर्थः—पद के अन्त में वर्तमान झलों के स्थान पर जश् हों ।

व्याख्या—पदस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है ।] अन्ते । ७ । १ । झलाम् । ६ । ३ । जशः । १ । ३ । अर्थ —[पदस्य] पद के [अन्ते] अन्त में [झलाम्] झलों के स्थान पर [जशः] जश् हो जाते हैं । भाव—झल् प्रत्याहार में वर्गों के चौथे, तीसरे, दूसरे, पहले तथा ऊष्म वर्ण आते हैं । ये वर्ण यदि पद के अन्त में स्थित होंगे तो इनके स्थान पर 'जश्' अर्थात् वर्गों के तीसरे वर्ण हो जाएंगे । 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से जिस २ का जिस

२ के साथ स्थान तुल्य होगा उस २ के स्थान पर वह २ आदेश होगा। यहां हम सम्पूर्ण वर्णों की तालिका नीचे दे देते हैं—

झल् वर्ण (जिन के स्थान पर 'जश्' होता है)					स्थान	जश् वर्ण (जो आदेश होते हैं।)
झ्	ज	छ्	च्	श्	तालु	ज्
भ	ब	फ	प		ओष्ठ	ब्
घ	ग	ख	क	ह*	कण्ठ	ग
ढ	ड	ठ्	ट्	ष	मूर्धा	ड
ध्	द्	थ	त्	स्†	दन्त	द्

उदाहरण यथा—१ 'वागीश'। [बृहस्पति] 'वाक्+ईश' [वाचामीशः=वागीशः। षष्ठीतत्पुरुष। यहां समास मे विभक्तियों का लुक होने पर 'चो कुः' (३०६) से पदान्त चकार को ककार हो जाता है] यहां इस सूत्र से पदान्त ककार के स्थान पर जश्=गकार हो कर विभक्ति आने से 'वागीश' सिद्ध होता है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

२ सुप्+अन्त=सुबन्त। [सुप् अन्ते यस्य स सुबन्त।] ३ तिप्+अन्त=तिबन्त। [तिप् अन्ते यस्य स तिबन्त।] ४ समिध+अत्र=समिदत्र। ५ समिध्+आधानम्=समिदाधानम्। ६ सम्राट्+इच्छति=सम्राडिच्छति। ७ विद्युत्+गच्छति=विद्युद्गच्छति। ८ त्रिष्टुभ्+आदि=त्रिष्टुबादि। ९ अनुष्टुभ्+एव=अनुष्टुबेव। १० वाक्+अत्र=वागत्र। ११ जगत्+ईश=जगदीश। [जगत ईश=जगदीश] १२ अग्निमथ्+श्याम्=अग्निमद्श्याम्। १३ षष्+आगच्छन्ति=षडागच्छन्ति। १४ अप+ज=अब्जम्। [अद्भ्यो जायत इत्यब्जम्]।

इस सूत्र का फल प्रायः तभी दिखाई देता है जब झलों से परे 'खर' न हों। खर परे होने पर इस के किये कार्य को 'खरि च' (७४) नष्ट कर देता है। यथा—'जगत्+तिष्ठति' यहां 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से त् को द् हो 'खरि च' (७४) से पुनः 'त्' हो गया है। इस लिये यह झश प्रत्याहार परे होने पर लगेगा।

ध्यान रहे कि इस सूत्र की दृष्टि में 'खरि च' (८।४।५५) तथा 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) आदि सूत्र असिद्ध हैं, परन्तु उनकी दृष्टि में यह असिद्ध नहीं।

* 'हो ढः' (२५१) आदि 'ह्' के जश्त्व को बाध लेते हैं।

† 'ससजुषो रुः' (१०५) पदान्त में स् के जश्त्व को बाध लेता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—६८ यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा । ८।४।४५॥

यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात् । एतन्मुरारिः, एतद् मुरारिः ।

अर्थ—अनुनासिक परे होने पर पदान्त यर् के स्थान पर विकल्प करके अनुनासिक हो जाता है ।

व्याख्या—पदान्तस्य । ६।१। [न पदान्ताट्टोरनाम् से विभक्तिविपरिणाम कर के ।] यरः ।६।१। अनुनासिके ।७।१। अनुनासिकः ।१।१। वा' इत्यव्ययपदम् । अर्थ—[अनुनासिके] अनुनासिक परे होने पर [पदान्तस्य] पदान्त [यरः] यर् के स्थान पर [वा] विकल्प कर के [अनुनासिकः] अनुनासिक हो जाता है । जो वर्ण मुख और नासिका दोनों से बोला जाय उसे 'अनुनासिक' कहते हैं । [देखो सञ्ज्ञाप्रकरण में 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' (६)] अनुनासिक अच् और हल् दोनों प्रकार के होते हैं । पदान्त यर् से परे अनुनासिक अच् कहीं नहीं देखा जाता अतः यहां हल् अनुनासिकों का ग्रहण होगा । हल् अनुनासिक पाञ्च हैं—१ ङ । २ ञ् । ३ ण । ४ न् । ५ म् । इन पाञ्च वर्णों में से किसी वर्ण के परे होने पर पदान्त यर् को विकल्प कर के अनुनासिक होगा । स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से वही अनुनासिक होगा जिसका यर् के साथ स्थान तुल्य होगा । यथा—तवर्ग को न्, कवर्ग को ङ चवर्ग को ञ, टवर्ग को ण्, पवर्ग को म् ।

उदाहरण यथा—'एतद्+मुरारि' [एतस्य मुरारि=एतद्मुरारि, षष्ठीतत्पुरुष । अथवा—एष मुरारि = एतद्मुरारि कर्मधारयसमास ।] यहां समास में विभक्तियों का लुक् हो चुकने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९०) की सहायता से 'सुप्तिङन्तम्पदम्' (१४) द्वारा एतद् की पद सञ्ज्ञा हो जाती है, इस प्रकार दकार पद का अन्त ठहरता है । इस से परे मकार 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' (६) के अनुसार अनुनासिक है । इस के परे होने पर अब दकार=यर् को अनुनासिक करना है । 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से दकार को नकार ही अनुनासिक होगा ['लृतुलसानां दन्ताः'] । तो इस प्रकार दकार को विकल्प कर के अनुनासिक नकार हो कर विभक्ति लाने से "एतन्मुरारि, एतद्मुरारि" ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ अग्निचित् + नयति=अग्निचिद् + नयति [झलां जशोऽन्ते] = अग्निचिन्नयति । २ तद् + न=तन्न । ३ दिग्+नाग=दिङ्नाग । इसी प्रकार—'कन्नमम् नित्यम्' 'नद्याम्नीभ्य' 'आण् नद्याः' इत्यादि ।

यर प्रत्याहार मे अन्तस्थ वर्ण, सब वर्गों के वर्ण तथा श्, ष, स् वर्ण आते हैं। यद्यपि वर्गों के वर्णों के अतिरिक्त इन सब वर्णों के उदाहरण इस सूत्र पर नहीं मिल सकते [क्यों कि रेफोष्मणा सवर्णा न सन्ति' और य् व पदान्त नहीं मिलते] तथापि यहा 'यर्' ग्रहण अग्रिम 'अचो रहाभ्या द्वे' (६०) अनचि च (१८) आद सूत्रों मे अनुवृत्ति के लिये है और यहा कोई दोष भी नही आता ।

पदान्त ग्रहण का यह प्रयोजन है कि— शङ्ख्म आदि म अपदान्त यरो को अनुनासिक न हो ।

[लघु०] वा—११ प्रत्यये भाषायां नित्यम् ॥

तन्मात्रम् । चिन्मयम् ।

अर्थ —लोक में अनुनासिकादि प्रत्यय परे होने पर पदान्त यर् को नित्य अनुनासिक हो जाता है ।

व्याख्या—प्रत्यये । ७ । १ । भाषायाम् । ७ । १ । नित्यम् । १ । १ । यह वार्त्तिक 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (६८) सूत्र पर भाष्य में पढा गया है अत तद्विषयक ही समझना चाहिये । इस लिये इस का ऐसा अर्थ होगा—(भाषायाम्) लोक में (अनुनासिके) अनुनासिकादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (यर) यर के स्थान पर (नित्यम्) नित्य (अनुनासिक) अनुनासिक हो जाता है ।

उदाहरण यथा—'तन्मात्रम्' [उतना ही] । 'तद् + मात्र' [तत् प्रमाण यस्येति तन्मात्रम्, 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच' (११६४) इति मात्रच् प्रत्यय ।] यहा 'मात्रच्' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होने से 'सुपो धातु प्रातिपदिकयो' (७२१) द्वारा तद् शब्द से परे सु प्रत्यय का लुक हो जाता है अत 'एतद्मुरारि' प्रयोग गत 'एतद्' शब्द की तरह यहा दकार पदान्त है । इस पदान्त दकार=यर से परे 'मात्रच्' यह अनुनासिकादि प्रत्यय किया गया है अत दकार को तत्सदृश नकार नित्य अनुनासिक हो कर विभक्ति लाने से 'तन्मात्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'चिन्मयम्' [चेतनस्वरूप] । चित्+ मय' [चिदेव चिन्मयम् 'नित्य वृद्धशरादिभ्य' (१११०) इत्यत्र 'नित्यम् इति योग विभागात् स्वार्थे मयट ।] यहा मयट्' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हाने से 'सुपो धातु प्रातिपदिकयो' (७२१) द्वारा सु प्रत्यय का लुक हो जाता है अत तकार पदान्त है । इस पदान्त तकार को प्रथम 'झला जशोऽन्ते' (६७) सूत्र मे दकार हो कर पुन इस वार्त्तिक से नित्य अनुनासिक नकार हो जाता है, तब विभक्ति लाने से 'चिन्मयम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

ध्यान रहे कि इस वार्त्तिक से भी सूत्रवत् पदान्त यर् को ही अनुनासिक विधान किया जाता है अपदान्त यर् को नहीं। अत एव— स्वप्न, यत्न, क्षुभ्नाति, बध्नाति, मृद्नाति' आदि प्रयोगों में अनुनासिकादि प्रत्यय परे होने पर भी अपदान्त यर् को अनुनासिक नहीं होता।

नोट—यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) सूत्र की दृष्टि में यह सूत्र (८।४।४५) असिद्ध है अत जहां २ 'झलां जशोऽन्ते' (६७) सूत्र का विषय होगा वहां २ प्रथम जश्त्व हो कर पश्चात् अनुनासिक होगा।

अभ्यास (१६)

(१) निम्न लिखित रूपों में सूत्र समन्वय करते हुए सन्धिच्छेद करो—

१ षण्मासा। २ एतन्मनोहर। ३ इणिनषेध। ४ तण्णकार *। ५ त्रिष्टुम्नाम। ६ तन्न। ७ सन्मार्ग। ८ मृण्मयम्। ९ कुद्भि। १० सामसुन्नवति। ११ त्वङ्मनसी। १२ ककुबीश। १३ ककुम्नायक। १४ वाङमयम्। १५ अम्मयम्।

(२) निम्न लिखित प्रयोगों में सूत्रोपन्यासपूर्वक सन्धि करो—

१ विपद्+मग्न। २ यद्+नैति। ३ तद्+ञकार †। ४ मनाक्+हसति। ५ अप+मात्र। ६ अग्निचित्+ङकार। ७ कतिचित्+दिनानि। ८ मद्+नीति। ९ धिक्+मूर्खम्।

(३) निम्न लिखित रूपों में सूत्र समन्वय करते हुए सन्धि करो, अथवा सन्धि न करने का कारण बताओ।

१ वेद्+मि। २ गरुत्+मत् ‡। ३ गृभ्+णाति। ४ प्रश्+न।

(४) (क) खर् परे होने पर 'झलां जशोऽन्ते' का फल क्यों नहीं प्रतीत होता?।

(ख) 'शङ्खध्म' में अनुनासिक क्यों नहीं होता?।

(ग) सुप् न होने पर भी 'एतन्मुरारि' में दकार कैसे पदान्त है?।

—०❀०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—६९ तोर्लि ।८।४।६०॥ ✓

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः। तल्लयः। विद्वाँल्लिखति। नस्यानुनासिको लः।

---

* यहां अनुनासिक विधायक सूत्र के असिद्ध होने से प्रथम ष्टुत्व कर लेना चाहिये।

† यहां पर प्रथम श्चुत्व कर लेना चाहिये।

‡ यहां पर 'तसौ मत्वर्थे' (११८२) सूत्र से भ सञ्ज्ञा होती है। पदान्त न होने से अनुनासिक नहीं होता।

अर्थ—लकार परे होने पर तवर्ग के स्थान पर पर सवर्ण आदेश होता है।

व्याख्या—तो ।६।१। लि ।७।१। पर सवर्ण ।१।१। ['अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण' से] समास—परस्य सवर्णः=परसवर्णः, षष्ठी तत्पुरुष। अर्थ—(लि) लकार परे होने पर (तो) तवर्ग के स्थान पर (पर सवर्णः) पर सवर्ण आदेश होता है। भाव यह है कि तवर्ग से जब लकार परे होगा तो उसके स्थान पर—पर अर्थात् लकार का सवर्ण आदेश किया जायगा। लकार का लकार के सिवाय अन्य कोई सवर्ण नहीं अतः तवर्ग के स्थान पर लकार ही आदेश होगा।

लकार दो प्रकार का होता है एक अनुनासिक (लँ) और दूसरा अननुनासिक (ल)। 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) के अनुसार तवर्गस्थ अनुनासिक वर्ण के स्थान पर अनुनासिक लकार तथा अननुनासिक वर्ण के स्थान पर अननुनासिक लकार होगा। तवर्ग में नकार के सिवाय अन्य कोई अनुनासिक नहीं अतः केवल नकार के स्थान पर ही अनुनासिक लकार तथा शेष तवर्गीय वर्णों के स्थान पर अननुनासिक लकार होगा। उदाहरण यथा—

तल्लयः। [उस में नाश व उस का नाश] तद् + लयः' [तस्मिँस्तस्य वा लयः= तल्लयः, सप्तमीतत्पुरुष षष्ठीतत्पुरुषो वा।] यहां तवर्ग=दकार से परे लकार विद्यमान है अतः दकार के स्थान पर पर सवर्ण=लकार कर के विभक्ति लाने से 'तल्लयः' प्रयोग सिद्ध होता है।

विद्वाल्ँ लिखति'। [विद्वान् लिखता है।] विद्वान् + लिखति' इस दशा में 'तोर्लि' (६९) सूत्र से नकार को पर सवर्ण लकार आदेश होता है परन्तु नकार के अनुनासिक होने से लकार भी अनुनासिक आदेश हो कर विद्वाल्ँ लिखति' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसके कुछ अन्य उदाहरण यथा—

३ विपद् + लीन=विपल्लीन। ४ कश्चिद् + लभते=कश्चिल्लभते। ५ कुशान्+ लुनाति=कुशाल्ँ लुनाति। ६ महान् + लाभ=महाल्ँ लाभ। ७ उद्+लेख=उल्लेख। ८ धनवान् + लुनीते=धनवाल्ँ लुनीते। ९ हनुमान्+लङ्का दहति=हनुमाल्ँ लङ्कां दहति। १० हसन्+लेढि=हसल्ँ लेढि। ११ जगद्+लीयते=जगल्लीयते। १२ तद् + लीला= तल्लीला। १३ तद्+लीन=तल्लीन। १४ यद्+लक्षणम्=यल्लक्षणम्। १५ चिद्+ लय=चिल्लय। इत्यादि*।

ध्यान रहे कि यह सूत्र 'झलां जशोऽन्ते' (६७) की दृष्टि में असिद्ध है, अतः जहां २

* 'तस्मात्+लृकारात्' इत्यादि में 'तोर्लि' (६९) प्रवृत्त नहीं होगा, क्योंकि इस में लृ-सवर्ण है, 'ल' नहीं। केवल जश्त्व ही होगा 'तस्माद् लृकारात्'।

उस का विषय होगा वहां २ प्रथम जश्त्व हो कर पश्चात् 'तोर्लि' (६६) सूत्र प्रवृत्त होगा। यथा—जगत् + लीयते=जगद् + लीयते=जगल्लीयते।

[लघु०] विधि सूत्रम्—७० उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य ।८।४।६१॥

उदः परयोः स्था-स्तम्भोः पूर्व-सवर्णः।

अर्थः—'उद्' से (परे) स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण हो।

व्याख्या—उदः ।५।१। स्थास्तम्भोः ।६।२। पूर्वस्य ।६।१। सवर्णः ।१।१। ['अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से*] अर्थ —(उदः) 'उद्' उपसर्ग से (स्थास्तम्भोः) स्था और स्तम्भ् के स्थान पर (पूर्वस्य) पूर्व का (सवर्णः) सवर्ण आदेश होता है।

'उदः' यहां दिग्योग में पञ्चमी है अर्थात् 'उद्' से किसी दिशा में स्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण होगा। वर्णों में दो ही दिशा सम्भव हो सकती है, एक पर और दूसरी पूर्व। अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या 'उद्' से पूर्वस्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्व सवर्ण हो या परस्थित स्था और स्तम्भ को पूर्वसवर्ण हो ? किञ्च—यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या व्यवधान से रहित पूर्व या पर स्थित स्था और स्तम्भ को पूर्व सवर्ण हो या व्यवहित पूर्व या पर स्थित स्था और स्तम्भ को भी पूर्वसवर्ण हो ?। इन शङ्काओं की निवृत्ति के लिये अग्रिम परिभाषा सूत्र लिखते हैं।

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—७१ तस्मादित्युत्तरस्य ।१।१।६६॥

पञ्चमी-निर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्।

अर्थ—पञ्चम्यन्त के निर्देश से क्रियमाण कार्य अन्य वर्णों के व्यवधान से रहित पर के स्थान पर जानना चाहिये।

व्याख्या—तस्माद् इति पञ्चम्यन्तानुकरणं लुप्तपञ्चम्येकवचनान्तम्। ['उदः स्थास्तम्भोः' आदि सूत्रों में स्थित 'उदः' आदि पञ्चम्यन्त पदों का अनुकरण यहां 'तस्मात्' शब्द से किया गया है, इस के आगे पञ्चमी के एकवचन का 'सुपां सुलुक्—' (७।१।३६)

* यद्यपि 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' सूत्र में 'परसवर्णः' है, तथापि अनुवृत्ति केवल 'सवर्णः' की ही आती है। इस का कारण यह है कि अनुवृत्ति अधिकृत पदों की ही आया करती है और अधिकृति 'स्वरितेनाधिकारः' (१।३।११) इस सूत्र से स्वरित स्वर के बल से होती है। पूर्व समय में उक्त सूत्र में स्वरित-स्वर केवल 'सवर्णः' पर था, 'पर' पर नहीं। यद्यपि अब स्वरितादि स्वर चिह्न नहीं रहे तथापि 'प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः' की तरह 'प्रतिज्ञास्वरिताः पाणिनीयाः' भी जानना चाहिये। अथवा 'पर' में षष्ठी का लोप समझना चाहिये।

सूत्र से लुक् हुआ समझना चाहिये ।] इति इत्यव्ययपदम् । निर्दिष्टात् ।५।१। [तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' सूत्र से विभक्ति विपरिणाम द्वारा] उत्तरस्य ।६।१। अर्थ —(तस्माद् इति निर्दिष्टात्) 'उद स्था स्तम्भो पूर्वस्य' आदि सूत्रों में स्थित 'उद्' आदि पञ्चम्यन्त पदों के निरन्तर उच्चारण किये गये अर्थों से (उत्तरस्य) परल के स्थान पर कार्य होता है ।

पञ्चम्यन्त पदों के अर्थों का निर तर उच्चारण तभी हो सकता है जब उन से अव्यवहित [व्यवधान रहित] उत्तर को कार्य्य हो अत यह सुतराम् आ जाता है कि सूत्रों में स्थित पञ्चम्यन्त पदों के अर्थों से अव्यवहित पर को कार्य हो । इस सूत्र की विशेष व्याख्या 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूवस्य (१६) सूत्र के समान समझ लेनी चाहिये । हम यहां पिष्ट पेषण करना नहीं चाहते ।

इस सूत्र से अन्ततो गत्वा यह ज्ञात होता है कि उदाहरणों मे पञ्चम्य त पद के अर्थ से अव्यवहित पर को ही कार्य हो, पूर्व का अथवा व्यवहित पर को कार्य न हो । यथा— उद् + प्रस्थानम्' यहा यद्यपि उद्' स स्था परे है, तथापि प्र' शब्द का मध्य में व्यवधान होने से उद् स्थास्तम्भो० (७०) सूत्र द्वारा पूर्व सवर्ण नहीं होता । इसी प्रकार तिङ्ङतिङ' (८।१।२८) [अतिङन्त से तिङन्त को निघात अर्थात् सर्वानुदात्तस्वर हो ।] सूत्र ईडे अग्निम्' में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि अग्निम् इस अतिङन्त पद स ईडे' यह तिङन्त पद परे नहीं पूर्व में वर्त्तमान है ।

यह परिभाषा सूत्र है । परिभाषाए प्रयोगसिद्धि में स्वतन्त्रतया कुछ काय नहीं किया करतीं, अपितु सूत्रों के अर्थों में मिश्रित हो कर प्रयोगसिद्धि किया करती है, यह हम पीछे लिख चुके हैं । इस के अनुसार यह परिभाषा भी उद स्था स्तम्भो पूर्वस्य' (७०) आदि सूत्रों के साथ मिल कर एकार्थ उत्पन्न करेगी । तो अब उद स्थास्तम्भो पूवस्य' (७०) सूत्र का यह अर्थ हो जावगा— उद्' स अव्यवहित पर स्था और स्तम्भ् को पूर्व सवर्ण आदेश हो । इसी प्रकार 'तिङ्ङतिङ (८।१।२८) सूत्र का यह अर्थ होगा—अतिङन्त पद से अव्यवहित पर तिङन्त के स्थान पर निघात अर्थात् सर्वानुदात्त-स्वर हो ।

'उद्+स्थान' 'उद्+स्तम्भन' इन दोनों स्थानों पर 'उद्' से परे अव्यवहित स्था और स्तम्भ विद्यमान हैं, अत इन क स्थान पर पूर्व सवर्ण करना है । अब 'स्था स्तम्भो' के षष्ठ्यन्त होने से 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र से इन के अन्त्य अल् के स्थान पर पूर्व सवर्ण प्राप्त होता है इस पर 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) के अपवाद अग्रिम सूत्र को लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—७२ आदेः परस्य ।१।१।५३॥

परस्य यद् विहित तत् तस्यादेर्बोध्यम । इति सूत्रार्थः ।

अर्थ—पर के स्थान पर जो कार्य विधान किया जाता है वह कार्य उस (पर) के के आदि वर्ण के स्थान पर समझना चाहिये।

व्याख्या—आदेः ।६।१। अलः ।६।१। ['अलोऽन्त्यस्य' सूत्र से] परस्य ।६।१। अर्थ—(परस्य) पर के स्थान पर विधान किया कार्य (आदेः) उसके आदि (अलः) अल् के स्थान पर होता है। यहां सूत्रार्थ अनुकूल पदों का अध्याहार कर के ही किया जाता है।

'उद्+स्थानम्' 'उद्+स्तम्भनम्' यहां 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) परिभाषा की सहायता से, 'उदः स्था स्तम्भोः पूर्वस्य' (७०) सूत्र द्वारा परले स्था और स्तम्भ् का पूर्व सवर्ण होना था अब वह इस परिभाषा द्वारा परले के आदि अर्थात् सकार को होगा।

अब यहां यह विचार प्रस्तुत होता है कि स को पूर्व (दकार) का कौन सवर्ण हो? क्योंकि पूर्व (दकार) का एक सवर्ण नहीं किन्तु पांच सवर्ण है—'त्, थ्, द्, ध्, न्'। इस सन्देह की निवृत्ति के लिये 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र उपस्थित हो कर कहता है कि 'प्राप्त हुए आदेशों में अत्यन्त सदृश आदेश हो'। इसके अनुसार अब हमें 'त्, थ्, द्, ध्, न्' इन पांच वर्णों में से सकार के अत्यन्त सदृश वर्ण ढूंढना है। यदि यहां स्थानकृत आन्तर्य (सादृश्य) देखते हैं तो वह 'लृतुलसानां दन्ताः' के अनुसार सब में समान है, अतः इस आन्तर्य से काम नहीं निकल सकता। अर्थकृत और प्रमाणकृत सादृश्य तो इन में हो नहीं सकते। अतः अब शेष बचे गुणकृत आन्तर्य अर्थात् यत्नों द्वारा सादृश्य से ही परीक्षा करेंगे। यत्न—आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार के होते हैं। इन में प्रथम आभ्यन्तर-यत्न तो सकार के साथ उन पांचों में से किसी का नहीं मिलता, क्योंकि 'ईषद्विवृतमूष्मणाम्' के अनुसार सकार का 'ईषद्विवृत' और उन पांचों का 'तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्' के अनुसार 'स्पृष्ट' है। अतः बाह्य यत्नों की ही परीक्षा करते हैं। सकार का 'विवार श्वास अघोष और महाप्राण' बाह्य यत्न है।

उन पांचों के निम्नप्रकार से बाह्य होते हैं—

त्	विवार,	श्वास,	अघोष,	अल्पप्राण।
थ्	,,	,,	,,	महाप्राण।
द्	संवार,	नाद,	घोष,	अल्पप्राण।
ध्	,,	,,	,,	महाप्राण।
न्	,,	,,	,,	अल्पप्राण।

इन पांचों में थकार के सिवाय अन्य कोई सकार के तुल्य बाह्ययत्नों वाला नहीं; अतः सकार के स्थान पर पूर्वसवर्ण थकार ही होता है—'उद् थ्थान उद् थ्तम्भन'। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—७३ झरो झरि सवर्णे ।८।४।६५॥

हल परस्य झरो वा लोप सवर्णे झरि ।

अर्थ —सवर्ण झर परे हो तो हल् से परे झर् का विकल्प कर के लोप हो जाता है।

व्याख्या—हल ।५।१। ['हलो यमां यमि लोप ' से] झर ।६।१। लोप ।१।१। ['हलो यमा यमि लोप ' से] अन्यतरस्याम् ।७।१। ['झयो होऽन्यतरस्याम्' से] सवर्णे ।७।१। झरि ।७।१। अथ —(हल) हल से* (झर) अव्यवहित पर झर का (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (लोप) लोप हो जाता है यदि (सवर्णे) सवर्ण (झरि) झर परे हो तो ।

यहा निमित्त † और स्थानियों ‡ का यथासङ्ख्य नहीं होता अर्थात् यहा 'झ का झ परे होने पर, भ का भ् परे होने पर, घ का घ् परे होने पर, ढ का ढ पर होने पर' इत्यादि क्रम से लोप नहीं होता क्योंकि यदि एसा अभीष्ट होता तो पाणिनि जी झरा झरि' इतना ही सूत्र बनाते 'सवर्णे पद का ग्रहण न करते, अत विदित होता है कि वे सवर्ण झर् मात्र परे होने पर झर का लोप चाहते हैं । इसका प्रयोजन 'उद् थ तम्भन' आदि प्रयोगों में थकार आदि का लोप करना है ।

'उद् थ थान' 'उद् थ् तम्भन' यहा इस सूत्र से झर् = प्रथम थकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है, क्योंकि इस से परे थकार और तकार क्रमश सवर्ण झर् विद्यमा हैं ।

लोप पक्षे		लोपाभाव पक्षे	
१ उद्	थान ।	१ उद्	थ् थान ।
२ उद्	तम्भन ।	२ उद्	थ् तम्भन।

अब इन सब स्थानों पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—७४ खरि च ।८।४।५५॥

खरि झलां चर' स्युः । इत्युदो दस्य त' । उत्थानम् । उत्तम्भनम् ।

---

* हल् से परे झर का लोप विहित होने से 'पत्त्रम, दत्त्वा, तत्त्वम्, सत्त्वम्, कित्त्वम्, जिह्त्वम् मित्त्रम्, क्षत्त्रिय, छत्त्रम्, छात्त्र, पुत्त्र ' इत्यादि में 'त्' का और 'वाग्ग्मी में 'ग' का लोप नहीं होगा । जो लोग-पत्र, तत्व, कित्व, वाग्मी आदि रूप लिखते हैं, वे अपाणिनीय हैं ।

† जिस के होने पर कोई कार्य हो उसे 'निमित्त' कहते हैं । यथा 'इको यणचि (१५) में अच परे होने पर इक् को यण् होता है तो यहां 'अच् निमित्त है । 'झरो झरि सवर्णे (७३) सूत्र में झर् परे होने पर झर् का लोप कहा गया है तो यहा परला 'झर निमित्त है ।

‡ जिस के स्थान पर कुछ किया जाता है उसे 'स्थानी' कहते हैं । यथा—'झरो झरि सवर्णे (७३) में झर् के स्थान पर लोप विहित होने से 'झर् स्थानी है इसी प्रकार इको यणचि (१५) आदि में इक् आदि स्थानी हैं ।

अर्थ —खर् प्रत्याहार परे होने पर झलों के स्थान पर चर् हो जाता है । इस सूत्र से 'उद्' के दकार को तकार हो गया।

व्याख्या—खरि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । झलाम् ।६।३। ['झला जश् झशि'से] चर ।१।३। ['अभ्यासे चर् च' से वचन विपरिणाम कर के] अर्थ —(खरि) खर प्रत्याहार परे होने पर (झलाम्) झलों के स्थान पर (चर) चर् हो जाते हैं ।

वर्गों के प्रथम, द्वितीय तथा श , ष स वर्ण—'खर' कहाते हैं । वर्गों के प्रथम तथा श्, ष, स वर्ण— चर्' कहाते हैं । वर्गों के पञ्चम वर्णों को छोड कर शेष सब वर्गस्थ वर्ण तथा ऊष्म वर्ण—'झल प्रत्याहार के अन्तर्गत हो जाते हैं।

'श, ष् स्' इन झलों के स्थान पर 'श ष् स' ही चर् होते हैं । यथा— निश्चय , रामश्चिनाति' यहा चकार खर परे होने पर शकार झल को शकार चर ही हुआ है । 'वृष्टि , वृष्ट दृष्टि, दृष्ट ' यहा टकार खर परे होने पर षकार झल् को षकार चर ही हुआ है। 'अस्ति, अस्तु, स्त , परास्त , रामस्स्य' यहा खर परे होने पर सकार झल को सकार चर् ही हुआ है ।

झल् प्रत्याहारान्तर्गत हकार से परे कभी खर् नहीं आता, क्योंकि खर् से पूर्व हकार को सदैव 'हो ढ ' (२५१) द्वारा ढकार हो जाता है ।

प्रश्नः—यदि 'श , ष स' के स्थान पर श , ष्, स' ही होते हैं और हकार की ज़रूरत ही नहीं, तो झल् की बजाय झय और चर् की बजाय चय ही क्यों नहीं कह देते ? ।

उत्तर—'खरि च' (७४) सूत्र में झल् और चर् की पीछे से अनुवृत्ति आ रही है, उसी से यहा काम चल जाता है, अब यदि झय और चय कहेंगे तो पिछले किसी सूत्र से अनुवर्त्तन न होने के कारण यहां ही उनका ग्रहण करना पड़ेगा, इस से लाघव की बजाय गौरव दोष ही उत्पन्न होगा, अत इन अनुवर्तित झल् और चर पदों से ही काम चलाने में लाघव है, किञ्च इन के ग्रहण से कोई दोष तो उत्पन्न होता ही नहीं ।

'स्थानेऽन्तरतम ' (१७) सूत्र द्वारा जिस झल् का जिस चर् के साथ साम्य होगा, वही उसी के स्थान पर आदेश होगा । इन सब की तालिका निम्न प्रकार से समझनी चाहिये—

झल् (वे वर्ण जिन के स्थान पर आदेश होते हैं।)	साम्य स्थान	चर् (आदेश होने वाले वर्ण)
घ, ग्, ख, क	कण्ठ	क्
झ, ज, छ, च	तालु	च्
ढ, ड, ठ्, ट्	मूर्धा	ट
ध्, द्, थ, त्	दन्त	त
भ, ब, फ, प	ओष्ठ	प्
श्		
ष		
स्		

भाव—वर्गों के दूसरे, तीसरे तथा चौथे वर्णों को वर्गों के प्रथम वर्ण हो जाते हैं, यदि उन से परे वर्गों के पहले, दूसरे तथा श् , ष् , स् , वर्ण हों तो।

अब इस सूत्र से—

१	उद्	थ थान	१	उद्	थान
२	उद्	थ् तम्भन	२	उद्	तम्भन

इन चारों स्थानों पर 'उद्' के दकार को तकार हो जाता है। तो इस प्रकार—

लोपाभावे		लोप पक्षे	
१	उत्थ्थानम्	१	उत्थानम्
२	उत्थ्तम्भनम्	२	उत्तम्भनम्

ये दो २ रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—ध्यान रहे कि 'उत्थ्थानम्, उत्थ्तम्भनम्' इन लोपाभाव वाले रूपों में 'उद स्था स्तम्भो पूर्वस्य' (८।४।६१) सूत्र द्वारा किये गये पूर्व-सवर्ण के असिद्ध होने से 'खरि च' (८।४।५५) द्वारा थकार को तकार नहीं होता। [विशेष 'सिद्धान्त कौमुदी' तथा उस की टीकाओं में देखें।]

अभ्यास (१७)

(१) सूत्र समन्वय करते हुए सन्धि करो—

१ भेद् + तुम्। २ शिण्ड + धि। ३ उद् + स्थापयति। ४ भगवान्+लङ्कते। ५ छेद् + तव्यम्। ६ रुन्द् + ध। ७ प्रत् + सम्। ८ लिभ् + सा। ६ उद् + स्तम्भते। १० उद् + स्थित। ११ बन्द्+धुम्। १२ उद् + स्तम्भितुम्।

(२) सूत्रोपपत्तिपूर्वक सन्धिच्छेद करो—
१ पिण्ढि । २ भिन्त । ३ उद्धु । ४ उत्थाय । ५ उत्तम्भिता । ६ युयुत्सव । ७ अग्निमत्सु । ८ अत्त । ६ रुन्ध । १० ऊर्गीयते* । ११ अवत्तम् । १२ उत्थातव्यम् । १३ आरिप्सते । १४ निब धा [तृच्] ।

(३) 'झरो झरि सवर्णे' सूत्र में 'सवर्ण' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? उदाहरण दे कर स्पष्ट करें ।

(४) 'तोर्लि' सूत्र द्वारा नकार को अनुनासिक लकार क्यों होता है ? अननुनासिक ही हो जाय ।

(५) खर् परे होने पर श्, ष्, स् के स्थान पर कौन २ से चर होंगे ? ।

(६) निमित्त स्थानी और आदेश किसे कहते हैं ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(७) 'आदे: परस्य' और 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषाओं का क्या अर्थ है ? और यह अर्थ कैसे निष्पन्न होता है ? ।

(८) निम्न लिखित प्रश्नों का उत्तर दें—
(क) खर परे होने पर हकार के स्थान पर क्या होगा ? ।
(ख) 'उत्थ्थानम्' यहां 'खरि च' द्वारा थकार को तकार क्यों नहीं होता ? ।
(ग) 'उद् + प्रस्थानम्' में सन्धि करो ।

—०ॐ०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—७५ झयो होऽन्यतरस्याम् ।८।४।६२॥

झय: परस्य हस्य वा पूर्वसवर्ण: । नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थः । वाग्घरि: । वाग्हरि: ।

अर्थ—झय् से परे हकार को विकल्प करके पूर्व-सवर्ण हो ।

नादस्येति—नाद, घोष, संवार और महाप्राण यत्न वाले हकार के स्थान पर वैसा वर्गों का चतुर्थ होगा ।

व्याख्या—झय: ।५।१। ह: ।६।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। पूर्वस्य ।६।१। ['उद: स्थास्तम्भो: पूर्वस्य से] सवर्ण: ।१।१। ['अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण:' से] अर्थ—(झय:) झय् से अव्यवहित पर (ह:) 'ह्' के स्थान पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (पूर्वस्य) पूर्व का (सवर्ण:) सवर्ण आदेश होता है । भाव—झय् प्रत्याहार में पञ्चम वर्णों को छोड़ कर शेष सब वर्गस्थ वर्ण आ जाते हैं । इन से परे हकार हो तो उस के स्थान पर पूर्व (झय्) का सवर्ण (चतुर्थ) आदेश हो जाता है ।

---

*ऊक् + गीयते = ऊग् + गीयते = ऊर्गीयते ।

उदाहरण यथा—वाग्घरि (वाणी का शेर अथात बोलने में चतुर)। 'वाक्+हरि' यहा प्रथम 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से ककार का गकार आदेश हो—'वाग्+हरि'। अब यहा झय् गकार है, इस से परे हकार के स्थान पर पूर्व अथात गकार का सवर्ण आदेश करना है। गकार के—क ख् ग् घ् ङ ये पाञ्च सवर्ण हैं। इन में से यहा कौन हो? ऐसी शङ्का उत्पन्न होने पर 'स्थानेऽन्तरतम (१७) सूत्र उपस्थित हो कर कहता है कि जो हकार के साथ अत्यन्त सदृश हो वही हकार के स्थान पर आदेश किया जाय। अब यदि स्थानकृत आन्तर्य देखते है तो हकार के सब सदृश ठहरते है, क्योंकि, अकुहविसर्जनीयाना कण्ठ के अनुसार हकार और कवर्ग दोनो का कण्ठ स्थान है। अर्थकृत तथा प्रमाणकृत आन्तर्य तो यहा हो ही नहीं सकते। अत अब शेष बचे गुणकृत आन्तर्य (अर्थात् यत्नो द्वारा सादृश्य) से ही सदृश्यता जाचेंगे। आभ्यन्तर यत्न तो इन का हकार के साथ तुल्य हो नहीं सकता। 'ईषद्विवृतमूष्मणाम्' के अनुसार हकार ईषद्विवृत तथा 'स्पृष्ट प्रयतनं स्पर्शानाम्' के अनुसार कवर्ग स्पृष्ट है। अत अब बाह्य यत्न देखेंगे। हकार का बाह्ययत्न—संवार, नाद, घोष और महाप्राण है। कवर्ग में इस प्रकार के बाह्ययत्न वाला केवल घकार ही है इस से हकार के स्थान पर विकल्प कर के घकार हो विभक्ति लाने से पूर्वसवर्णपक्ष मे वाग्घरि और तदभावपक्ष में 'वाग्हरि' इस प्रकार दो रूप बन जाते है। वाचि वाचो वा हरि (सिंह)=वाग्घरि।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ तद्+हानि=तद्धानि। २ अच्+हीन=अज्+हीन=अज्झीनम्। ३ मधुलिड+हसति=मधुलिड्ढसति। ४ अब्+हस्ती=अब्भस्ती। ५ अज्+ह्रस्वदीर्घप्लुत=अज्झ्रस्वदीर्घप्लुत। ६ स्याड+ह्रस्वश्च=स्याडढ्रस्वश्च। ७ दिग+हस्ती=दिग्घस्ती। ८ सम्पद्+हष=सम्पद्धष। ९ रत्नमुड+हरति=रत्नमुड्ढरति। १० वणिग्+हस्ती=वणिग्घस्ती।

इन सब स्थानों पर पूर्वसवर्णाभाव पक्ष में भी प्रयोग जान लेना चाहिये। यहा सर्वत्र हकार के स्थान पर पूर्वले अक्षर के वर्ग का चतुर्थ वर्ण ही होता है क्योंकि आन्तर्य परीक्षा में वह ही हकार के अत्यन्त सदृश हो सकता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—७६ शश्छोऽटि। ८।४।६३॥

झय परस्य शस्य छो वाऽटि। 'तद्+शिव' इत्यत्र दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते 'खरि चे'ति जकारस्य चकार'। तच्छिव', तच्शिव'।

अर्थ—झय् से परे शकार को विकल्प कर के छकार हो जाता है, अट् परे हो तो।

व्याख्या—झय ।५।१। ['झयो होऽन्यतरस्याम्' से] श ।६।१। छ ।१।१।

अन्यतरस्याम् ।७।१। ['झयो होऽन्यतरस्याम्' से] अटि ।७।१। अर्थः—(झय) झय् से परे (श) 'श्' के स्थान पर (छ) छ् हो जाता है (अटि) अट परे होने पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में अर्थात् विकल्प से ।

यह सूत्र 'स्तो श्चुना श्चु ' (८।४।४०) और 'खरि च (८।४।५५) दोनों की दृष्टि में असिद्ध है । इन दोनों में भी 'स्तो श्चुना श्चु ' (८।४।४०) की दृष्टि में 'खरि च' (८।४।५५) असिद्ध है अत सब से प्रथम 'स्तो श्चुना श्चु ' (६२) फिर 'खरि च' (७४) तदनन्तर 'शश्छोऽटि' (७६) सूत्र प्रवृत्त होगा । उदाहरण यथा—

तद् + शिव=तच+शिव ('स्तो श्चुना श्चु ')='तच् शिव' ('खरि च) अब यहा झय् चकार है इस से परे शकार वर्तमान है और उस शकार से भी इकार=अट परे है अत इस सूत्र से शकार को वकल्पिक छत्व हो कर विभक्ति लाने से छत्वपक्ष में 'तच्छिव ' और छत्वाभाव पक्ष में 'तच्शिव ' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं ।

इसके अन्य उदाहरण यथा—

१ मधुलिट्+शेते=मधुलिट छेते । २ वाक्+शेते=वाक छेते । ३ मत्+श्वशुर =मच+श्वशुर +मच्छ्वशुर । ४ यावत्+शक्यम्=यावच् + शक्यम्=यावच्छक्यम् । ५ जगत्+शान्ति=जगच्+शान्ति=जगच्छान्ति । ६ तद्+श्रुत्वा=तज्+श्रुत्वा=तच्+श्रुत्वा=तच्छ्रुत्वा । ७ कश्चित्+शेते=कश्चिच्+शेते=कश्चिच्छेते । ८ प्राक्+शेते=प्राक्छेते ।

नोट—यहा 'वा पदान्तस्य' (८।४।५९) सूत्र से पदान्तस्य' पद का भी अनुवर्तन होता है । विभक्तिविपरिणाम से वह पञ्चम्यन्त हो कर 'झय ' का विशेषण बन जाता है । इस से यह अर्थ हो जाता है—पदान्त झय् से परे शकार को छकार हो विकल्प कर के अट् परे हो तो । 'पदान्त' पद लाने का यह प्रयोजन है कि— विश्नम्, चक्शौ' आदियों में अपदान्त पकार ककार दियों से परे शकार को छकार न हो जाय ।

[लघु०] वा—१२ छत्वममीति वाच्यम् ॥

तच्छ्लोकेन ।

अर्थः—पदान्त झय से परे शकार को वैकल्पिक छकारादेश—अट् परे की बजाय अम् परे होने पर कहना चाहिये ।

व्याख्या—मुनिवर पाणिनि के 'शश्छोऽटि' (७६) सूत्र से 'तच्छ्लोकेन, तच्छ्मश्रुणा' आदि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकते थे क्योंकि इन में शकार से परे लकार है, लकार अट् प्रत्याहार में नहीं आता । अत इनकी सिद्धि के लिये महामुनि कात्यायन वार्तिक रचते हुए लिखते हैं कि—(छत्वम् ।१।१।) छत्व (अमि) अम् प्रत्याहार परे होने पर हो (इति वाच्यम्) ऐसा कहना चाहिये ।

कात्यायन का पाणिनि के 'शश्छोऽटि' (७६) सूत्र के अन्य किसी अंश से मतभेद नहीं, केवल 'अटि' अंश से ही मतभेद है। वे चाहते हैं कि 'अटि' को हटा कर इसके स्थान पर 'अमि' कर देना चाहिये। ऐसा करने से तच्छ्लोकेन' आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं। तथाहि –

तद्+श्लोक=तज्+श्लोक ['स्तोः श्चुना श्चुः' (६२)]=तच्+श्लोक [खरि च' (७४)] यहां झय्=चकार से शकार परे विद्यमान है। इस से 'ल्' यह अम् परे है। अतः विकल्प कर के शकार को छकार हो कर विभक्ति लाने से छत्वपक्ष में तच्छ्लोकेन और छत्वाभावपक्ष में 'तच्श्लोकेन' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। [स श्लोक =तच्छ्लोक, यद्वा तस्य श्लोक =तच्छ्लोक, तेन=तच्छ्लोकेन। उस श्लोक से]।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण यथा—

१ तच्छ्मशानम्, तच्श्मशानम्। [तच्चादश्श्मशानञ्च, अथवा तस्य श्मशानमिति विग्रह। यद्वा व्यस्तमेवास्तु।]

२ एतच्छ्मश्रु, एतच्श्मश्रु। [एतच्चादश्श्मश्रु च अथवा एतस्य श्मश्रु, इति विग्रह। यद्वा व्यस्तमेवास्तु।]

३ यच्छ्नाप्रत्यय। [य श्नाप्रत्यय इति अथवा यस्य श्नाप्रत्यय इति विग्रह।]

४ सोमसुच्छ्लाघा। [सोमसुत श्लाघा इति विग्रह।]

५ भूभृच्छ्लक्ष्ण। [भूभृच्चासौ श्लक्ष्णश्चेति विग्रह।]

६ अग्निचिच्छ्लेष्मा। [अग्निचित श्लेष्मेति विग्रह।]

७ तच्छ्लिष्ट। [स चासौ श्लिष्टश्चेति विग्रह।]

अभ्यास (१८)

(१) झय् से परे हकार को पूर्वसवर्ण वर्ग चतुर्थ ही क्यों होता है ? अन्य कोई क्यों नहीं हो जाता ? सप्रमाण विवेचन करें।

(२) शश्छोऽटि' सूत्र में 'अटि' पद पढ़ने से क्या दोष उत्पन्न होता था ? श्रीकात्यायन ने उसका क्या उपाय किया है ?।

(३) "विश्नश्रम् तच्श्चुत्वम् चक्शौ, सक्तुश्चोतति" इत्यादियों में छत्व क्यों नहीं होता ?।

(४) "भवान्+हसति, प्राङ+हसति, भगवान्+हृषीकेश, धनवान्+हृष्ट" इत्यादि प्रयोगों में हकार को पूर्व सवर्ण क्यों न कर दिया जाए ?।

(५) श्चुत्व, चर्त्व और छत्व में कौन प्रथम और कौन पश्चात् होता है ? इसका क्या कारण है ?।

— ❀ ० —

[लघु०] विधि सूत्रम्—७७ मोऽनुस्वारः ।८।३।२३॥

मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि । हरिं वन्दे ।

अर्थ —हल् परे हो तो मकारान्त पद के स्थान पर अनुस्वार हो जाता है ।

व्याख्या—मः ।६।१। पदस्य ।६।१। [यह अधिकार पीछे से आ रहा है] अनुस्वारः ।१।१। हलि ।७।१। ['हलि सर्वेषाम्' से] 'मः' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः इस से 'येन विधिस्तदन्तस्य (१।१।७२) द्वारा तदन्तविधि हो कर 'मान्तस्य पदस्य' ऐसा बन जाता है । अर्थ —(हलि) हल् परे होने पर (मः=मान्तस्य) मकारान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (अनुस्वारः) अनुस्वार होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) द्वारा मकारान्त पद के अन्त्य अल्=मकार को ही अनुस्वार होगा ।

उदाहरण यथा—'हरिं वन्दे' (मैं हरि को नमस्कार करता हूं ।) हरिम् + वन्दे' यहां मकारान्त पद 'हरिम्' है इसकी सुबन्त होने 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) द्वारा पद सञ्ज्ञा है । इस से परे 'व्' यह हल् विद्यमान है अतः मकारान्त पद के अन्त्य अल्=मकार को अनुस्वार आदेश हो कर हरिं वन्दे' प्रयोग सिद्ध होता है । *

इसके अन्य उदाहरण यथा—मातरम् + वन्दे=मातरं वन्दे, पुस्तकम्+पठति=पुस्तकं पठति, गुरुम्+नमति=गुरुं नमति, शत्रुम् + जयति=शत्रुं जयति । इत्यादि ।

'हल परे होने पर' इस लिये कहा गया है कि तम्+आगच्छति=तमागच्छति, यम्+ऋषिम्= यमृषिम्, तम् + लृकारम्=तम्लृकारम्' इत्यादि स्थानों पर अच् परे रहते अथवा अवसान में अनुस्वार न हो जाय ।

पद ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—'गम्यते, नम्यते' इत्यादि स्थानों पर हल् परे रहते हुए भी अपदान्त मकार को अनुस्वार न हो जाय ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—७८ नश्चापदान्तस्य झलि ।८।३।२४॥

नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः । यशांसि । आक्रंस्यते । झलि किम् ? मन्यसे ।

अर्थ — झल् परे होने पर अपदान्त नकार मकार को अनुस्वार हो जाता है ।

व्याख्या—नः ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । अपदान्तस्य ।६।१। झलि ।७।१। मः ।६।१। अनुस्वारः ।१।१। ['मोऽनुस्वारः' से] अन्वय —अपदान्तस्य नः मः च झलि

*कई लोग 'हरिम्वन्दे, सम्वृत्त' इत्यादि लिखते हैं, सो ठीक नहीं अनुस्वार आवश्यक है । हां परसवर्ण वैकल्पिक है—हरिव्ँ वन्दे, हरिं वन्दे ।

अनुस्वार । अर्थ — (झलि) झल् परे होने पर (अपदान्तस्य) अपदान्त (न) नकार (च) और (म) मकार के स्थान पर (अनुस्वार) अनुस्वार हो जाता है । उदाहरण यथा—

'यशांसि' (बहुत यश) । 'यशान्+सि' ['यशस' शब्दाज्जसि जश्शसो शि' (२३७) इति शावादेशे 'शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) इति तस्य सर्वनामस्थानतायां 'नपुंसकस्य झलच' (२३९) इति नुमागमे सान्तमहत संयोगस्य' (३४२) इति सान्तसंयोगान्तस्योपधाया दीर्घे च कृते— यशान्सि' इति निष्पद्यते ।] यहां सकार झल परे होने से अपदान्त नकार को अनुस्वार करने से 'यशांसि' प्रयोग सिद्ध होता है ।

आक्रंस्यते' (आक्रमण होगा) । 'आक्रम् + स्यते [आङ्पूर्वात् 'क्रमु पादविक्षेपे' (भ्वा०) इति धातो कर्तरि लृट, 'आङ उद्गमने' (१।३।४०) इत्यात्मनेपदम् ।] यहां अपदान्त मकार को पूर्वसूत्र से अनुस्वार प्राप्त नहीं हो सकता है अब इस सूत्र से सकार झल परे होने से उसे अनुस्वार हो कर 'आक्रंस्यते' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इस सूत्र में 'झलि' का ग्रहण इस लिये किया गया है कि—"गम् + यसे=गम्यसे, मन् + यसे=मन्यसे, हन् + यसे=हन्यसे" इत्यादि स्थानों मे झल परे न होने के कारण अनुस्वार न हो जाय ।

'अपदान्तस्य' ग्रहण करने से 'राजन्पाहि ब्रह्मन्पाहि' इत्यादियों में पदान्त नकार को अनुस्वार नहीं होता ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१ पयान्+सि=पयांसि । २ आयम्+स्यते=आयंस्यते । ३ अनम् + सीत्=अनंसीत् । ४ नम् + स्यति=नंस्यति । इत्यादि ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—७९ अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ।८।४।५८॥

स्पष्टम् । शान्तः ।

अर्थ—यय् परे होने पर अनुस्वार को पर सवर्ण होता है ।

व्याख्या—अनुस्वारस्य ।६।१। ययि ।७।१। परसवर्णः ।१।१। समास—परस्य सवर्णः=परसवर्णः, षष्ठीतत्पुरुषसमास । अथवा पर इति लुप्तषष्ठीकं पृथक् पदम्, सवर्णः इति तु स्वरितत्वादधिकृतम् । अर्थ—(ययि) यय परे होने पर (अनुस्वारस्य) अनुस्वार के स्थान पर (परसवर्णः) पर सवर्ण आदेश होता है ।

भाव—सब वर्गस्थ वर्ण तथा अन्तस्थ वर्ण यय प्रत्याहार के अन्दर आ जाते हैं इन के परे होने पर अनुस्वार को पर अर्थात् यय का सवर्ण आदेश हो जाता है । उदाहरण यथा—

'शान्त' (शान्त व नष्ट) । 'शाम् + त [शमु उपशमे (दिवा०), क्त, वा दान्त शान्तेत्यादिनिपातनान्नट, अनुनासिकस्य क्वीति दीर्घ ।] यहां नश्चापदान्तस्य झलि'

(७८) सूत्र से अपदान्त मकार को अनुस्वार हो 'शांत' ऐसा बना अब इस सूत्र से तकार यय् परे होने पर अनुस्वार को पर सवर्ण करना है। तकार के सवर्ण—'त्, थ्, द्, ध्, न्' ये पाञ्च वर्ण हैं। इन में नासिकास्थान के सादृश्य के कारण अनुस्वार के सदृश नकार है अतः अनुस्वार को नकार हो कर विभक्ति लाने से 'शान्त' प्रयोग सिद्ध होता है।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—१ अन्+कित=अंकित=अङ्कित। २ अन्+चित=अंचित=अञ्चित। ३ कुन्+ठित=कुंठित=कुण्ठित। ४ दाम्+त=दांत=दान्त। ५ गुम्+फित=गुंफित=गुम्फित। इत्यादि।

यहां 'यय्' ग्रहण स्पष्टार्थ है। यय् ग्रहण न करने से भी कोई दोष नहीं आ सकता। तथाहि—"आक्रंस्यते दंशनम् अंहिप" इत्यादि प्रयोगों में "रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति" [रेफ तथा ऊष्म अर्थात् श ष स ह वर्णों के सवर्ण नहीं होते।] इस वचन के कारण परसवर्ण नहीं होगा तथा अचों के परे होने पर तो अनुस्वार ही नहीं मिल सकेगा।

इस सूत्र का 'य, व्, र, ल' के परे होने पर यद्यपि कोई उदाहरण नहीं तथापि अग्रिम 'वा पदान्तस्य' (८०) सूत्र में इनका उपयोग दिखाया जायगा।

नोट—ग्रन्थकार ने इस सूत्र की वृत्ति [जो सूत्र पर संस्कृत में उस का अर्थ लिखा होता है उसे 'वृत्ति' कहते हैं] नहीं लिखी केवल 'स्पष्टम्' लिखा है। इस का आशय यह है कि इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट है अर्थात् इस सूत्र में अन्य किसी सूत्र के पद की अनुवृत्ति नहीं आती। यह सूत्र ही अपनी आप वृत्ति है। एवमन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—८० वा पदान्तस्य ।८।४।५९॥

पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परे परसवर्णो वा स्यात्।
त्वङ्करोषि, त्वं करोषि।

अर्थः—यय् परे हो तो पदान्त अनुस्वार को विकल्प कर के परसवर्ण हो जाता है।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। पदान्तस्य ।६।१। अनुस्वारस्य ।६।१। ययि ।७।१। परसवर्णः ।१।१। ['अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से] अर्थः—(ययि) यय् परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (अनुस्वारस्य) अनुस्वार के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (परसवर्णः) परसवर्ण आदेश होता है। यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है अतः पूर्व सूत्र अपदान्त अनुस्वार का और यह पदान्त अनुस्वार को यय् परे होने पर परसवर्ण करेगा।

उदाहरण यथा—'त्वङ्करोषि, त्वं करोषि' (तू करता है)। 'त्वम्+करोषि' यहां 'त्वम्' इस पद के अन्त्य मकार को 'मोऽनुस्वारः' (७७) सूत्र से अनुस्वार हो कर 'त्वं+

करोषि बना। अब इस सूत्र से पदान्त अनुस्वार को पर=ककार का सवर्ण ङकार करने से—'त्वङ करोषि'। परसवर्णाभावपक्ष में— त्वं करोषि'। [पर=ककार के "क्, ख्, ग, घ ङ" ये पाञ्च सवर्ण हैं स्थानकृत आन्तर्य से ककार को ङकार ही होगा।]

इसी प्रकार—तङ् कथञ्चित्रपक्षण डयमानम् पुरुषाऽवधीत्। [परसवर्णपक्षे]
तं कथं चित्रपक्षं डयमानं पुरुषोऽवधीत्। [परसवर्णाभावे]

य्, व्, ल्' वर्ण सानुनासिक और निरनुनासिक भेद से दो प्रकार के होते हैं यह हम पीछे सञ्ज्ञा प्रकरण में बता चुके हैं। य, व, ल्' के परे होने पर अनुस्वार के स्थान पर स्थानी अनुस्वार के अनुनासिक होने से स्थानेऽन्तरतम' (१७) द्वारा सानुनासिक 'यँ, वँ, लँ' ही होंगे। यथा—१ सम्+वत्सर=सं+वत्सर=सवँवत्सर। २ दानम्+यच्छति=दानं+यच्छति=दानयँ यच्छति। ३ अहम्+लिखामि=अहं+लिखामि=अहलँ लिखामि। इत्यादि।

[लघु०] विधि सूत्रम्—८१ मो राजि समः क्वौ ।८।३।२५॥

क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्।

अर्थ—क्विबन्त राज् धातु परे हो तो सम् के मकार को मकार ही हो [अर्थात् अनुस्वार न हो]।

व्याख्या—समः ।६।१। मः ।६।१। [मोऽनुस्वारः' से] म ।१।१। क्वौ ।७।१। राजि ।७।१। क्वि (प्) यह प्रत्यय है। इस व्याकरण में जहां २ प्रत्यय का ग्रहण होता है वहां २ तदन्त अर्थात् वह प्रत्यय जिस के अन्त में होता है ऐसे समूह [प्रकृति+प्रत्यय] का ग्रहण किया जाता है। इस नियम के अनुसार क्विप से तदन्त विधि हो कर 'क्विबन्त' बन जायगा। अर्थ—(क्वौ) क्विबन्त (राजि) राज् धातु परे हो तो (समः) सम् के (मः) मकार के स्थान पर (म) मकार आदेश होता है।

'सम्' यह अव्यय होने के कारण सुबन्त होने से पद सञ्ज्ञक है। इस के मकार को क्विबन्त 'राज' धातु परे होने पर 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार प्राप्त था। इस सूत्र से सम् के मकार को मकार किया गया है, इसका अभिप्राय यह है कि मकार, मकार ही बना रहे अनुस्वार न हो जाय।

उदाहरण यथा—सम्+राट् [चक्रवर्ती राजा। 'राजृ दीप्तौ' (भ्वा०) इत्यस्मात् 'सत्सूद्विष—' इति क्विपि, क्विब्लोपे, सावागते 'हल्ङ्याब्भ्यः'—इति सोर्लोपे, पदान्ते 'व्रश्च भ्रस्ज—' इति षत्वे, डत्वे, अवसाने चर्त्वे च कृते 'राट्' इति सिध्यति।] यहां मकार को 'मोऽनुस्वारः' (७७) सूत्र से अनुस्वार नहीं होता, इस प्रकार 'सम्राट्' पद सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—सम्राजौ सम्राजः सम्राजम्, सम्राजा । इत्यादि ।

नोट—'सम्राज्ञी' शब्द वेद में देखा जाता है, परन्तु लोक में यह शब्द चिन्तनीय है, राज्ञी' की सिद्धि कर के 'सम्' से योग होने पर क्विबन्त न होने से 'म्' नहीं हो सकता । अथवा 'सम्राज्' शब्द से भी ङीप् नहीं हो सकता । तब स्त्रीलिङ्ग में भी 'सम्राट्' ही रहेगा ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—८२ हे मपरे वा ।८।३।२६ ॥

मपरे हकारे मस्य मो वा । किम्ह्मलयति, किं ह्मलयति ।

अर्थः—जिस हकार से परे मकार हो, उस हकार के परे होने पर मकार के स्थान पर विकल्प कर मकार होता है ।

व्याख्या—मपरे ।७।१। हे ।७।१। म ।६।१। ['मोऽनुस्वारः' से] म ।१।१। ['मो राजि सम क्वौ' से] वा इत्यव्ययपदम् । समासः—म परो यस्मादसौ मपरस्तस्मिन्=मपरे । बहुव्रीहि समास । अर्थः—(मपरे) मकार परे वाले (हे) हकार के परे होने पर (म) मकार के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (म) मकार आदेश हो जाता है । यह सूत्र 'मोऽनुस्वारः' (७७) का वैकल्पिक अपवाद है ।

उदाहरण यथा—किम्+ह्मलयति' [क्या चलता वा हिलता है ? ।] यहां मकार परे वाला हकार परे है अतः मकार को मकार अर्थात् अनुस्वाराभाव हो—'किम्ह्मलयति' । पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार हो—'किं ह्मलयति' । इस प्रकार के दो रूप सिद्ध होते हैं ।

इसी प्रकार—"कथम्ह्मलयति, कथं ह्मलयति" इत्यादि रूप होते हैं ।

[लघु०] वा०—१३ यवलपरे यवला वा ॥

किय्ँ ह्यः, किं ह्यः । किव्ँ ह्वलयति, किं ह्वलयति । किल्ँ ह्लादयति, किं ह्लादयति ।

अर्थः—यकार, वकार अथवा लकार परे वाला हकार परे हो तो मकार के स्थान पर क्रमशः विकल्प कर के यकार, वकार तथा लकार हो जाते हैं ।

व्याख्या—यवलपरे ।७।१। हे ।७।१। ['हे मपरे वा' से] म ।६।१। ['मोऽनुस्वारः' से] यवला ।१।३। वा इत्यव्ययपदम् । समासः—यश्च वश्च लश्च=य व लाः, इतरेतरद्वन्द्वः । एत्वकार उच्चारणार्थः । यवला परा यस्मादसौ यवलपरस्तस्मिन्=यवलपरे । बहुव्रीहि समास । अर्थः—(यवलपरे) य, व ल परे वाले (हे) हकार के परे होने पर (म)

म् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (यवला) यकार वकार लकार हो जाते हैं। यह वार्तिक 'मोऽनुस्वार' (७७) का वैकल्पिक अपवाद है। जिस पक्ष में 'य व् ल्' नहीं होंगे उस पक्ष में 'मोऽनुस्वार' (७७) से अनुस्वार हो जाएगा। यहां यथासंख्यमनुदेश समानाम् (२३) से आदेश और निमित्तों को क्रमश समझ लेना चाहिये। अर्थात् यकार परे वाला हकार परे होगा तो मकार को यकार, वकार, परे वाला हकार परे होगा तो मकार को वकार तथा लकार परे वाला हकार परे होगा तो मकार का लकार आदेश होगा।

उदाहरण यथा—'किम् + ह्य' (कल क्या था ?) यहां यकार परे वाला हकार परे है अत मकार का विकल्प कर के यकार होगा। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से यकार दो प्रकार का होता है। यहां 'स्थानेऽन्तरतम (१७) से अनुनासिक मकार को अनुनासिक यकार हो कर—'कियँ ह्य । पक्ष में 'मोऽनुस्वार' (७७) से अनुस्वार हो कर किं ह्य' इस प्रकार दो रूप हुए।

'किम् + ह्वलयति' (क्या जाता है ?) यहां वकार परे वाला हकार परे है अत मकार को विकल्प कर के अनुनासिक वकार हो कर—'किवँ ह्वलयति'। पक्ष में मोऽनुस्वार (७७) से अनुस्वार हो कर—'किं ह्वलयति' इस प्रकार ये दो रूप सिद्ध हुए।

'किम् + ह्लादयति' (कौन वस्तु प्रसन्न करती है) यहां लकार परे वाला हकार परे है। अत मकार को विकल्प कर के अनुनासिक लकार हो कर—'किलँ ह्लादयति'। पक्ष में 'मोऽनुस्वार' (७७) से अनुस्वार हो कर—'किं ह्लादयति' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार—१ मित्रलँ ह्लादते, मित्रं ह्लादते। २ इदयँ ह्यस्तनम्, इदं ह्यस्तनम्। ३ किवँ ह्वयतु, किं ह्वयतु। इत्यादि।

नोट—सर्वत्र कौमुदीग्रन्थों में मकार के स्थान पर अनुनासिक 'यँ, वँ, लँ' ही हुए २ प्राप्त होते है। टीकाकारों का कथन है कि 'य, व, ल्' अनुनासिक और निरनुनासिक भेद से दो प्रकार के होते हैं। यहां अनुनासिक मकार के स्थान पर दोनों के प्राप्त होने पर 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) से अनुनासिक यकार वकार लकार होते हैं। शेखरकार श्री नागेशभट्ट ने इस मत का खण्डन किया है। उन का कथन है कि 'य्, व् ल्' विधान किए गए है। विधीयमान अण् अपने सवर्णियों के ग्राहक नहीं होते। [देखो—'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय' (११)] अत यहां अनुनासिक 'य्, व, ल्' नहीं हो सकेंगे किन्तु जैसे विधान किए गए हैं वैसे निरनुनासिक ही होंगे। यथा—'मतुप' के अनुनासिक मकार के स्थान पर 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्य' (१०६२) से अनुनासिक वकार नहीं होता किन्तु निरनुनासिक वकार ही होता है। इस में प्रमाण—

१ 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'। (११६)

२ 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः'। (८१७)

३ 'तद्धानामासुपधानो मन्त्र इतीष्टिकासु०। (४।४।१२५)

इत्यादि सूत्रों में महामुनि पाणिनि ने 'मतुप्' के अनुनासिक मकार के स्थान पर अनुनासिक वकार नहीं किया। कौमुदीपक्ष के समर्थकों में कई एक यह कहते हैं कि सूत्रगत विधीयमान अण् ही अपने सवर्णियो का ग्रहण नहीं कराते। वार्त्तिकगत अण् विधीयमान होते हुए भी सवर्णियो का ग्रहण कराते ह। [देखो शेखर पर चिद्‌स्थिमाला' मे किसी का मत] परन्तु ऐसा होने पर 'सँव्वत्सर, विद्वाल्ँ लिखति' इत्यादि सूत्रोदाहरणों में अनुनासिक न होना चाहिये। तथा अन्यों का कथन है कि 'ऋत उत्' (२०८) में 'उ' विधीयमान है वह अपने सवर्णियों का ग्रहण नहीं करा सकता, तो पुन इसे क्यो मुनि ने तपर किया है? अत इस से यह प्रतीत होता है कि विधीयमान भी अण् कहीं २ अपने सवर्णियों का ग्रहण कराते हैं'। इस से यहा विधीयमान भी अण्='य्, व्, ल्' अपने सवर्णियों के ग्राहक होंगे। और जो मतुप्' के मकार का अननुनासिक वकार होता है यह 'अर्थवदधातु——' (११६) आदि सूत्रो के ज्ञापक से होता है।

हम न दोनो पक्षों का सयुक्तिक दिखा दिया है आग विद्वज्जन ही स्वय सत्य असत्य का निर्णय कर लें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—८३ नपरे नः ।८।३।२७॥

नपरे हकारे परे मस्य नो वा। किन्ह्नुते। किं ह्नुते।

अर्थः—नकार परे वाला हकार परे हो तो मकार के स्थान पर विकल्प कर के नकार हो जाता है।

व्याख्या—नपरे ।७।१। हे ।७।१। ['हे मपरे वा' से] मः ।६।१। ['मोऽनुस्वार' से] नः ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् ['हे मपरे वा' से]। समास—नः परो यस्मात् स नपरस्तस्मिन्=नपरे। बहुव्रीहिसमास। अर्थ—(नपरे) नकार परे वाला (हे) हकार परे हो तो (मः) म् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (नः) नकारादेश हो जाता है। यह सूत्र भी 'मोऽनुस्वार' (७७) का वैकल्पिक अपवाद है। पक्ष में मोऽनुस्वार' (७७) से अनुस्वार आदेश होगा।

उदाहरण यथा—'किम्+ह्नुते' (क्या छिपाता है?) यहा नकार परे वाला हकार परे है, अत मकार को वैकल्पिक नकार होकर—'किन्ह्नुते'। पक्ष में 'मोऽनुस्वार' (७७) से अनुस्वार हो कर 'किं ह्नुते' इस प्रकार दो रूप सिद्ध हुए।

इसी प्रकार—१ कथन्ह्नुते, कथ ह्नुते । २ यन्ह्नुते, य ह्नुते । ३ तन् ह्नोतुम्, त ह्नोतुम् । इत्यादि ।

अभ्यास (१६)

(१) निम्नलिखित रूपों में सूत्रसमन्वयपूर्वक सन्धिच्छेद करो ।

१ तपासि । २ भूमड खनति । ३ आम्रण् चूषति । ४ फलन ह्नुते । ५ पुलँ लिङ्गम् । ६ ऊर्ध्वंशङ्कयते । ७ विद्वास । ८ तलँ लिखामि । ९ निष्फलवँ ह्वानम् । १० नदी तरति । ११ कथयँ ह्य । १२ सत्य शिव सु दरम् । १३ धनयँ यच्छति । १४ कान्त । १५ सम्राज । १६ त्वलँ लामशं । १७ राम रमेशम् भजे । १८ सर्वम्बलवताम्पथ्यम् । १९ त्ववँ वक्ता । २० पण्डित ।२१ अहङ्कार २२ अहवँ वसामि ।

(२) (क) 'मा गृध कस्यस्विद्धनम्' यहां अन्त्य मकार को 'मोऽनुस्वार' से अनुस्वार क्यों नहीं होता ? यदि कहो कि अपदान्त (?) है तो 'नश्चापदान्तस्य झलि' से हो जाय ।

(ख) "एव ऌकारोऽपि, ओं, पुस्तक" इत्यादि प्रयोग क्या शुद्ध ह ? सप्रमाण लिखो ।

(ग) 'राजन्+पाहि' यहां अनुस्वार क्या न हो ? ।

(घ) 'तम्यते' यहां 'नश्चापदान्तस्य झलि' सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता ? ।

(ङ) 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' यहां 'पर' पद को पृथक मानने की क्या आवश्यकता है ? ।

(३) सम्राजी' शब्द क्या अशुद्ध है ? ।

(४) 'कियँ ह्य' आदि में अनुनासिक यकारादि करना कहा तक शुद्ध है ? शेखरकार का क्या मन्तव्य है ? सप्रमाण यथाधीत विस्तृत टिप्पण करें ।

(५) 'मपरे, मपरे, यवलपरे' पदों में समास बता कर उस का विग्रह लिखो ।

—०❀०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—८४ ड सि धुँट् ।८।३।२९॥

डात् परस्य सस्य धुँट् वा ।

अर्थ—डकार परे विकल्प कर के सकार का अवयव धुँट् हो जाता है ।

व्याख्या—ड ।५।१। सि ।७।१। धुँट् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । [हे मपरे वा' से] 'ड' यह पञ्चम्यन्त है । 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) के अनुसार डकार से अव्यवहित पर का अवयव 'धुँट्' होना चाहिये । 'सि' यह सप्तम्यन्त पद है । 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे

पूर्वस्य' (१६) के अनुसार सकार से अव्यवहित पूर्व का अवयव 'धुँट्' होना चाहिये। अब धुँट किस का अवयव हो? यह शङ्का उत्पन्न होती है। इस का समाधान यह है—

"उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" अर्थात् जहां पञ्चमी और सप्तमी दोनों से निर्देश किया गया हो वहां पञ्चमी का निर्देश ही बलवान् होता है। इस नियम के अनुसार 'ड' यहां पञ्चमी का निर्देश ही बलवान् हुआ। अतः डकार से अव्यवहित पर=सकार को ही धुँट का आगम होगा। अर्थ —(ड) डकार से परे (वा) विकल्प कर के (सि) सकार का अवयव (धुँट) धुँट हो जाता है।

उदाहरण यथा—षड्+सन्त ' [छः सज्जन] यहां 'खरि च' (८।४।५५) के असिद्ध होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यहां डकार से परे 'सन्त' पद का आदि सकार विद्यमान है, अतः उस सकार का अवयव 'धुँट' यह शब्द समुदाय विकल्प से होगा। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या 'धुँट्' सकार का आद्यवयव हो या अन्त्यावयव? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिम परिभाषा सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—८५ आद्यन्तौ टकितौ ।१।१।४५॥

टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः । षट्त्सन्तः, षट् सन्तः ।

अर्थ—टित् और कित् जिस के अवयव कहे गये हों वे उस के क्रमशः आद्यवयव तथा अन्तावयव होते हैं।

व्याख्या—आद्यन्तौ ।१।२। टकितौ ।१।२। समास—आदिश्च अन्तश्च=आद्यन्तौ। इतरेतरद्वन्द्व। टश्च कश्च=टकौ। टकारादकार उच्चारणार्थ। इतरेतरद्वन्द्व। टकौ इतौ ययोस्तौ टकितौ। बहुव्रीहिसमास। अर्थ—(टकितौ) टकार इत् वाला तथा ककार इत् वाला क्रमशः (आद्यन्तौ) आद्यवयव तथा अन्तावयव होता है। किस का अवयव होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर सुतरां यह आ जाता है कि जिस का अवयव विधान किया गया हो। 'क्रमशः' शब्द 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) परिभाषा द्वारा प्राप्त होता है।

'षड्+सन्त' यहां 'डः सि धुँट्' (८४) सूत्र से सकार का अवयव धुँट विधान किया गया है। धुँट के टकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इत् सञ्ज्ञा होती है अतः धुँट टित् है। इस लिये यह सकार का आद्यवयव होगा। 'षड्+धुँट् सन्त' ऐसा हो टकार (हलन्त्यम्) और उकार (उपदेशेऽजनुनासिक इत्) इत्सञ्ज्ञकों का 'तस्य लोपः' (३) से लोप करने पर—'षड्+ध् सन्त'। अब 'खरि च' (७४) सूत्र से सकार खर परे होने पर

षकार को तकार पुन उस तकार सर को मान डकार को भी टकार हो कर 'षट्त्सन्त'* प्रयोग निष्पन्न हुआ । जिस पत्त में 'धुँट्' आगम न हुआ उस पक्ष में 'खरि च' (७४) से डकार को टकार हो कर 'षट सन्त' प्रयोग सिद्ध हुआ । इस प्रकार इस के दो रूप बन गये ।

इसके अन्य उदाहरण यथा—१ लिट्त्सु, लिट्सु । २ षट्त्सुखानि, षट् सुखानि । ३ तुराषाट्त्सरति तुराषाट सरति । ४ षट्त्सन्ततय, षट सन्ततय । ५ षट्त्समस्या, षट समस्या । ६ षट्त्सन्निकर्षा षट सन्निकर्षा । इत्यादि ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—८६ ङ्णोः कुक्टुक् शरि ।८।३।२८ ॥

वा स्त

अर्थ.—शर परे होने पर ङकार णकार को क्रमश विकल्प करके कुक् और टुक का आगम हो जाता है ।

व्याख्या—ङ्णो ।६।२। कुक्टुक ।१।१। शरि ।७।१। वा इत्यव्ययपदम् [है मपरे वा स] । समास—ङ च ण च=ङ्णौ तयो=ङ्णो । इतरेतरद्वन्द्व । कुक् च टुक च=कुक्टुक समाहारद्वन्द्व । अर्थ—(शरि) शर् परे हाने पर (ङ्णो) ङकार और णकार के अवयव (कुक्टुक्) कुक् और टुक (वा) विकल्प कर के होते हैं ।

कुक् और टुक् कित् हैं अत 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) परिभाषा से ये ङकार णकार क अन्तावयव होंगे ।

उदाहरण यथा—प्राङ्+षष्ठ सुगण्+षष्ठ' यहा ङकार णकार से परे षकार शर् विद्यमान है अत ङकार को कुक् तथा णकार को टुक् का आगम हो कर ककार† का लोप हो गया तो—

प्राङ्+क् षष्ठ ।	सुगण्+ट् षष्ठ ।	[कुक्टुक्पक्षे]
प्राङ+षष्ठ ।	सुगण+षष्ठ ।	[कुक्टुकोरभावे]

अब कुक टुक् पक्ष में अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है ।

[लघु०] वा०—१४ चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् ॥

प्राङ्ख्षष्ठ, प्राङ्क्षष्ठ, प्राङ् षष्ठ । सुगण्ठ्षष्ठ', सुगण्ट्षष्ठः, सुगण् षष्ठ ।

अर्थ—शर परे होने पर चय प्रत्याहार के स्थान पर वर्गों के द्वितीय वर्ण विकल्प कर के हो जाते हैं ।

---

* यहा 'धुँट्' आगम असिद्ध है अत 'चयो द्वितीया—(वा०-१४) से तकार को थकार नहीं होता । इसी प्रकार 'षट् स त' में भी समझ लेना चाहिये ।

† उकार उच्चारणार्थ है । प्रयोजनाऽभाव से इत् सञ्ज्ञा नहीं होती ।

व्याख्या—चय । ।१। द्वितीया ।१।१। शरि ।७।१। पौष्करसादे ।६।१। इति इत्यव्ययपदम् । वाच्यम् ।१।१। अर्थ—(चय) चय अर्थात् वर्गों के प्रथम वर्णों के स्थान पर (द्वितीया) वर्गों के द्वितीय वर्ण हों (शरि) शर् प्रत्याहार परे होने पर (इति) यह (पौष्करसादे) पौष्करसादि आचार्य के मत में (वाच्यम्) कहना चाहिये। अन्य आचार्यों के मत में न होने से विकल्प सिद्ध हो जायगा।

उदाहरण यथा—१ सवथ्सर, सवत्सर । २ अभीफ्सा, अभीप्सा । ३ अख्षरम् अक्षरम् । ४ ख्षीरम् क्षीरम् । ५ ख्षमा क्षमा । ६ ख्षिति, क्षिति । ७ थ्सरु, त्सरु । ८ अफ्सरस अप्सरस । ९ विरफ्शिन् विरप्शिन् । १० अख्षि अक्षि । इत्यादि ।

'प्राङ + क् षष्ठ, सुगण + ट् षष्ठ' इन दोनों स्थानों पर षकार शर परे रहने के कारण ककार और टकार को क्रमश खकार और ठकार हो कर निम्नलिखित रूप बने—

कुक् पक्ष में { १ प्राङ् ख्षष्ठ । [पौष्करसादि के मत में]
२ प्राङ क्षष्ठ }

कुक अभाव में—३ प्राङ् षष्ठ ।

टुक पक्ष में { १ सुगण् ठ्षष्ठ [पौष्करसादि के मत में]
२ सुगण् ट्षष्ठ }

टुक् अभाव में—३ सुगण् षष्ठ

इस के अन्य उदाहरण यथा—१ प्राङ् ख्षु, प्राङ क्षु, प्राङ षु । २ गवाङ ख्षु, गवाङ क्षु, गवाङ् षु । ३ तिर्यङ्ख्श्वपिति, तिर्यङ्क्श्वपिति, तिर्यङ्श्वपिति । ४ क्रुङ्ख्श्वसिति क्रुङ्क्श्वसिति, क्रुङ् श्वसिति । ५ उदङ् ख्शृणोति, उदङ् क्शृणोति, उदङ् शृणोति । ६ सुगण् ख्सहते, सुगण क्सहते, सुगण सहते । इत्यादि ।

सूचना—ककार और षकार मिल कर 'क्ष' हो जाता है । क्+ष = क्ष ।

नोट—'चयो द्वितीया शरि०' वार्तिक 'अनचि च' (८।४।४७) सूत्र पर पढा गया है । यद्यपि 'खरि च' (८।४।५५) सूत्र इस वार्तिक से परे होने के कारण इसे असिद्ध नहीं समझ सकता, तथापि वार्तिक आरम्भसामर्थ्य से उस की यहां प्रवृत्ति नहीं होती ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—८७ नश्च ।८।३।३० ॥

नान्तात् परस्य सस्य धुँट् वा । सन्त्सः, सन्सः ।

अर्थ—नान्त से परे सकार को विकल्प कर के धुँट् का आगम होता है ।

व्याख्या—न ।५।१। सि ।७।१। ['ड सि धुँट्' से] धुँट । १।१। च इत्यव्ययपदम् । वा इत्यव्ययपदम् । [हे मपरे वा' से] अर्थ—(न) न् से परे (सि) सकार

का अवयव* (धुँट्) धुँट् (वा) विकल्प कर के हो जाता है। 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) द्वारा धुँट् सकार का आद्यवयव होगा।

उदाहरण यथा—'सन्+स' [वह सज्जन है] यहां न् से सकार परे है अत इसको धुँट् का वैकल्पिक आगम हो कर उँट् अनुबन्ध† का लोप हो जाता है। अब 'खरि च' (७४) सूत्र से चर्त्व अर्थात् धकार को तकार करने से—'सन्त्स'। धुँट् अभाव पक्ष में—'सन्स'। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ अस्मिन्त्समये, अस्मिन्समये। २ भवान्त्सखा, भवान्सखा। ३ सन्त्साधु, सन्साधु। ४ तान्त्सपत्नान् तान्सपत्नान्। ५ धनवान्त्सहोदर, धनवान्सहोदर। ६ पठन्त्साङ्ख्यम् पठन्साङ्ख्यम्। ७ विद्वान्त्सहते, विद्वान्सहते। ८ पुमान्त्स्त्रिया, पुमान्स्त्रिया। ९ नेम्मिसद्बध्नातिषु च, नेम्मिसद्बध्नातिषु च। १० तान्त्साध्यान्त्साधय तान्साध्यान्साधय। इत्यादि।

नोट—वृत्ति में 'नान्तात्' यह पद 'न' को 'पदात्' का विशेषण कर देने से 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७१) द्वारा प्राप्त होता है। इस से हानि लाभ कुछ नहीं।

प्रश्न—'ड सि धुँट्' (८४), 'नश्च' (८७) इन दो ही सूत्रों में 'सि' का ग्रहण होता है। इन्हीं दोनों स्थानों पर "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" इस परिभाषा का आश्रय कर 'सस्य' ऐसा मानना पडता है। इस से तो यही अच्छा होता कि यहां 'सि' पद की बजाय 'स' पद ग्रहण कर लेते।

उत्तर—'स' ऐसा स्पष्ट षष्ठ्यन्त पद न कह कर 'सि' इस प्रकार सप्तम्यन्त पद के ग्रहण का प्रयोजन लाघव करना ही है। 'सि' में १½ मात्रा है परन्तु 'स' में २ मात्रा होती थीं। [स् की आधी, इ की एक, कुल डेढ। स् की आधी, अ की एक, विसर्गों की आधी, कुल दो। अर्धमात्रा का लाघवगौरव है। **"अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"** यह उक्ति यहां चरितार्थ होती है।]

[लघु०] विधि सूत्रम्—८८ शि तुक् ।८।३।३१॥

पदान्तस्य नस्य शे परे तुग्वा। सञ्छम्भुः, सञ्च्छम्भुः, सञ्च्शम्भुः, सञ्शम्भुः।

---

* 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' इस परिभाषा से सकार का अवयव धुँट् होगा।
† इत्संज्ञायोग्यत्वम् अनुबन्धत्वम्।

अर्थः—शकार परे होने पर पदान्त नकार को विकल्प कर के तुक् का आगम* होता है।

व्याख्या—शि ।७।१। न ।६।१। ['नश्च' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] वा इत्यव्ययपदम्। ['ङ्णोः कुक्टुक् शरि' से] तुक् ।१।१। 'न' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि होती है। अर्थः—(शि) शकार परे होने पर (न) नान्त (पदस्य) पद का अवयव (वा) विकल्प करके (तुक्) तुक् हो जाता है। 'तुक्' कित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार नान्त पद का अन्तावयव होगा।

उदाहरण यथा—'सन् + शम्भुः' [शम्भु भगवान् सत्स्वरूप हैं।] यहां शकार परे है, अतः 'सन्' इस नान्त पद का तुक् का आगम हो ककार की इत्सञ्ज्ञा लोप [उकार उच्चारणार्थ है।] तथा 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से त् का च् और न् को ञ् हो कर 'सञ्च् शम्भुः' हुआ। अब 'शश्छोऽटि' (७६) से विकल्प कर के शकार को छकार हो—'सञ्च् छम्भुः' हुआ। पुनः 'झरो झरि सवर्णे' (७३) से चकार का विकल्प करके लोप किया तो—१ सञ्छम्भुः। जहां चकार का लोप न हुआ वहां—२ सञ्च्छम्भुः। जहां छत्व न हुआ वहां—३ सञ्च्शम्भुः। जहां तुक् ही न हुआ वहां श्चुत्व हो—४ सञ्शम्भुः। इस प्रकार चार रूप सिद्ध हुए। इन रूपों के विषय में निम्नलिखित एक श्लोक प्रसिद्ध है—

"अछौ अचछा अचशा अशाविति चतुष्टयम्।
रूपाणामिह तुक्छत्वचलोपानां विकल्पनात्॥"

नोट—विद्यार्थी प्रायः इस रूप की सिद्धि में भूलें कर जाया करते हैं। अतः इस रूप पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये— सब से प्रथम एक ही रूप को पकड़ें, जितने विकल्प होते हैं उन सब को छोड़ दें। अर्थात् प्रथम एक ही रूप में तुक्, छत्व तथा चकारलोप कर के उसे सम्पूर्ण सिद्ध कर देना चाहिये इस के बाद अन्तिम विकल्प से वैकल्पिक रूपों को पकड़ना आरम्भ करना चाहिये अन्तिम विकल्प चकार लोप है, अतः जहां चकारलोप नहीं हुआ उस रूप को सिद्ध करना चाहिये। इस के बाद छत्व के विकल्प को पकड़ उसे सिद्ध करना चाहिये। तदनन्तर तुक् का विकल्प सिद्ध करना चाहिये। इस प्रकार करने से आप के रूपों में कोई अशुद्धि नहीं आएगी। याद रखें कि शुद्ध सिद्धि के रूपों का वही क्रम होता है जो ऊपर श्लोक में दिया गया है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

---

* जो किसी के अवयव होते हैं वे 'आगम' और जो किसी के स्थान पर होते हैं वे आदेश कहाते हैं। आगम मित्रवत् और आदेश शत्रुवत् होते हैं।

१ बाला-छास्ति । २ विद्वाञ्छाभते । ३ पुत्राञ्छाययति । ४ नमञ शाखा । ५ श्वसञ्छेते । ६ भजञ्छिश्रम् । ७ बुद्धिमाञ्छृणोति । ८ धनवान् शूद्र । ९ पठञ्छोचति । १० आगच्छञ्छौनकादय । ११ पुमाञ्छ्रूयते । १२ मतिमाञ श्लाघते । इत्यादि । प्रत्येक के चार २ रूप जानने चाहिये ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—८६ ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ।८।३।३२॥

ह्रस्वात् परो यो ङम् तदन्त यत्पद तस्मात्परस्याचो नित्य ङमुट ।
प्रत्यङ्ङात्मा । सुगण्णीश सन्नच्युत ।

अर्थ—ह्रस्व स परे जो ङम् वह ह अन्त में जिस के ऐसा जो पद उस स परे अच् को नित्य ङमुट् का आगम होता है ।

व्याख्या—ङम ।५।१। ह्रस्वात् ।५।१। अचि ।७।१। ङमुट् ।१।१। नित्यम् इति क्रियाविशेषण द्वितीयैकवचनान्तम् । यहा पीछ से अधिकृत 'पदात्' पद आ रहा है । 'ङम' यह पद 'पदात्' का विशेषण है, अत 'ङम' स तदन्त विधि होगी । "उभयनिर्देशे पञ्चमी-निर्देशो बलीयान्" इस परिभाषा के द्वारा ङमुट् 'अचि' का ही अवयव समझा जायगा * । अर्थ—(ह्रस्वात्) ह्रस्व से परे (ङम) जो ङम् तदन्त (पदात्) पद से परे (अच) अच् का अवयव (नित्यम्) नित्य (ङमुट) ङमुट हो जाता है ।

'ङमुट्' में ङम् प्रत्याहार है । उकार उच्चारणार्थ तथा ट 'हलन्त्यम्' (१) स इत्सञ्ज्ञक है । ङम् प्रत्याहार को टित् करने का कोई प्रयोजन नहीं अत सञ्ज्ञियों अर्थात् ङ, ण, न्, के साथ टत्त्व का सम्बन्ध हो कर— ङुट्, णुट नुट्' ये तीन आगम होंगे । यथासङ्ख्यमनुदेश समानाम्' (२३) के अनुसार ङान्त पद से परे अच् को ङुट, णान्त पद से परे अच् को णुट तथा नान्त पद से परे अच् को नुट का आगम होगा । उदाहरण यथा—

'प्रत्यङ् + आत्मा' (जीवात्मा) । यहा यकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से परे ङ्=ङम् है, अत प्रत्यङ' ङान्त पद हुआ । इस स पर आकार को ङुट आगम हो, उट् के चले जाने पर प्रत्यङ्ङात्मा' सिद्ध हो जाता है ।

'सुगण्+ईश (सुगणाम्=सुयोग्य गणितज्ञानाम् ईश=स्वामी षष्ठी तत्पुरुष समास) यहा गकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से परे ण=ङम् है अत 'सुगण णान्त पद हुआ । इस से परे ईकार को णुट् आगम हो उट के चले जाने पर विभक्ति आने स सुगण्णीश' सिद्ध हो जाता है ।

---

* इस की स्पष्टता ङ सि धुट्' (८४) में देखें ।

'सन्+अच्युत' (अच्युत भगवान् सत्स्वरूप है) यहां सकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से परे न्=ङम् है अतः 'सन्' यह नान्त पद हुआ। इस से परे अकार को ङुट् आगम हो उट् के चले जाने से 'सन्नच्युत' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

नोट—इस सूत्र में स्थित 'नित्यम्' पद का अर्थ 'प्रायः' है, अर्थात् यथा "देवदत्त नित्य हसता ही रहता है विष्णुमित्र नित्य खाता ही रहता है" इत्यादि वाक्यों में 'नित्य' शब्द का 'प्रायः' (बहुधा) अर्थ है इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये। अतः "इको यण् अचि, सुप्तिङ् अन्तं पदम्, सन् आद्यन्ता धातवः" इत्यादि सूत्रों में ङमुट् न होने पर भी कोई दोष नहीं आता। "सन्नन्तान्न सनिष्यते" यहां पर दोनों प्रकार के उदाहरण हैं।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ कुर्वन्नास्ते। २ विङ्ङतिट। ३ तस्मिन्निति। ४ एकस्मिन्नहनि। ५ गच्छन्नवोचत्। ६ जानन्नपि। ७ भगवन्नत्र। ८ तस्मिन्नपि। ९ हसन्नागच्छति। १० पठन्नपतत्।

'ह्रस्व' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—भवान्+अत्र=भवानत्र' इत्यादि प्रयोगों में ङमुट् न हो।

अभ्यास (२०)

(१) जहां सप्तमी और पञ्चमी दोनों विभक्तियों द्वारा निर्देश हो वहां 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' तथा 'तस्मादित्युत्तरस्य' इन दोनों परिभाषाओं में किस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है? सप्रमाण सोदाहरण स्पष्ट करें।

(२) 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र की व्याख्या करते हुए उस की आवश्यकता पर सोदाहरण प्रकाश डालें।

(३) "षट्त्सन्त, षट्सन्त' आदि प्रयोगों में 'चयोद्वितीया—' वार्त्तिक द्वारा वर्गद्वितीय आदेश क्यों नहीं होता?।

(४) 'प्राङ् ख् षष्ठ' इत्यादि वर्गद्वितीयघटित प्रयोगों में 'खरि च' सूत्र द्वारा चर्त्व क्यों नहीं होता?।

(५) 'ङ सि धुँट्' सूत्र को स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये 'ङ स धुँट्' क्यों नहीं कर दिया?।

(६) क्या उपाय किया जाय जिस से सिद्धि करते समय 'सञ्छम्भुः' आदि रूपों का ग्रन्थोक्तप्रकार से शुद्ध क्रम सिद्ध हो जाय?।

(७) 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' सूत्र द्वारा ङमुट् आगम की नित्यता दर्शाने वाले श्रीपाणिनि जी किस कारण स्वयं 'सन् आद्यन्ता धातवः, इको यण् अचि" आदि सूत्रों में ङमुट् आगम नहीं करते? यथाधीत स्पष्ट करें।

—०॥०—

[लघु०] विधि—सूत्रम्— ९० समः सुटि ।८।३।५॥

समो रुँ स्यात् सुटि ।

अर्थ—सुट् परे होने पर सम् के मकार को रुँ आदेश हो ।

व्याख्या—समः ।६।१। सुटि ।७।१। रुँ ।१।१। [मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' से] अर्थ—(सुटि) सुट् परे हो तो (समः) सम् के स्थान पर (रुँ) रुँ आदेश हो जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा के अनुसार सम् के अन्त्य अल्=मकार का ही रुँ आदेश होगा।

सम्+स्कर्ता' [यहाँ सम्' पूर्वक डुकृञ् करणे' (तना०) धातु से तृच् प्रत्यय हो सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' सूत्र से कृ को सुँट् का आगम हो कर उँट् का लोप हो जाता है।] यहाँ सुँट् परे रहने से मकार को रुँ आदेश हो, अनुनासिक उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्संज्ञा कर तस्य लोपः (५) से लोप किया तो 'सर् स्कर्ता' हुआ। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—९१ अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ।८।३।२॥

अत्र रुँ-प्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा स्यात् ।

अर्थ—इस रुँ प्रकरण में रुँ से पूर्व वर्ण को विकल्प कर के अनुनासिक हो जाता है।

व्याख्या—अत्र इत्यव्ययपदम् । अनुनासिकः ।१।१। पूर्वस्य ।६।१। तु इत्यव्ययपदम् । वा इत्यव्ययपदम् । 'मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' (८।३।१) सूत्र के बाद यह पढ़ा गया है। यहाँ 'अत्र' इसी रुँ प्रकरण के लिये है, अतः ससजुषो रुँः' (१०५) सूत्र से किये गये रुँ वाले स्थानों पर यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। अर्थ—(अत्र) मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' सूत्र से आरम्भ किये गये रुँ प्रकरण में (रोः) रुँ से (पूर्वस्य) पूर्व वर्ण को (वा) विकल्प कर के (अनुनासिकः) अनुनासिक हो जाता है।

'सर् + स्कर्ता' यहाँ रुँ से पूर्व सकारोत्तर अकार को अनुनासिक हो—'सँर् + स्कर्ता' हुआ। जिस पक्ष में अनुनासिक नहीं होता वहाँ अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—९२ अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः ।८।३।४॥

अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात् परोऽनुस्वारागमः स्यात् ।

अर्थ—जहाँ अनुनासिक होता है उस रूप को छोड़ अन्य पक्ष वाले रूप में रुँ से पूर्व जो वर्ण उस से परे अनुस्वार का आगम होता है।

व्याख्या—अनुनासिकात् ।५।१। रो ।५।१। ['मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' से विभक्ति विपरिणाम द्वारा] पूर्वात् ।५।१। ['अत्रानुनासिक पूर्वस्य तु वा' से विभक्ति विपरिणाम द्वारा] पर ।१।१। अनुस्वार ।१।१। 'अनुनासिकात्' यहा ल्यब्लोप म पञ्चमी विभक्ति हुई है यथा—प्रासादात् प्रेक्षते । अत यहा 'विहाय' इस ल्यबन्त का लोप समझना चाहिये । 'अनुनासिकं विहाय' ऐसा इस का तात्पर्य होगा । 'अनुनासिक' शब्द म मत्वर्थीय अच प्रत्यय हुआ है । अनुनासिकोऽस्त्यस्मिन्नित्यनुनासिकम् । अनुनासिकवद् रूपम् इत्यर्थ । अर्थ —(अनुनासिकात्) अनुनासिक वाले रूप को छोड कर (रो) रुँ से पूर्व जो वर्ण उस से (पर) परे (अनुस्वार) अनुस्वार का आगम होता है । तात्पर्य यह है कि जिस पक्ष म अनुनासिक नहीं होता उस पक्ष मे इस सूत्र से रुँ से पूर्व अनुस्वार का आगम होता है ।

'सर् + स्कर्ता' यहा अनुनासिकाभाव पक्ष म रुँ से पूर्वं वर्ण=अकार से परे अनुस्वार का आगम हो—संर + स्कर्ता' हुआ । तो अब इस प्रकार—

१ सँर् + स्कर्ता । [अनुनासिक पक्षे]
२ संर् + स्कर्ता । [अनुस्वारागम पक्षे]

ये दो रूप हुए । अब दोनो पक्षो में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—९३ खरवसानयोर्विसर्जनीय ।८।३।१५॥

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः स्यात् ।

अर्थः—खर् और अवसान परे होने पर पदान्त रेफ के स्थान पर विसर्ग हों ।

व्याख्या—खरवसानयो ।७।२। पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] र ।६।१। 'रो रि' से] विसर्जनीय ।१।१। 'र ' यह 'पदस्य' का विशेषण है अत 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७१) द्वारा तदन्तविधि हो कर 'रेफान्तस्य पदस्य' ऐसा बन जायगा । समास —खर च अवसानञ्च=खरवसाने, तयो =खरवसानयो । इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ —(खरवसानयो) खर और अवसान परे होने पर (र) रेफान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (विसर्जनीय) विसर्ग आदेश होते हैं । 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा द्वारा पदान्त रेफ का ही विसर्ग होंगे ।

'सँर् + स्कर्ता, संर + स्कर्ता" यहा सकार खर परे है अत पदान्त रेफ को विसर्ग आदेश हो कर—"सँः + स्कर्ता, संः + स्कर्ता" हुआ । अब यहा विसर्जनीयस्य स ' (९३) के अपवाद 'वा शरि' (१०४) सूत्र की प्राप्ति होती है, इस पर नित्यसकार-विधानार्थ अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—१५ सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः ॥

सँस्स्कर्ता, सस्स्कर्ता ।

अर्थ—सम् पुम् तथा कान् शब्दों के विसर्गों को सकार आदेश होता है ।

व्याख्या—सम्पुङ्कानाम् ।६।३। विसर्गस्य* ।६।१। स ।१।१। वक्तव्य ।१।१। समास सम् च पुम् च कान् च=सम्पुङ्कान तेषाम्=सम्पुङ्कानाम् । इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ –(सम्पुङ्कानाम्) सम् पुम् और कान शब्दों के (विसर्गस्य) विसर्ग के स्थान पर (स) स आदेश (वक्तव्य) कहना चाहिये ।

"सँ +स्कर्ता, स + स्कर्ता यहां सम् के विसर्ग हैं अत विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश हो कर—"१ सँस्स्कर्ता २ सस्स्कर्ता" ये दो रूप सिद्ध होते हैं । सिद्धान्त कौमुदी' में इस के १०८ रूप बनाये गये हैं, विशेष जिज्ञासु वहीं देखें ।

[लघु०] वि-सूत्रम्—६४ पुमः खय्यम्परे ।८।३।६॥

अम्परे खयि पुमो रुँ स्यात् । पुँस्कोकिल, पुंस्कोकिलः ।

अर्थ—अम् प्रत्याहार जिस से परे है ऐसा खय् यदि परे हो तो पुम्‡ शब्द के मकार को रुँ आदेश होता है ।

व्याख्या—पुम ।६।१। रुँ ।१।१। ['मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' सूत्र से] खयि ।७।१। अम्परे ।७।१। समास —अम् परो यस्मात् असौ=अम्परस्तस्मिन्=अम्परे । बहुव्रीहि समास । अर्थ —(अम्परे) अम् है परे जिस से ऐसे (खयि) खय प्रत्याहार के परे होने पर (पुम) पुम् शब्द के स्थान पर (रुँ) रुँ आदेश हो जाता है । 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) से पुम् के मकार को ही रुँ आदेश होगा । उदाहरण यथा—

'पुम् + कोकिल' (पुमांश्चासौ कोकिलश्चेति विग्रह , कर्मधारयसमासे विभक्तिलोपे 'संयोगान्तस्य लोप ' इति पुंस सकारलोप ।) यहां पुम् से परे ककार खय् विद्यमान है, इस से परे ओकार अम् मौजूद है अत पुम् के मकार को रुँ आदेश हो कर पूर्ववत् अनुना

---

* महाभाष्य में 'सम्पुङ्कानां सत्वम् इस प्रकार वार्तिक कह कर फिर कहा गया है कि 'रुँविधौ हि सत्यनिष्ट प्रसज्येत' अर्थात् जब रुँविधि हो चुकने पर अनिष्ट प्रसङ्ग हो तब सम्, पुम्, तथा कान् को सकार करना चाहिये । तो इस प्रकार विसर्ग के स्थान पर प्राप्त वैकल्पिक सकार रूप अनिष्ट का यहां निवारण किया गया है अत विसर्गस्य पद प्राप्त हो जाता है ।

‡ समासावस्था में जब 'पुंस्' शब्द के सकार का 'संयोगान्तस्य लोप (२०) से लोप हो जाता है तो 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय ' के अनुसार अनुस्वार को मकार होकर 'पुम्' हो जाता है । उसी का यहां ग्रहण है 'पुम्' कोई नया शब्द नहीं ।

सिकादेश, अनुस्वारागम विसर्ग तथा 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्य' (वा० १४) से सकार करने पर विभक्ति लाने से "पुँस्कोकिल, पुंस्कोकिल" ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

अम्परक खय् इस लिये कहा है कि 'पुंक्षीरम्' आदि में रुँ आदेश न हो। [यहां सकार का संयोगान्त लोप हो कर मोऽनुस्वारः से मकार को अनुस्वार हो जाता है।]

नोट—"पुँस्कोकिल, पुंस्कोकिल" यहां खरवसानयोः—(९३) सूत्र से रेफ को विसर्ग करने पर 'कुप्वोः ≍क≍पौ च' (९८) सूत्र द्वारा जिह्वामूलीय प्राप्त होते थे, पुनः उस के अपवाद 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' (वा० १४) वार्त्तिक से सकार आदेश हो जाता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—९५ नश्छव्यप्रशान् ।८।३।७॥

अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुँ स्यात्, न तु प्रशान्शब्दस्य।

अर्थः—जिस से परे अम् प्रत्याहार है ऐसे छव् प्रत्याहार के परे होने पर नकारान्त पद को रुँ आदेश हो परन्तु प्रशान् शब्द को न हो।

व्याख्या—नः ।१।१। पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] रुँ ।१।१। ['मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' से] अम्परे ।७।१। ['पुमः खय्यम्परे' से] छवि ।७।१। अप्रशान् ।१।१। [षष्ठ्यर्थे प्रथमा] समास—अम् परो यस्माद् असौ=अम्परः, तस्मिन्=अम्परे। बहुव्रीहिसमास। न प्रशान्=अप्रशान् नञ्तत्पुरुष। नः' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७१) द्वारा इस से तदन्त विधि हो कर 'नान्तस्य पदस्य' बन जाता है। अर्थ—(अम्परे) अम् परे वाला (छवि) छव् परे होने पर (नः) नकारान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (रुँ) रुँ आदेश होता है परन्तु (अप्रशान्) प्रशान् शब्द को नहीं होता। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा द्वारा अन्त्य नकार को ही रुँ आदेश होगा। उदाहरण यथा—

'चक्रिन्+त्रायस्व [हे चक्रिन्! त्वं त्रायस्व] यहां 'चक्रिन्' यह नान्त पद है। इस से परे तकार छव् है, तथा इस छव् से परे रेफ अम् विद्यमान है अतः नकार को रुँ आदेश हो पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम तथा खरवसानयोर्विसर्जनीयः (९३) से विसर्ग करने पर—"चक्रिँः+त्रायस्व, चक्रिंः+त्रायस्व" ये दो रूप हुए। अब विसर्ग को सकारादेश करने वाला अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—९६ विसर्जनीयस्य सः ।८।३।३४॥

खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात्। चक्रिँस्त्रायस्व। चक्रिंस्त्रायस्व। अप्रशान् किम्? प्रशान् तनोति। पदान्तस्येति किम्? हन्ति।

अर्थ—खर् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश हो।

व्याख्या—खरि ।७।१। ['खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से 'खरि' आता है] विसर्जनीयस्य ।६।१। सः ।१।१। अर्थ—(खरि) खर् परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्गों के स्थान पर (सः) स् आदेश होता है। उदाहरण यथा—

"चक्रिँ +त्रायस्व, चक्रिं+त्रायस्व" यहां तकार=खर परे है, अतः विसर्गों को स आदेश हो— चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्व' ये दो रूप सिद्ध हुए।

'अप्रशान् किम्? प्रशान् तनोति"

नश्छव्यप्रशान्' (९४) सूत्र में प्रशान्' शब्द को रुँ करने का निषेध इस लिये किया है कि प्रशान्+तनोति' यहां अम्परक (अकार परक) छव् (तकार) के परे होने पर भी पदान्त नकार को रुँ आदेश न हो।

"पदान्तस्येति किम्? हन्ति"

पदस्य' का अधिकार होने से 'हन्ति' आदि स्थानों में अपदान्त नकार को अम्परक छव परे होने पर भी रुँ आदेश नहीं होता।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—९७ नॄन् पे ।८।३।१०॥

'नॄन्' इत्यस्य रुर्वा पे।

अर्थ—पकार परे होने पर नॄन् शब्द के नकार को विकल्प कर के रुँ आदेश हो।

व्याख्या—नॄन् ।६।१। ['नॄन्' यह द्वितीया विभक्ति के बहुवचन का अनुकरण है। इस के आगे षष्ठी-विभक्ति के एकवचन का लुक् हुआ २ है।] रुँ ।१।१। ['मतुवसो रुँ—' सूत्र से] पे ।७।१। [यहां पकारोत्तर अकार उच्चारण के लिये है अतः 'पुनाति' आदि परे होने पर भी यह सूत्र प्रवृत्त हो जाता है।] उभयथा इत्यव्ययपदम्। ['उभयथर्क्षु' सूत्र से] अर्थ—(पे) पकार परे होने पर (नॄन्) नॄन् शब्द के स्थान पर (उभयथा) विकल्प कर के (रुँ) रुँ आदेश हो जाता है।

'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा द्वारा 'नॄन्' के अन्त्य नकार को ही 'रुँ' आदेश होगा। उदाहरण यथा—

'नॄन्+पाहि' [हे राजन्! त्वं नॄन्=नरान् पाहि=पालय] यहां पकार परे होने से 'नॄन्' के अन्त्य नकार को रुँ आदेश हो पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम तथा रेफ को विसर्ग करने पर "नॄँः+पाहि, नॄंः +पाहि" ये दो रूप हुए। अब 'विसर्जनीयस्य सः' (९६) के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—९८ कुप्वोः ≍क≍पौ च ।८।३।३७॥

कवर्गे पवर्गे च परे विसर्गस्य ≍क≍पौ स्तः । चाद् विसर्गः ।

नॄँ≍पाहि, नॄँः पाहि, नॄ≍पाहि, नॄः पाहि, नॄन्पाहि ।

अर्थ—कवर्ग पवर्ग परे होने पर विसर्गों को क्रमशः जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय होते हैं । सूत्र में चकार ग्रहण से पक्ष में विसर्ग भी रहते हैं । [ध्यान रहे कि यदि सूत्र में 'वा' कहते तो पक्ष में (९६) सूत्र से विसर्गों को स हो जाता जो अत्यन्त अनिष्ट था ।]

व्याख्या—कुप्वोः ।७।२। विसर्जनीयस्य ।६।१। [विसर्जनीयस्य सः' से] ≍क≍पौ ।१।२। च इत्यव्ययपदम् । समास—≍कश्च ≍पश्च=≍क≍पौ इतरेतरद्वन्द्वः । यहां ककार पकार ग्रहण इस लिये किया गया है कि जिह्वामूलीय और उपध्मानीय सदा क्रमशः कवर्ग पवर्ग के ही आश्रित रहते हैं । कुश्च पुश्च=कुपू, तयोः=कुप्वोः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थ—(कुप्वोः) कवर्ग पवर्ग परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्गों के स्थान पर क्रमशः (≍क≍पौ) जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय हो जाते हैं । (च) किञ्च पक्ष में विसर्ग भी बने रहते हैं * ।

सम्पूर्ण कवर्ग पवर्ग में विसर्ग प्राप्त नहीं हो सकते । विसर्ग केवल 'क, ख, प, फ' इन चार वर्णों के परे होने पर ही मिल सकते हैं । क्योंकि विसर्ग विधान करने वाला 'खरवसानयोः—' (९३) यही एक सूत्र है । यह सूत्र खर् परे होने पर ही विसर्ग आदेश करता है । खर प्रत्याहार में कवर्ग पवर्ग का इन चार वर्णों के सिवाय अन्य कोई वर्ण नहीं आता । अतः यह सूत्र 'क, ख, प, फ' पर होने पर विसर्गों को जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय करता है ।

'नॄँ+पाहि नॄ+पाहि' यहां पकार परे होने से विसर्गों को उपध्मानीय हो—नॄँ≍पाहि नॄ≍पाहि। विसर्गपक्ष में—नॄँः पाहि, नॄः पाहि । जहां 'नॄन्पे' (९७) सूत्र से रुँ आदेश नहीं होता उस पक्ष में—नॄन्पाहि । इस प्रकार कुल पाञ्च रूप सिद्ध होते हैं । एवम्—नॄँ≍पश्य' इत्यादि ।

नोट—विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय आदि का पाठ अट तथा शल् प्रत्याहार में स्वीकार किया जाता है। अतः इन के यर प्रत्याहारान्तर्गत होने के कारण 'अनचि च' (१८) सूत्र की भी प्रवृत्ति हो जाया करती है। इस से—"नॄँ≍≍पाहि, नॄँ≍ पाहि" इत्यादि प्रकार के द्वित्व वाले रूप भी बना करते हैं ।

---

* चकार ग्रहण से 'शर्परे विसर्जनीयः' (८।३।३५) सूत्र से विसर्जनीय 'पद' की अनुवृत्ति आ जाती है । "अतः चन्तव्य" यहां पर 'शर्परे विसर्जनीयः' (८।३।३५) से जिह्वामूलीय सर्वथा निषिद्ध होगा ।

टिप्पणी—अत्र 'कुप्वोः ≍क ≍पौ च' इत्येवमुपलभ्यमानो विसर्जनीयविकल्पः क्वाचित्कः पाठस्तु 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' इति वार्त्तिकेन समाधेयः ।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—९९ तस्य परमाम्रेडितम् ।८।१।२॥

द्विरुक्तस्य परम् आम्रेडितं स्यात् ।

अर्थः—दो बार कहे गये का परला रूप 'आम्रेडित' सञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या—तस्य ।६।१। परम् ।१।१। आम्रेडितम् ।१।१। इस सूत्र से पूर्व 'सर्वस्य द्वे' इस प्रकार द्वित्व का अधिकार किया गया है अतः यहां 'तस्य' पद से 'द्विरुक्तस्य' का ग्रहण हो जाता है । अर्थः—(तस्य) उस दो बार पढ़े गए का (परम्) परला रूप (आम्रेडितम्) आम्रेडित सञ्ज्ञक होता है । यथा 'किम्' शब्द के द्वितीयाविभक्ति के बहुवचन 'कान्' पद को 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) सूत्र से द्वित्व किया तो 'कान् कान्' बना । यहां दूसरा 'कान्' शब्द आम्रेडित-सञ्ज्ञक है ।

अब आम्रेडित सञ्ज्ञा का इस रुँ प्रकरण में उपयोग दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०० कानाम्रेडिते ।८।३।१२॥

कान्नकारस्य रुँ स्यादाम्रेडिते । काँस्कान् । कांस्कान् ।

अर्थः—आम्रेडित परे होने पर कान् शब्द के नकार को रुँ आदेश हो ।

व्याख्या—कान् ।६।१। [यहां 'किम्' शब्द के द्वितीया के बहुवचन कान् शब्द का अनुकरण किया गया है । इस से परे षष्ठ्येकवचन का लुक् हुआ २ है ।] आम्रेडिते ।७।१। रुँ ।१।१। ['मतुवसो रुँ—' से] अर्थः—(आम्रेडिते) आम्रेडित परे होने पर (कान्) कान् शब्द को रुँ आदेश हो । 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा से कान् के अन्त्य अल् नकार को ही रुँ आदेश होगा । उदाहरण यथा—

'कान्+कान्' यहां दूसरा कान् शब्द आम्रेडित परे है, अतः प्रथम कान् शब्द के नकार को रुँ आदेश हो कर पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम, विसर्ग तथा 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' (वा०—१५) से विसर्ग को सकार आदेश करने पर 'काँस्कान्, कांस्कान्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

नोट—ध्यान रहे कि 'तांस्तान्' में 'नश्छव्यप्रशान्' (९५) सूत्र प्रवृत्त होता है ।

अभ्यास (२१)

(१) रुँ से पूर्व होने वाले अनुस्वार और अनुनासिक में से कौन सा आगम है ? और दूसरा क्यों नहीं ?

(२) 'पुमाँश्छला' यहां 'पुमः खय्यम्परे' सूत्र से रुत्व (?) हो कर कैसे सिद्धि होगी ।

(३) 'कुप्वोः ≍क≍पौ च' तथा 'कुप्वोः ≍क≍पौ च' इन दो प्रकार के सूत्रपाठों में कौन सा पाठ शुद्ध और कौन सा अशुद्ध है ? कहीं दोनों ही तो अशुद्ध नहीं ? ।

(४) 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' वार्त्तिक का क्या अर्थ है ? और यह अर्थ कैसे निष्पन्न होता है ? ।

(५) सूत्र समन्वय पूर्वक निम्नलिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद करो—

१ विद्वांश्च्यवन २ नॄ≍ पाठयति । ३ पुँस्खञ्ज । ४ कस्मिँश्चित् । ५ पुंश्छिद्राणि । ६ पुँस्प्रवृत्ति । ७ सँस्कृतम् । ८ महांस्तुन्दिल । ९ पुंस्पुत्र । १० पुँष्टिट्टिभ । ११ सूय≍≍ खेचर चक्रवर्त्ती । १२ भवाँश्छिनत्ति । १३ पुंस्क्रोध । १४ नॄँ≍≍ पालयस्व । १५ सस्स्करोति । १६ काँस्कान् । १७ पुंश्चली । १८ भास्वांश्चरति । १९ पुंस्त्वम् । २० बुद्धिमाँश्छाग ।

(६) सूत्र समन्वय करते हुए अधोलिखित प्रयोगों में सन्धि करो—

१ पुम्+प्लीहा । २ पुम्+चर्चा । ३ सम्+स्करोति । ४ रूपवान्+ठक्कुर * । ५ पुम्+फेर । ६ नॄन्+पिपर्त्ति । ७ महान्+तिरस्कार । ८ कान्+कान् । ९ तान्+तान् । १० पुम्+चरित्र । ११ राम +प्रजा +पालयामास । १२ तस्मिन्+चित । १३ बाल +थूत्करोति ।१४ पुम् + चेष्टा । १५ चञ्चुमान्+टिट्टिभ । १६ प्रशान्+चरति । १७ नॄन् + प्रति । १८ पुम् + टिप्पणी । १९ पुम् + खर । २० थ + क्षत्रिय ।

(७) "शच्छन् + ति, हन्+ति भवन् + ति" इत्यादि स्थानों पर किस से रुँत्व की सम्भावना होती है ? और वह क्यों नहीं होता ?

यह रुँ—प्रकरण यहीं समाप्त होता है ।

—०ॐ०—

[लघु०] विधि सूत्रम्— १०१ छे च ।६।१।७१॥

ह्रस्वस्य छे तुक् । शिवच्छाया ।

अर्थः—छकार परे हो तो ह्रस्व का अवयव तुक् हो जाता है ।

व्याख्या—ह्रस्वस्य ।६।१। ['ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से] तुक् ।१।१। छे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । संहितायाम् ।७।१। [यह अधिकृत है] अर्थ —(संहितायाम्) संहिता के विषय में (ह्रस्वस्य) ह्रस्व का अवयव (तुक्) तुक् हो जाता है (छे) यदि छकार परे हो तो। उदाहरण यथा—

* ध्यान रहे कि रुँत्वविधि (८।३।७) की दृष्टि में ष्टुत्वविधि (८।४।४१) असिद्ध है ।

'शिव + छाया' [शिवस्य छायेति विग्रह षष्ठी-तत्पुरुषसमास] यहा वकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से छकार परे है और समास होने स संहिता का विषय भी है अत 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) क अनुसार वकारोत्तर अकार का अन्तावयव तुक हो कर उक के चले जाने पर—'शिवत् + छाया'। अब 'स्तो श्चुना श्चु' (८।४।४०) के असिद्ध होने से 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) द्वारा तकार को दकार हो— शिवद्+छाया'। पुन स्तो श्चुना श्चु (८।४।४०) के प्रति खरि च' (८।४।५५) के असिद्ध होने स प्रथम श्चुत्व अर्थात दकार को जकार पश्चात् चर्त्व अर्थात् जकार को चकार किया तो–'शिवच्छाया'। अब 'सु' विभक्ति आ कर 'हल्ङ्याब्भ्य —'(१७९) से उस का लोप हो—'शिवच्छाया' प्रयोग सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि यहा 'चो कु' (३०६) द्वारा कवर्ग आदेश नहीं होगा, क्योंकि चर्त्व और श्चुत्व दोनों उसकी दृष्टि में असिद्ध हैं।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण अभ्यास में देख।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०२ पदान्ताद्वा ।६।१।७४॥

दीर्घात् पदान्ताच्छे तुग्वा। लक्ष्मीच्छाया। लक्ष्मीछाया।

अर्थ—पदान्त दीर्घ से छकार परे हो तो विकल्प कर के तुक् का आगम होता है।

व्याख्या—दीर्घात् ।५।१। ['दीर्घात् सूत्र से] पदान्तात् । ५ । १ । छे ।७।१। ['छे च' सूत्र से] तुक ।१।१। ['ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से] वा इत्यव्ययपदम्। अर्थ— (दीर्घात्) दीर्घ (पदान्तात्) पदान्त से (छे) छकार परे होने पर (वा) विकल्प करके (तुक) तुक् का आगम होता है।

तुक् किस का अवयव हो? पदान्त दीर्घ का हो या छकार का हो? यह यहा प्रश्न है। **"उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान"** के अनुसार तो छकार का अवयव होना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता, वह दीर्घ का ही अवयव होता है। इस का कारण यह है कि यदि वह छकार का अवयव होता तो कित् होने से छकार के अन्त में होना चाहिये था परन्तु 'विभाषा सेना सुराच्छाया शाला निशानाम्' (२।४।२५) सूत्र में तो छकार के आदि अर्थात् दीर्घ से परे देखा जाता है अत वह दीर्घ का ही अन्तावयव है यह सिद्ध होता है।

उदाहरण यथा—'लक्ष्मी + छाया [लक्ष्म्याश्छायेति विग्रह, षष्ठी तत्पुरुष ।] यहा पदान्त दीर्घ ईकार स छकार परे विद्यमान है अत दीर्घ ईकार को विकल्प कर के तुक का आगम हो कर पूर्ववत् उक् के चले जाने पर जश्त्व=दकार श्चुत्व=जकार तथा चर्त्व=चकार हो कर विभक्ति लाने से—"लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया" ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

स्मरण रहे कि पहला सूत्र पदान्त अपदान्त कुछ नहीं कहता था इस लिये वह दोनों में प्रवृत्त होता था। परन्तु यह सूत्र पदान्त में ही प्रवृत्त होता है वह भी तब जब पदान्त दीर्घ होगा। पदान्त—समस्त, व्यस्त, दोनों अवस्थाओं में हो सकता है। ग्रन्थकार ने समस्तावस्था (समास अवस्था) का उदाहरण दिया है। व्यस्तावस्था (समासरहित अवस्था) के उदाहरण—'कुलटाच्छिन्ननासिका' आदि अभ्यास में दिये गये हैं जान लें।

नोट—यदि आङ् और माङ् इन दोनों से परे छकार होगा तो दीर्घ पदान्त होते हुए भी तुक् का आगम नित्य होगा, तब 'पदान्ताद्वा' (१०२) सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। इन के लिये नित्य तुक् विधानार्थ 'आङ्माङोश्च' (६।१।७२) यह नया सूत्र बनाया गया है, इसे 'सिद्धान्तकौमुदी' में देखें।

सूचना— 'मूर्च्छना, मूर्च्छा' आदि में तुक् नहीं समझना चाहिये, किन्तु 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) से वैकल्पिक द्वित्व तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व होगा। किञ्च 'वाञ्छति' आदि में चकार जोड़ना अशुद्ध है, क्योंकि तुक् प्राप्त नहीं।

अभ्यास (२२)

(१) निम्नलिखित प्रयोगों की सूत्रसमन्वय करते हुए सन्धिच्छेद करें—

१ इच्छति। २ म्लेच्छकुलेन। ३ कुटीच्छन्ना। ४ दन्तच्छद्। ५ असिच्छिन्न। ६ मङ्गलच्छाय। ७ रुद्राच्छिक्का। ८ स्वच्छास्त्र। ९ त्रैविक्च्छन्दांसि। १० नवच्छिद्राणि। ११ गच्छति। १२ नूतनच्छास्त्र। १३ विच्छेद। १४ गूढाच्छेकोक्ति। १५ माच्छिदत्। १६ तीक्ष्णाच्छुरिका। १७ स्वच्छन्द। १८ यज्ञच्छाग। १९ गुच्छच्छेद। २० कुलटाच्छिन्ननासिका।

(२) "गच्छति, इच्छति" आदि में भी तुक् करने के अनन्तर जश्त्व, चर्त्व होंगे या नहीं?।

(३) 'पदान्ताद्वा' सूत्र द्वारा विधान किया गया तुक् किस का अवयव होगा? सप्रमाण लिखें।

यहां तुक् प्रकरण समाप्त होता है।

—०❀०—

[लघु०] इति हल्सन्धिः॥

अर्थः—यह हल् सन्धि समाप्त हुई।

व्याख्या—सन्धि एक प्रकार का वर्णविकार ही है। यदि वह विकार अच् के स्थान पर हो तो 'अच्सन्धि' हल् के स्थान पर हो तो 'हल्सन्धि' कहाता है। इसी प्रकार विसर्ग-सन्धि आदि के विषय में भी जान लेना चाहिये। लोक में प्रायः यह प्रचलित

है और हम भी लोकवाद का अनुसरण करते हुए पीछे यही लिख आए हैं कि 'अच् का अच के साथ मेल=विकृति 'अच्सन्धि' और हल का हल के साथ मेल 'हल्सन्धि' कहाता है"। पर ध्यान देने से यह ठीक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि ऐसा मानने से 'वान्तो यि प्रत्यये' (२४) आदि अच्सन्धि के सूत्रों तथा 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' (८६) आदि हल्सन्धि के सूत्रों में व्यवस्था न बन सकगी। अत यही उचित प्रतीत होता है कि जहा अच् के स्थान पर सन्धि अर्थात संयोगजन्य वर्णविकार करें चाहे उस का निमित्त अच या हल भी हो वहा 'अच्सन्धि' और जहा हल् के स्थान पर सन्धि अर्थात् संयोगजन्य वर्णविकार करें चाहे उस का निमित्त अच् या हल जो भी हो वहा 'हल् सन्धि' होती है। [अचा स्थाने सन्धि = अच्सन्धि हला स्थाने सन्धि = हल्सन्धि] अच्सन्धि में 'झला जश् झशि' (१६) आदि सूत्र प्रकरण-वश लिखे गये हैं। इसी प्रकार हल्सन्धि में 'विसर्जनीयस्य स' (६६), 'कुप्वो ≍क ≍पौ च' (६८) प्रभृति विसर्गसन्धि के सूत्र भी प्रकरण-वश लिखे गये समझने चाहियें।

इति भैमी-व्याख्ययोपबृंहितायां
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्यां
हल्सन्धिप्रकरणं
समाप्तम् ॥

❀ अथ विसर्ग-सन्धि-प्रकरणम् ❀

अब विसर्ग सन्धि का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। इस विषय पर सन्धि प्रकरण के अन्त में प्रकाश डालेंगे।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०३ विसर्जनीयस्य सः ।८।३।३४॥

खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात् । विष्णुस्त्राता ।

अर्थः—खर् परे होने पर विसर्जनीय के स्थान पर सकार आदेश हो।

व्याख्या—खरि ।७।१। ['खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से 'खरि' अंश] विसर्जनीयस्य ।६।१। सः ।१।१। सकारादकार उच्चारणार्थः । अर्थः—(खरि) खर् परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्जनीय के स्थान पर (सः) सकार आदेश हो जाता है।

उदाहरण यथा—विष्णुः+त्राता = विष्णुस्त्राता । [भगवान् विष्णु रक्षक है]।

यह सूत्र हल्सन्धि में प्रसङ्गवश लिखा गया था वस्तुतः यह विसर्ग-सन्धि का ही है।

ध्यान रहे कि 'सु' (सुँ) प्रत्यय के विसर्ग बनते हैं और विसर्ग को खर् परे होने पर पुनः 'स्' आदेश हो जाता है यह सब 'ससजुषो रुः' (१०५) सूत्र पर स्पष्ट करेंगे।

१ **प्रश्न**—'विष्णुस्त्राता' यहां विसर्ग को सकार आदेश कर देने पर 'ससजुषो रुः' (१०५) से पुनः 'रुँ' आदेश क्यों नहीं हो जाता ?।

उत्तर—रुँत्व विधि (८।२।६६) के प्रति सकारादेश (८।३।३४) असिद्ध है अतः पुनः रुँत्व आदेश नहीं होता।

२ **प्रश्न**—यदि विसर्जनीय और विसर्ग पर्याय अर्थात् एकार्थ-वाची शब्द हैं तो 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र की बजाय 'विसर्गस्य सः' सूत्र ही क्यों न करदें ? इस से कई मात्राओं का लाघव भी हो जाता है। जैसा कहा भी है—"अर्धमात्रा-लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"

उत्तर—"पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते" [प०] अर्थात् एकार्थवाची शब्दों में गौरव लाघव नहीं माना जाता, जैसे कि—'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' (९१७) यहां 'शरदादिभ्यः' कहा जा सकता था इसी प्रकार 'अन्यतरस्याम्' 'विभाषा' आदि में 'वा' कहा जा सकता था। अब यहां 'विसर्गस्य सः' कर देने से भी कुछ लाघव नहीं हो सकता।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०४ वा शरि ।८।३।३६॥

शर्परे विसर्गस्य विसर्गो वा स्यात्। हरिः शेते, हरिश्शेते।

अर्थ—शर परे होने पर विसर्ग के स्थान पर विकल्प करके विसर्ग होते हैं।

व्याख्या—शरि ।७।१। विसर्जनीयस्य ।६।१। ['विसर्जनीयस्य सः' से] विसर्जनीयः ।१।१। [शर्परे विसर्जनीयः' से] वा इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(शरि) शर् परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (वा) विकल्प से (विसर्जनीयः) विसर्ग आदेश होते हैं।

शर प्रत्याहार खर प्रत्याहार के अन्दर आ जाता है, अतः 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) के प्राप्त होने पर यह उसका अपवाद आरम्भ किया जाता है। शर् परे होने पर विसर्ग—विसर्गरूप में विकल्प से अवस्थित रहते हैं अर्थात् विसर्ग और स दोनों बने रहते हैं। उदाहरण यथा—

१ हरिः शेते, २ हरिस् + शेते=हरिश्शेते [स्तोः श्चुना श्चुः (६२)]। १ रामः षष्ठः २ रामस् + षष्ठः=रामष्षष्ठः [ष्टुना ष्टुः (६४)]। १ सर्पः सरति। २ सर्पस्सरति।

खर् प्रत्याहार में 'क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ, श, ष, स' इतने वर्ण आते हैं। इन में 'श, ष, स' परे होने पर 'वा शरि' (१०४) तथा 'क, ख, प, फ' परे होने पर 'कुप्वोः ≍क≍पौ च' (९८) प्रवृत्त हो जाता है। शेष बचे "च, छ, ट, ठ, त, थ" वर्णों के परे होने पर ही 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) सूत्र प्रवृत्त होता है। 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से स् होने पर भी केवल 'त, थ' परे होने पर ही वह अविकृत=विकाररहित=वैसे का वैसा रहता है, क्योंकि 'च, छ' में उसे 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से 'श्' और 'ट, ठ' में उसे 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ष हो जाता है। ग्रन्थकार ने 'विष्णुस्त्राता' यह उदाहरण 'त्' का दिया है। संस्कृत साहित्य में प्रायः थकारादि शब्द के न मिलने के कारण उन्हों ने थकार परे का उदाहरण नहीं दिया। थकार परे के 'बालस्थूत्करोति' आदि उदाहरण हैं। इन सब की तालिका निम्नलिखित प्रकार से जाननी चाहिये—

ख्	नरः≍खादति, नरः खादति।	कुप्वोः ≍क≍पौ च (९८)।
फ्	वृक्ष≍फलति, वृक्षः फलति।	"
छ्	वृक्षश्छादयति।	विसर्जनीयस्य सः (७३), स्तोः श्चुना श्चुः (६२)।
ठ्	देवष्ठक्कुरः।	" ष्टुना ष्टुः (६४)।
थ्	बालस्थूत्करोति।	"
च्	पुरुषश्चिनोति।	" स्तोः श्चुना श्चुः (६२)।
ट्	बुधष्टीकते।	" ष्टुना ष्टुः (६४)।
त्	रामस्त्राता।	"

क् । बाल ≍करोति बाल करोति । कुप्वो ≍क≍पौ च (६८) ।
प् नृप ≍पाति, नृप पाति । ,,
श् पुरुष शेते, पुरुषश्शेते । वा शरि (१०४), विसर्जनीयस्य स (१०३), स्तोः श्चुना श्चुः (६२)।
ष नृप षड्, नृपष्षड् । ,, ,, ष्टुना ष्टुः (६४)।
स सर्प सरति सर्पस्सरति । ,, ,,

नोट—'कुप्वो ≍क≍पौ च' (६८) सूत्र भी विसर्गसन्धि के प्रकरण का है, हल्सन्धि में प्रसङ्गवश लिखा गया था ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०५ ससजुषो रुँ ।८।२।६६॥

पदान्तस्य सस्य सजुषश्च रुँ स्यात् ।

अर्थ—पद के अन्त वाले सकार तथा सजुष शब्द के षकार के स्थान पर 'रुँ' आदेश होता है ।

व्याख्या—ससजुषो ।६।२। [सूत्र में 'रो रि' द्वारा रेफ का लोप हुआ २ है ।] पदस्य ।६।१। [यह अधिकार पीछे से आ रहा है ।] रुँ ।१।१। समास—सश्च सजूश्च= ससजुषौ तयो=ससजुषो । इतरेतरद्वन्द्वः । 'पदस्य' इस विशेष्य का 'ससजुषो ' यह विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थ—(ससजुषो) सकारान्त और सजुषशब्दान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (रुँ) 'रुँ' आदेश हो जाता है । यहां सम्पूर्ण पद के स्थान पर विहित रुँ' आदेश अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र से अन्त्य अल् अर्थात् सकारान्त पद के सकार को तथा सजुष्शब्दान्त पद के षकार को होगा ।

यह सूत्र विसर्ग की उत्पत्ति में कारण है । पदान्त सकार को जब यह रुँ आदेश कर देता है तो उकार की इत्संज्ञा हो कर 'र' शेष रह जाता है । उस रेफ के स्थान पर अवसान में तथा खर परे होने पर 'खरवसानयोर्विसर्जनीय (६३) से विसर्ग आदेश हो जाते हैं । तदनन्तर विसर्ग के स्थान पर यथायोग्य जिह्वामूलीय आदि आदेश हुआ करते हैं । इन सब का ब्योरा हम पीछे लिख चुके हैं ।

अब 'खर्' से भिन्न अक्षर यदि 'र्' से परे हो तो रेफ के स्थान पर क्या २ आदेश होता है ? इस को बतलाने के लिये यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है ।

'रुँ' में उकार अनुनासिक होने से 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र द्वारा इत् संज्ञक होता है । उकार के इत् करने का फल आगे कहा जाएगा ।

'शिवस् + अर्च्य ' (शिव जी पूजनीय है) यहां इस सूत्र से पदान्त सकार को रुँ,

पुन ऍ के उकार की इत्सञ्ज्ञा तथा लोप हो कर शिवर् + अर्च्य ' हुआ । अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०६ अतो रोरप्लुतादप्लुते ।६।१।११०॥

अप्लुतादत परस्य रो रु स्यादप्लुतेऽति । शिवोऽर्च्य॰।

अर्थः—अप्लुत अत् से परे रुँ को उ आदेश हो जाता है अप्लुत अत् परे हो तो।

व्याख्या—अतः ।५।१। अप्लुतात् ।५।१। रोः ।६।१। उत् ।१।१। [अत उत् सूत्र से] अप्लुते ।७।१। अति ।७।१। [एङः पदान्तादति' से] अर्थ—(अप्लुतात्) अप्लुत (अतः) अत् से परे (रोः) रुँ के स्थान पर (उत्) उत् हो (अप्लुते) अप्लुत (अति) अत् परे हो तो। यहां अत् उत् में तपर करने से ह्रस्व अकार उकार लिये जाते हैं।

शिवर्+अर्च्य ' यहां अप्लुत अत् से परे रुँ के स्थान पर उ' हो—'शिव उ + अर्च्य ' हुआ। पुन 'आद् गुणः' (२७) से अ + उ मिल कर ओ' गुण हुआ तो शिवो+ अर्च्य '। अब एङः पदान्तादति' (४३) से पूर्वरूप करने पर—शिवोऽर्च्य ' प्रयोग सिद्ध होता है।

यद्यपि ससजुषो रुँ (१०५) सूत्र के असिद्ध होने से उत्वविधि (६।१।११०) के प्रति रुत्वविधि (८।२।६६) असिद्ध होनी चाहिये थी तथापि वचनसामर्थ्य से असिद्ध नहीं होती क्योंकि यदि रुत्वविधि को असिद्ध मानें तो सारे व्याकरण में रुँ कहीं नहीं मिल सकेगा, अतः इस व्याकरण में उत्वोपयोगी रुत्व करने वाला यही एक सूत्र है।

ध्यान रहे कि रुँ के स्थान पर उत् नहीं होता; किन्तु उकार की इत् सञ्ज्ञा हो लोप हो जाने पर शेष बचे र के स्थान पर ही उत् होता है। सूत्र में रुँ के कथन का यह तात्पर्य है कि रुँ के र् को ही उत्व हो अन्य र् को न हो। यथा—प्रातर्+अत्र=प्रातरत्र, धातर्+अत्र= धातरत्र, जडि—अजागर्+इह=अजागरिह। इत्यादियों में रुँ के रेफ के न होने से उत्व नहीं होता।

यहां 'अप्लुत' ग्रहण का प्रयोजन बालकों के लिये अनुपयोगी जान नहीं लिखते। इस का 'सिद्धान्त-कौमुदी' में सविस्तार विचार किया गया है वहीं देखें।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ बालोऽत्र। २ सोऽपि। ३ पुरुषोऽधुना। ४ मानुषोऽयम्। ५ शुद्धोऽहम्। ६ ज्ञात्वोऽहम्। ७ हस्तोऽस्य। ८ रामोऽस्मि। ९ नूतनोऽभ्यागत। १० ग्रामोऽभ्यर्णः ११ राज्ञोऽभिषेक। १२ सोऽपवाद। १३ ततोऽन्यथा। १४ समाचारोऽन्तिम। १५ मोऽनुस्वार। १६ ज्येष्ठोऽनुज। १७ शान्तोऽनल। १८ वर्णोऽनुनासिकः १९ सुबोधोऽसि। न्यूनोऽसि।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०७ हशि च ।६।१।११११ ॥

तथा। शिवो वन्द्य ।

अर्थ—हश् परे होने पर अप्लुत अत् से परे रुँ के स्थान पर उत् आदेश होता है।

व्याख्या—अप्लुतात् ।५।१। अत ।५।१। रो ।६।१। ['अतो रोरप्लुतादप्लुते से] उत् ।१।१। ['अत उत' से] हशि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थ—(अप्लुतात्) अप्लुत (अत) अत् से परे (रो) रुँ के स्थान पर (उत्) उत् आदेश होता है। (हशि) हश परे होने पर। उदाहरण यथा—

शिवस् + वन्द्य ' (शिव जी वन्दनीय है) यहां 'ससजुषो रुँ' (१०५) सूत्र से सकार को रुँ हो, उकार की इत्सञ्ज्ञा तथा लोप करने से— शिवर् + व द्य ' बना। अब वकार=हश् परे रहते अप्लुत अत् से परे रेफ को उकार आदेश हो—'शिव उ+व द्य हुआ। पुन 'आद् गुण ' (२७) से गुण एकादेश किया तो 'शिवो वन्द्य ' सिद्ध हुआ।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

ह रामो हसति ।
य बालो याति ।
व शिवो वन्द्य ।
र बालो रौति ।
ल बुधो लिखति ।
ञ बालो ञकारं पश्यति ।
म मूर्खो मुह्यति ।
ङ जनो ङादिशब्दं न विन्दति ।
ण को णोपदेशो धातु ।
न स भक्तो नमतीश्वरम् ।
झ वृक्षो झञ्झया पतित ।
भ सूर्यो भाति ।
घ घोरो घोषिणो नाद ।
ढ शिवो ढक्कां ननाद । [अन्तर्भावितण्यर्थ]
ध पर्वतो धौत ।
ज अगदो ज्वरघ्न ।
ब को बाल ।
ग नरो गच्छति ।
ड काको डिड्ये ।
द नृपो दास्यति ।

'ससजुषो रुँ ' (१०५) सूत्र से किया रुँत्व यहां भी पूर्ववत् वचनसामर्थ्य से असिद्ध नहीं होता।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०८ भो भगो-अघो-अ पूर्वस्य योऽशि । ८।३।१७॥

एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशोऽशि । देवा इह । देवायिह । भोस्, भगोस्, अघोस् इति सान्ता निपाताः । तेषां रोर्यत्वे कृते—

अर्थ—अश् प्रत्याहार परे होने पर भो भगो अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले रुँ के स्थान पर यकार आदेश होता है।

व्याख्या—भोभगोअघोअपूर्वस्य ।६।१। रो ।६।१। ['रो सुपि' से] य ।१।१। अशि ।७।१। समास—भोश्च भगोश्च अघोश्च अश्च = भो भगो अघो अ, इतरेतरद्वन्द्व । सन्धभाव सौत्र, अथवा एतद्दीयानुकृतसकाराणां रुत्वे यत्वे च तल्लोप । भो भगो अघो अ पूर्वे यस्मात् स भो भगो अघो अपूर्वस्तस्य, बहुव्रीहि समास । अर्थ—(भो भगो अघो अपूर्वस्य) भोपूर्वक, भगोपूर्वक, अघोपूर्वक तथा अवर्णपूर्वक (रो) रुँ के स्थान पर (य) य आदेश हो जाता है (अशि) अश् परे हो तो । उदाहरण यथा—

देवास् + इह = देवारुँ + इह (ससजुषो रुँ) = देवार् + इह यहां इह शब्द का आदि इकार=अश परे है अतः अवर्ण पूर्वक रु को य् हो—'देवाय्+इह' बना । अब लोपः शाकल्यस्य (३०) सूत्र से यकार का वैकल्पिक लोप करने से—'देवा इह' तथा 'देवायिह' ये दो रूप सिद्ध होते हैं । ध्यान रहे कि लोप वाले पक्ष में लोप (८।२।१९) के असिद्ध होने से 'आद् गुणः' (६।१।८४) सूत्र द्वारा गुण नहीं होता ।

भोस्, भगोस् तथा अघोस् ये सकारान्त निपात हैं अर्थात् चादिगण में पाठ होने से इन की 'चादयोऽसत्त्वे' (५३) सूत्र द्वारा निपातसञ्ज्ञा है । निपातसञ्ज्ञा होने से 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (३३७) सूत्र से इन की अव्ययसञ्ज्ञा भी हो जाती है । यहां सूत्र में इन के एकदेश [भो, भगो, अघो] का ग्रहण किया गया है । ये सब सम्बोधन [सर्वसाधारण के सम्बोधन में भोस्, भगवान् के सम्बोधन में भगोस् तथा पापी के सम्बोधन में अघोस का प्रायः प्रयोग देखा जाता है ।] में प्रयुक्त होते हैं । उदाहरण यथा—

भोस् + देवा [हे देवताओ !], भगोस्+नमस्ते [हे भगवन् ! आप को नमस्कार हो], अघोस् + याहि [हे पापिन् ! दूर हो] । इन सब स्थानों पर 'ससजुषो रुँ' (१०५) सूत्र से सकार को रुँ आदेश हो, उकार की इत् सञ्ज्ञा और उस का लोप करने पर—"भोर्+देवा, भगोर्+नमस्ते, अघोर्+याहि" रूप बने । अब इस सूत्र से रुँ का य् आदेश करने से—"भोय्+देवा भगोय्+नमस्ते, अघोय्+याहि" इस प्रकार स्थिति हुई । अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१०६ हलि सर्वेषाम् ।८।३।२२॥

भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य यस्य लोपः स्याद्धलि । भो देवाः । भगो नमस्ते । अघो याहि ।

अर्थः—हल परे होने पर भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले यकार का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—भो भगो अघो अ पूर्वस्य ।६।१। [भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' से] यस्य ।६।१। ['व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य' से वचनविपरिणाम कर के] लोपः ।१।१। [लोपः शाकल्यस्य' से] हलि ।७।१। सर्वेषाम् ।६।३। अर्थ —[भोभगोअघोअ पूर्वस्य] भोपूर्वक, भगोपूर्वक, अघोपूर्वक तथा अवर्णपूर्वक (यस्य) यकार का (हलि) हल् परे होने पर (लोपः) लोप हो जाता है (सर्वेषाम्) सब आचार्यों के मत में।

इस सूत्र से यकार का नित्यलोप हो कर "भो देवाः भगो नमस्ते, अघो याहि" ये रूप सिद्ध हो जाते हैं।

ग्रन्थकार ने इस सूत्र के अवर्णपूर्वक यकार के लोप का उदाहरण नहीं दिया। देवा हसन्ति' आदि स्वयम् उदाहरण ढूंढ लेने चाहियें।

अभ्यास (२३)

(१) सूत्रसमन्वय करते हुए सन्धिच्छेद करो—

१ बाला आगच्छन्ति। २ नरो हन्ति। ३ चाण्डालोऽभिजायते। ४ भो देवदत्त! सर्वेऽत्र मूर्खास्सन्ति। ५ अघो याहि। ६ भो (!) परमात्मन्। ७ कदागुरोकस्माद् भवन्त (भवन्त आकस कदा अगु। आप घर से कब गये ?।)। ८ कोऽद्राक्। ९ दुष्टो जिह्म इहासीत। १० त्रैगुण्यविषया वेदा। ११ धीरो न शोचति। १२ मृग एति। १३ छात्रयिच्छति। १४ पण्डिता भाग्यवन्तः। १५ नृपा ददति।

(२) सूत्र निर्देश पूर्वक सन्धि करो—

१ कविस्+करोति। २ हरिस्+तिष्ठति। ३ रविस्+उदेति। ४ लक्ष्मीस्+इच्छति। ५ तन्नस्+आसुव। कुतस्+अत्र। ७ गौस्+गच्छति। ८ अश्वास्+धावन्ति। ९ अपिपर्+अयम्*। १० कृष्णमेघ+तिरस्+दधे। ११ नार्थस्+लृकारोपदेशेन‡। १२ रामस्+अब्रवीत्। १३ भगोस्+परमात्मन्। १४ पुनर्+हसति। १५ हयास्+धावन्ति।

(३) उत्वविधि के प्रति रुत्वविधि सिद्ध है या असिद्ध ? यदि असिद्ध है तो क्यों ?।

(४) 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' इस परिभाषा तथा "पर्याय शब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते' इस वचन का सोदाहरण स्पष्ट विवेचन करें।

—०❀०—

---

* 'पॄ पालनपूरणयोः' (जुहो०) इति धातोर्लङि प्रथमपुरुषैकवचनमिदम्।

* यहां र् को य् हो कर उस का वैकल्पिक लोप होगा।

[लघु०] विधि सूत्रम्—११० रोऽसुपि ।८।२।६९॥

अह्नो रफादेशो न तु सुपि । अहरहः । अहर्गणः ।

अर्थ —अहन् शब्द के अन्त्य नकार के स्थान पर रेफ आदेश होता है । सुप् परे होने पर नहीं होता ।

व्याख्या—अहन् ।६।१। ['अहन्' सूत्र का अनुवर्त्तन होता है । यहां षष्ठी विभक्ति का लुक् समझना चाहिये ।] र ।१।१। रेफादकार उच्चारणार्थः । असुपि ।७।१। अर्थ — (अहन्) अहन् शब्द के स्थान पर (र) र आदेश होता है (असुपि) परन्तु सुप् परे होने पर नहीं होता । अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य नकार को ही रेफ आदेश होगा। उदाहरण यथा—

अहन् + अहन्=अहर् + अहर=अहरहः । ['अहन् सु' इस पद को 'नित्यवीप्सयोः' (८८६) से द्वित्व हो— अहन् सु अहन् सु बना । पुनः 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से दोनों सुप्रत्ययों का लुक् करने से—'अहन् अहन्' । अब यहां 'न लुमताङ्गस्य' (१६१) से प्रत्यय लक्षण के निषेध हो जाने से सु=सुप् के परे होने के कारण नकार को रेफ आदेश हो—अहरहन् दूसरे में भी लुक् होने से असुप् होने के कारण रोऽसुपि सूत्र से नकार को रेफ तथा अवसान में उसे विसर्ग आदेश करने पर— अहरहः' प्रयोग सिद्ध होता है ।]

दूसरा उदाहरण—अहन् + गण = अहर् + गण=अहर्गण । [अह्नां गणः=अहर्गणः, षष्ठीतत्पुरुषसमास । अहन् आम् + गण सु' इस अलौकिकविग्रह में विभक्तियों का लुक् हो—अहन् + गण । अब यहां 'न लुमताङ्गस्य' (१६१) से प्रत्ययलक्षण के निषेध होने से आम् = सुप् के परे न होने के कारण नकार को रेफ आदेश हो—'अहर्गण' । विभक्ति लाने से—'अहर्गणः' प्रयोग सिद्ध होता है ।]

यह सूत्र 'अहन्' (३६३) [पदान्त में अहन् के नकार को रुँ आदेश हो ।] सूत्र का अपवाद है अर्थात् उस सूत्र से रुँ प्राप्त होने पर इस सूत्र से रेफ आदेश विधान किया जाता है । यदि रुँ आदेश होता तो 'अहरहः में 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' (१०६) सूत्र द्वारा तथा 'अहर्गणः' में 'हशि च' (१०७) सूत्र द्वारा उत्व हो कर अनिष्ट रूप बन जाता । अब रेफ आदेश करने से उत्व न होगा । इस कारण 'अहरहरत्र, अहरहर्दीप्तिः' अहरहर्गच्छति'' इत्यादि प्रयोग बनेंगे, 'अहोऽहोत्र' आदि नहीं । यही रुत्व न कह कर रेफ आदेश कहने का प्रयोजन है ।

प्रश्न.—आप ने 'रोऽसुपि' सूत्र को 'अहन्' (३६) सूत्र का अपवाद माना है, परन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्राप्ति अवश्य हुआ करती है । परन्तु यहां 'रोऽसुपि' के उदाहरणों में 'अहन्' (३६३) सूत्र प्राप्त नहीं हो

सकता । तथाहि—'रोऽसुपि' सूत्र के "अहन्+अहन्, अहन्+गण" इत्यादि उदाहरण हैं। इन में सुप् का लुक होने से 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) द्वारा प्रत्ययलक्षण न हो सकने के कारण पदसञ्ज्ञा न हो सकेगी। पदसञ्ज्ञा न हो सकने से 'अहन्' (३६३) सूत्र प्राप्त नहीं हो सकेगा। अतः प्रतीत होता है कि यह सूत्र 'अहन्' (३६३) का अपवाद नहीं किन्तु स्वतन्त्रतया रेफ आदेश विधान करने वाला है।

उत्तर—आप को 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) सूत्र के अर्थ में भ्रान्ति हो गई है। उस का अर्थ यह है—"लुक श्लु, लुप शब्दों से प्रत्यय का अदर्शन करने पर उसको मान कर अङ्ग के स्थान पर कार्य नहीं होते" यहां स्पष्ट अङ्ग को कार्य करने का निषेध है। पदसञ्ज्ञा अङ्गकार्य नहीं क्योंकि वह अङ्ग और प्रत्यय दोनों को मिला कर की जाती है। अतः लुक आदि शब्दों द्वारा सुप प्रत्यय का लुक हो जाने पर भी पदसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है और उसके हो जाने से तदाश्रित कार्य भी बेरोकटोक प्राप्त होते हैं। यथा—'राजपुरुष' यहां ङस का लुक होने पर पदसञ्ज्ञा हो जाने के कारण 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से पद के अन्त वाले नकार का लोप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'अहरहः अहर्गण' आदियों में सुप का लुक हो जाने पर भी पदसञ्ज्ञा होती थी और उस के होने से 'अहन्' (३६३) सूत्र द्वारा रुत्व प्राप्त था। उस के प्राप्त होने पर यह 'रोऽसुपि' सूत्र बनाया गया है अतः यह उसका अपवाद है। इसके प्रवृत्त होने में 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) सूत्र से सुप का अभाव हो जाता है क्योंकि यह अङ्ग के स्थान पर रेफ आदेश करता है।

'असुपि' यहां प्रसज्यप्रतिषेध है। अतः सुप परे न हो और चाहे जो हो यह सूत्र प्रवृत्त होगा। यदि यहां पर्युदास प्रतिषेध मानें तो सुप से भिन्न तत्सदृश अर्थात् प्रत्यय परे होने पर ही यह सूत्र प्रवृत्त हो सकेगा, 'अहर्भाति अहरहः अहर्गण' इत्यादि स्थानों पर जहां प्रत्यय परे नहीं प्रवृत्त न हो सकेगा केवल 'अहर्वान्' इत्यादि स्थानों पर ही प्रवृत्त होगा। अतः यहां पर्युदास प्रतिषेध मानना उचित नहीं प्रसज्यप्रतिषेध मानना ही युक्त है। सुप् का निषेध इस लिये किया गया है कि 'अहोभ्याम् अहोभिः' इत्यादि स्थानों पर रेफ न हो कर 'अहन्' (३६३) से रुत्व हो जाय। यदि यहां रेफ आदेश होता तो 'अहो रम्यम्' की तरह 'हशि च' (१०७) से उत्व न हो सकता और उसके न होने से गुण भी न हो पाता।

* इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—"अहरिदम्, अहरहर्दानम् अहर्भाति, अहर्गच्छति" प्रभृति जान लेने चाहियें।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१११ रो रि ।८।३।१४॥

रेफस्य रेफे परे लोप ।

अर्थ —रेफ का रेफ परे होने पर लोप होता है ।

व्याख्या—र ।६।१। रि ।७।१। लोप ।१।१। ['ढो ढे लाप' से] अर्थ —(र) रेफ का (रि) रेफ परे होने पर (लोप) लोप हो जाता है। इसी प्रकार का एक सूत्र—'ढो ढे लोप' (५५०) है। इस का अर्थ—(ढ ।६।१) ढ् का (ढे ।७।१) ढ परे होने पर (लोप ।१।१) लोप हो जाता है।

इन दोनों सूत्रों का उपयोग अग्रिम सूत्र के उदाहरणों में किया जायगा।

[लघु०] विधि सूत्रम्-११२ ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण ।६।३।११०॥

ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात् । पुना रमते । हरी रम्य । शम्भू राजते । अण किम् ? तृढ । वृढः ।

अर्थ —ढकार और रेफ के लोप में निमित्तभूत जो ढकार और रेफ उन के परे होने पर पूर्व अण् के स्थान पर दीर्घ हो जाता है ।

व्याख्या—ढ्लोपे ।७।१। पूर्वस्य ।६।१। अण ।६।१। दीर्घ ।१।१। समासः—ढ् च रश्च=ढ्रौ इतरेतरद्वन्द्व । रेफादकार उच्चारणार्थं । ढ्रौ लोपयतीति ढ्लोप, ण्यन्तात कर्मण्युपपदेऽण्प्रत्यय । ढकार और रेफ का लोप करने वाले इस व्याकरण में 'ढो ढे लोप' (५५०) तथा 'रो रि' (१११) में ढकार और रेफ ही हैं । अर्थ —(ढ्लोपे) ढकार और रेफ का लोप करने वाले अर्थात् ढ वा र के परे होने पर (पूर्वस्य) पूर्व (अण) अ इ, उ वर्णों के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ हो जाता है । उदाहरण यथा—

'पुनर्+रमते' [फिर खेलता है] यहा रमते के आदि रेफ को मान कर 'पुनर्' के रफ का रो रि' (१११) सूत्र से लोप हो जाता है। पुन इस रेफलोप में निमित्त रमते' वाले रेफ के परे होने पर नकारोत्तर अकार=अण् को दीर्घ हो कर—'पुना रमते' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'हरिस्+रम्य' [भगवान् विष्णु रमणीय हैं] = हरिरुँ+रम्य = हरिर+रम्य=हरि+रम्य = 'हरी रम्य' ।

शम्भुस्+राजते=शम्भुरुँ+राजते=शम्भुर् + राजते शम्भु+राजते= 'शम्भू राजते' ।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ अहा रम्यम् । २ ना रम्य ! [नर् + रम्य ! नृशब्दस्य सम्बोधने] । ३ अन्ता राष्ट्रिय ।

४ सवितृ रश्मय । ५ नीरुक् । ६ लीढाम् [लिढ् + ढाम्, वह चाटे]। ७ भूपती रक्षति । ८ फेरू रौति । ९ लीढे । १० नारस । ११ दाशरथी राम । इत्यादि ।

इस सूत्र में अण् प्रत्याहार पीछे कहे अनुसार पूर्व णकार (अ इ उ ण) से ही लिया जायगा इस से 'तृढ' (मारा), 'वृढ' (तैयार, उद्यत) यहां पूर्व ऋकार को दीर्घ न होगा। तथाहि—"तृढ् + ढ, वृढ + ढ" यहां 'ढो ढे लोप (५५०) सूत्र से ढकार का लोप हो कर— 'तृढ वृढ" प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

ढलोप का उदाहरण मूल में नहीं दिया गया, इस के—लिढ+ढ=लि+ढ='लीढ' प्रभृति उदाहरण हैं ।

यहां 'पूर्वस्य' ग्रहण का प्रयोजन सिद्धान्त-कौमुदी' में देखना चाहिये ।

नोट—'पुना रमते' में कई लोगों के द्वारा किया जाता हुआ 'पुनस् + रमते' यह छेद अशुद्ध है, क्योंकि—यह रेफान्त अव्यय है सकारान्त नहीं । वैसा होने पर मनोरथ' की तरह पुनो रमते बन जाता। 'हारस + रम्य शम्भुस + राजत ये छेद तो शुद्ध हैं अकार पूर्व न होने से इन में 'हशि च' (१०७) प्राप्त नहीं ।

[लघु०] 'मनस्+रथ' इत्यत्र रुँत्वे कृते 'हशि च' त्युत्वे 'रो री' ति लोपे च प्राप्ते—

अर्थ—'मनस् + रथ यहां ('ससजुषो रु' से) सकार का रुँ किया तो 'हशि च स उत्व तथा रो रि' से रेफ का लोप प्राप्त हुआ । [इस पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है]

व्याख्या—यहां उत्व और रेफ लोप युगपत् (इकट्ठे) प्राप्त होते हैं । इन दोनों में स कौन हो ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिम सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] नियम सूत्रम्—**११३ विप्रतिषेधे परं कार्यम् ।१।४।२।**

तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात् । इति लोपे प्राप्ते 'पूर्वत्रा-सिद्धम्' इति 'रो री' त्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव । मनोरथः ।

अर्थः—तुल्यबल वालों का विरोध होने पर परकार्य होता है ।

व्याख्या—विप्रतिषेधे ।७।१। परम् । १।१। कार्यम् ।१।१। अर्थ—(विप्रतिषेधे) विप्रतिषेध होने पर (परम्) पर (कार्यम्) कार्य होता है । "अन्यत्रान्यत्रलब्धावकाशयोरेकत्र प्राप्तिस्तुल्यबलविरोधः" । तुल्यबल वाले दो कार्यों के विरोध को विप्रतिषेध कहते हैं । पृथक् २ स्थानों (जहां वे परस्पर प्राप्त नहीं हो सकते) पर चरितार्थ होने वाले सूत्र तुल्यबल वाले कहाते हैं । इन तुल्यबल वालों का यदि विरोध हो जाए तो इन में जो अष्टाध्यायी में परे

पढा गया है वही प्रवृत्त होगा। यथा—'हशि च' सूत्र शिवो वन्द्य ' आदि स्थानों पर चरितार्थ हो चुका है इन स्थानों पर रो रि सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता और रो रि सूत्र हरी रम्य आदि स्थानों पर चरितार्थ हो चुका है इन स्थाना पर 'हशि च' सूत्र प्राप्त नही हो सकता तो इस प्रकार हशि च और 'रो रि' तुल्यबल वाले हैं। अब इन तुल्यबल वालों का 'मनर+रथ' यहां विरोध उत्पन्न हो गया है। तो यहा वही कार्य होगा जो अष्टाध्यायी म परे पढा गया होगा। हशि च' (६।१।१११) सूत्र से रो रि' (८।३।१४) सूत्र परे पढ़ा गया है अत 'रो रि द्वारा रेफलोप की प्राप्ति हुई। पर तु रो रि' सूत्र त्रिपादी होने के कारण हशि च' की दृष्टि में असिद्ध है [देखो— पूर्वत्रासिद्धम्' (१)] अत हशि च' की दृष्टि म रो रि का अस्तित्व ही नहीं रहता इस से हशि च' स उत्व हो कर— मन उ + रथ'। अब 'आद् गुण (२७) सूत्र से गुण एकादेश कर विभक्ति लाने से— मनोरथ प्रयोग सिद्ध होता है। मनसो रथ =मनोरथ (अभिलाषा)।

इसी प्रकार—१ बालो रोदिति। २ राघवो राम । ३ काका रौति। ४ भूयो रमते। ५ ईश्वरो रचयति । इत्यादि।

[लघु०] विधि सूत्रम्—११४ एतत्तदो' सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ।६।१।१२६॥

अककारयोरेतत्तदोर्य सुस्तस्य लोप स्याद्धलि, न तु नञ्समासे। एष विष्णु । स शम्भु । अको किम ? एषको रुद्रः। अनञ्समासे किम् ? असः शिव । हलि किम् ? एषोऽत्र ।

अर्थ—ककार रहित एतद् और तद् शब्द के सु का हल परे होने पर लोप हो जाता है, परन्तु नञ्समास में नही होता।

व्याख्या—एतत्तदो ।६।२। सुलोप ।१।१। अको ।६।२। अनञ्समासे ।७।१। हलि ।७।१। समास —एतच्च तच्च=एतत्तदौ, इतरेतरद्वन्द्व । तयो'=एतत्तदो । सोर्लोप.=सुलोप, षष्ठीतत्पुरुष । न नञ्समास'=अनञ्समास, तस्मिन्=अनञ्समासे, नञ्तत्पुरुष । अविद्यमान ककारो ययोस्तौ=अकौ, तयो =अको बहुव्रीहिसमास । अर्थ —(अको) ककाररहित (एतत्तदो) एतद् और तद् शब्द के (सुलोप) सु का लोप होता ह (हलि) हल परे हो तो। परन्तु (अनञ्समास) नञ्समास में नहीं होता।

उदाहरण यथा—'एषस्+विष्णु =एष विष्णु [यह विष्णु है]। यहा वकार=हल् परे होने से एतद् शब्द से पर सु' प्रत्यय का लोप हो जाता है।

'सस + शम्भु '= स शम्भु । यहां शकार=हल् परे होने से तद् शब्द से परे 'सु' प्रत्यय का लोप हो जाता है।

एतद् और तद् शब्द की टि से पूर्व जब 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टे' (१२२१) सूत्र से अकच् प्रत्यय हो जाता है तब इन में ककार आ जाता है। तब हल् परे होने पर भी इन से परे सु' प्रत्यय का लोप नहीं हुआ करता। यथा—'एषकस्+रुद्र' यहां सु का लोप न हो कर ससजुषो रुँ' (१०५) से रुत्व, हशि च' (१०७) से उत्व तथा 'आद् गुणः (२७) से गुण एकादेश करने से 'एषको रुद्र' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—"सकस +रुद्र =सको रुद्र, सकस्+शिव =सक शिव" इत्यादि में हल् परे होने पर भी सु का लोप नहीं होता, क्योंकि तद् शब्द ककार से रहित नहीं है।

'अनञ्समासे' यहां प्रसज्यप्रतिषेध है अर्थात् नञ्समास न हो और चाहे समास हो या न हो सु का लोप हो जायगा। यदि यहां पर्युदासप्रतिषेध मानें तो नञ्समास से भिन्न तत्सदृश अर्थात् समास का ग्रहण होने से 'एष रुद्र, स शिव आदि मे सु का लोप न हो सकेगा, अत प्रसज्यप्रतिषेध मानना ही युक्त है।

नञ्समास में सुलोप नहीं होता। यथा—'असः शिव, अनेष शिव" [न स = अस, न एष =अनेष।] यहां सुँ को रुँ और रुँ को विसर्ग हो 'वा शरि' (१०२) से विकल्प कर के विसर्ग आदेश होगा। पक्ष में 'विसर्जनीयस्य स' (१०३) से सकार आदेश हो जायगा।

हल् परे होने पर सु का लोप कहा गया है इस से अच परे होने पर सुलोप न होगा। यथा—एषस् + अत्र=एषरुँ + अत्र = एषर् + अत्र=एषउ + अत्र=एषो+अत्र = एषोऽत्र। इसी प्रकार—'सोऽत्र' यहां भी सुलोप न होगा।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

ह स हसति। एष हसति।	भ स भाति। एष भाति।
य स याति। एष याति।	घ स घोष। एष घोष।
व स वमति। एष वमति।	ढ स ढकार। एष ढकार।
र स रमते। एष रमते।	ध स धावति। एष धावति।
ल स लुनाति। एष लुनाति।	ज स जयति। एष जयति।
ञ स ञकार। एष ञकार।	ब स बध्नाति। एष बध्नाति।
म स मुह्यति। एष मुह्यति।	ग स गच्छति। एष गच्छति।
ङ स ङकार। एष ङकार।	ड स डिड्ये। एष डिड्ये।
ण स णकार। एष णकार।	द स ददाति। एष ददाति।
न स नमति। एष नमति।	ख स खनति। एष खनति।
झ स झणत्कार। एष झणत्कार।	फ स फलति। एष फलति।

छ स छादयति । एष छादयति ।
ठ स ठक्कुर । एष ठक्कुर ।
थ स थूत्करोति । एष थूत्करोति ।
च स चलति । एष चलति ।
ट स टिट्टिभ । एष टिट्टिभ ।
त स तरति । एष तरति ।
क स करोति । एष करोति ।
प स पठति । एष पठति ।
श स शेते । एष शेते ।
ष स षण्ढ । एष षण्ढ ।
स स सर्पति । एष सर्पति ।

—*—

[लघु०] विधि सूत्रम्—११५ सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ।६।१।३२॥

स इत्यस्य सोर्लोप स्यादचि, पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत । सेमामविड्ढि प्रभृतिम । सैष दाशरथी राम. ।

अर्थ—यदि केवल लोप होने से ही पाद पूरा होता हो तो अच परे होने पर तद् शब्द के सु' का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—स ।६।१। [तद् शब्द का प्रथमा के एकवचन में 'सस' रूप बनता है । उस का यहां अनुकरण किया गया है । इस के आगे षष्ठी के एकवचन का "छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति" इस कथन से छन्दोवत् होने के कारण सुपा सुलुक—' सूत्र से लुक हो जाता है ।] सुलोप ।१।१। ['एतत्तदो सुलोप —' से] अचि ।७।१। लोपे ।७।१। चेत् इत्य व्ययपदम् । एव इत्यप्य-ययपदम् ['स्यश्छन्दसि बहुलम्' सूत्र से 'बहुलम्' की अनुवृत्ति आती है । उस से यहा 'एव' पद का ही ग्रहण किया जाता है] । अर्थ —(स) 'सस' के (सुलोप) सु का लोप हो जाता है (अचि) अच परे होने पर (चेत्) यदि (लोपे) लोप होने पर (एव) ही (पाद पूरणम्) पादपूर्त्ति होती हो तो ।

श्लोक आदि क एक विशेष भाग को छन्द शास्त्र में 'पाद' कहते हैं उसी का यहां ग्रहण समझना चाहिये । उदाहरण यथा—

**"सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषेऽया विधेम नवया महा गिरा ।
यथा नो मीढ्वान्त्स्तवते सखा तव बृहस्पते सीषधः सोत नो मतिम् ॥"**

यह ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के चौबीसवें सूक्त का प्रथम मन्त्र है । यहां 'निचृद् जगती' छन्द है । जगतीछन्द के प्रत्येक पाद में बारह २ अक्षर होते हैं । "सेमामविड्ढि प्रभृति य ईशिषे" यह जगतीछन्द का एक पाद है । इस में सस्+इमाम्' इस अवस्था में सकार का लोप हो कर गुण हो जाने से बारह अक्षरों का पाद पूरा हो जाता है । यदि यहा इस सूत्र से सकार का लोप न करते तो सकार को रुँ, रुँ को य और य् का वैकल्पिक लोप हो—

'स इमामविड्ढि प्रभृति य ईशिषे" इस प्रकार तेरह अक्षरों वाला पाद हो जाता क्योंकि यकारलोप के असिद्ध होने से गुण प्राप्त नहीं हो सकता था। अब यहां इस सूत्र के सकार लोप के त्रैपादिक न होने के कारण सिद्ध होने से बारह अक्षर पूरे हो जाते हैं कोई दोष नहीं आता। द्वितीय उदाहरण यथा—

"सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैष कर्णो महात्यागी, सैष भीमो महाबलः॥"

[ये वे भगवान् दशरथनन्दन श्रीराम हैं। ये वे राजा युधिष्ठिर हैं। ये वे महादानी कर्ण हैं। ये वे महाबली भीम हैं।] यह 'अनुष्टुभ्' छन्द है। अनुष्टुभ् छन्द के चार पाद और प्रत्येक पाद में आठ २ अक्षर होते हैं। इन सब पादों में 'सस्+एष' यहां इस सूत्र से स का लोप हो 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि करने पर 'सैष' प्रयोग सिद्ध होता है। इस से आठ २ अक्षरों वाले सब पाद पूरे हो जाते हैं। यदि यहां इस सूत्र से स् का लोप न करते तो सकार को रुँ, रुँ का य और य् का वैकल्पिक लोप हो कर त्रैपादिकतामूलक असंधि होने से— 'स एष' या 'सयेष' इस प्रकार रूप हो जाते। इस से प्रत्येक पाद में नौ २ अक्षर हो कर छन्दोभङ्ग हो जाता। अतः यहां पादपूर्त्ति का—सिवाय इस के कि स् का सिद्ध लोप किया जाए, अन्य कोई उपाय नहीं इसलिये स का लोप किया गया है।

'बहुलम्' की अनुवृत्ति से 'एव' इसलिये ग्रहण किया गया है कि यदि किसी अन्य उपाय से पाद पूरा हो सकता हो तो स का लोप न हो। किन्तु जब पादपूर्त्ति का अन्य कोई उपाय न सूझता हो तब लोप करना चाहिये। यथा—

"सोऽहमाजन्मसिद्धानाम्, आफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानाम्, आनाकरथवर्त्मनाम्॥"
(रघुवंश, सर्ग १, श्लोक ५)

यहां 'सस्+अहम्' में सकार का लोप करने पर 'सोऽहम्' बन जाने से पाद की पूर्त्ति हो जाती है। परन्तु यह पादपूर्त्ति 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' (१०६) द्वारा उत्व करने पर भी हो सकती है। अत यहां स का लोप न कर उत्व ही करेंगे।

आचार्य वामन इस सूत्र के 'पाद' शब्द से ऋग्वेद के पाद का ही ग्रहण करते हैं। इन का कथन है कि यदि ऋग्वेद के पाद की पूर्त्ति होती होगी तो सकार का लोप हो जायगा। परन्तु सूत्र में किसी विशेष स्थान के पाद का उल्लेख न होने से सर्वत्र लोक अथवा वेद में इस की प्रवृत्ति होती है—ऐसा अन्य लोग मानते हैं। ग्रन्थकार ने दोनों मत दिखाने के लिये दोनों उदाहरण दे दिये हैं।

[लघु०] इति विसर्ग-सन्धि-प्रकरणम् ।

अर्थ —यह विसर्ग सन्धि का प्रकरण समाप्त हुआ ।

व्याख्या—तनिक ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सम्पूर्ण प्रकरण विसर्गसन्धि का नहीं है । 'अतो रोरप्लुतादप्लुते (१०६), हशि च (१०७), रोऽसुपि (११०) एतत्तदो —(११४)" आदि सूत्रों का—अवसान अथवा खर् परक न होने से विसर्गों के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । किन्च यदि इस सम्पूर्ण प्रकरण को विसर्गसन्धिप्रकरण मानें तो 'पञ्चसन्धिप्रकरणम्' यह कथन असङ्गत हो जाता है क्योंकि सब चार प्रकरण ही होते हैं—१ अच्सन्धि प्रकरण । २ प्रकृतिभाव–प्रकरण । ३ हल्सन्धि प्रकरण । ४ विसर्गसन्धि प्रकरण । अत हमारे विचार में यहां दो प्रकरण ही होने चाहियें । 'वा शरि (१०४) तक विसर्गसन्धि प्रकरण और इससे आगे स्वादिसन्धि प्रकरण । 'वा शरि' (१०४) सूत्र से आगे जितने सूत्र कहे गये हैं उन सब का सु आदि प्रत्ययों के साथ सम्बन्ध है अत आगे 'स्वादिसन्धि प्रकरण' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । 'सिद्धान्त कौमुदी' में भी ऐसा किया गया है । इस प्रकार पाञ्च सन्धि प्रकरण भी ठीक हो जाते हैं । प्रतीत होता है कि लिपिकारों की भूल से यहा दो प्रकरणों का एक प्रकरण कर दिया गया है ।

[लघु०] समाप्तञ्चेदं पञ्चसन्धि प्रकरणम् ।

अर्थ —यह पञ्चसन्धिप्रकरण समाप्त हो चुका ।

व्याख्या — '१ अच्सन्धि प्रकरण, २ प्रकृतिभाव प्रकरण, ३ हल्सन्धि प्रकरण ४ विसर्गसन्धि प्रकरण, ५ स्वादिसन्धि प्रकरण" ये पाञ्च सन्धिप्रकरण हैं । यहां कई लोग प्रकृतिभावप्रकरण को सन्धिप्रकरण नहीं मानते । उन का कथन है कि हरी एतौ आदि में प्रकृतिभाव अर्थात् सन्धि का अभाव ही विधान किया गया है किसी सन्धि का विधान नहीं अत प्रकृतिभावप्रकरण को सन्धिप्रकरण में गिनना भूल है । 'पञ्चसन्धि प्रकरणम्' इस की सङ्गति लगाने के लिये वे "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (७६), वा पदान्तस्य (८०)" द्वारा विधान की गई एक अनुस्वार सन्धि की कल्पना करते हैं । परन्तु हमारी सम्मति में 'प्रकृतिभावप्रकरण' के अन्दर "मय उञो वो वा (५८), इकोऽसवर्णे—(५९) ऋत्यकः (६१)' आदि सन्धि करने वाले सूत्र पाए जाते हैं अत प्रकृतिभावप्रकरण भी एक प्रकार का सन्धिप्रकरण ही है । नवीन अनुस्वारसन्धि की कल्पना करना ग्रन्थकार के आशय से विपरीत जान पड़ता है । आगे विद्वज्जन स्वयं युक्तायुक्त का विचार कर लें ।

अभ्यास (२४)

(१) तुल्यबलविरोध किसे कहते हैं ? उदाहरण दे कर समन्वय करें ।

(२) रोऽसुपि' सूत्र किस का और कैसे अपवाद है ? ।

(३) 'सोऽचि—' सूत्र में 'एव' पद लाने की क्या आवश्यकता है ? ।

(४) पाञ्च सन्धिप्रकरण कौन २ से हैं ? क्या प्रकृतिभावप्रकरण को भी सन्धिप्रकरण में गिनोगे ? ।

(५) 'एतत्तदो सुलोपोऽकोरनञ्समास हलि' सूत्र में 'अनञ्समासे' यहां कौन प्रतिषेध है और क्यों ? ।

(६) (क) 'एषकस् + शिव' यहां सुलोप क्यों न हो ?

(ख) 'तृढ' यहां पूर्व अण् को दीर्घ क्यों न हो ? ।

(ग) 'मनोरथ' यहां रेफ का लोप क्यों न हो ? ।

(घ) 'अजर्घा' यहा सन्धिच्छेद करो ।

—०ॐ०—

इति भैमी व्याख्ययोपबृंहितायां
लघु-सिद्धान्तकौमुद्याम्
पञ्चसन्धि-प्रकरणम्
पूर्त्तिमगात् ॥

❀ अथ षड्लिङ्ग्यामजन्त-पुल्ँलिङ्ग-प्रकरणम् ❀

व्याकरण शास्त्र में शब्द तीन प्रकार के होते हैं। १ सुँबन्त, २ तिङन्त ३ अव्यय *। अब सुँबन्त शब्दों का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। जिन शब्दों के अन्त में सुँप् प्रत्यय हों उन्हें सुँबन्तशब्द कहते हैं। वे शब्द प्रथम दो प्रकार के होते हैं। १ अजन्त, २ हलन्त। जिन शब्दों के अन्त में अच अर्थात् स्वर हों वे शब्द अजन्त तथा जिन शब्दों के अन्त में हल अर्थात् व्यञ्जन हों वे शब्द हलन्त कहाते हैं। यथा—इस 'राम' शब्द के अन्त में अकार=अच है अत यह अजन्तशब्द है और अजन्तों में भी अकारान्त अजन्त है। 'हरि' इस शब्द के अन्त में इकार=अच् है अत यह अजन्तशब्द है और अजन्तों में भी इकारान्त अजन्त है। 'पितृ' इस शब्द के अन्त में ऋकार=अच् है अत यह अजन्त शब्द है और अजन्तों में भी ऋकारान्त अजन्त है। 'गो' इस शब्द के अन्त में ओकार=अच है अत यह अजन्तशब्द है और अजन्तों में भी ओकारान्त अजन्त है। 'लिह्' इस शब्द के अन्त में हकार=हल् है अत यह हलन्तशब्द है और हलन्तों में भी हकारान्त हलन्त है। 'राजन्' इस शब्द के अन्त में नकार=हल है अत यह हलन्तशब्द है और हलन्तों में भी नकारान्त हलन्त है। इस प्रकार अजन्त और हलन्त भेद से शब्द दो प्रकार के होते हैं। दो प्रकार के भी पुन तीन लिङ्गों के भेद से छ प्रकार के हो जाते हैं। तथाहि—१ अजन्त पुल्ँलिङ्ग, २ अजन्त स्त्रीलिङ्ग, ३ अजन्त नपुंसकलिङ्ग, ४ हलन्त पुल्ँलिङ्ग, ५ हलन्त-स्त्रीलिङ्ग, ६ हलन्त नपुंसकलिङ्ग,। इन छ भेदों के कारण ही इस प्रकरण को 'षड्लिङ्ग प्रकरण' कहते हैं। अब क्रमप्राप्त प्रथम अजन्त पुल्ँलिङ्ग, शब्दों का ही विवेचन किया जाता है। सर्वप्रथम प्रातिपदिक सञ्ज्ञा की जाती है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—११६ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ।१।२।४५॥

धातु प्रत्यय प्रत्ययान्तञ्च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूप प्रातिपदिक-सञ्ज्ञं स्यात्।

अर्थः—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त को छोड़ कर अर्थ वाला शब्दस्वरूप प्रातिपदिक सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—अर्थवत् ।१।१। अधातुः ।१।१। अप्रत्ययः ।१।१। प्रातिपदिकम् ।१।१।

---

* यद्यपि अव्ययशब्द भी सुँबन्त ही हैं तथापि इन से परे सम्पूर्ण सुँप् का लुक् हो जाने के कारण इन की उन से विशेषता है अत. ब्राह्मणवसिष्ठन्याय से इन का पृथक् उल्लेख किया गया है।

समासादि —अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थवत् 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (११८१) इस सूत्र से मतुप प्रत्यय हो कर 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (१०६२) सूत्र से वकार हो जाता है। न धातु =अधातु नञ्तत्पुरुष । न प्रत्यय =अप्रत्यय , नञ्तत्पुरुष । यहां प्रत्ययशब्द से प्रत्यय और प्रत्ययान्त दोनों का ग्रहण होता है। 'अर्थवत्' इस नपुंसक विशेषण के कारण 'शब्दस्वरूपम्' इस विशेष्य का अध्याहार किया जाता है, क्योंकि 'शब्दानुशासन' (शब्द शास्त्र) प्रस्तुत है। अर्थ —(अधातु) धातुरहित (अप्रत्यय) प्रत्यय और प्रत्ययान्त रहित (अर्थवत्) अर्थ वाला शब्दस्वरूप (प्रातिपदिकम्) प्रातिपदिक सञ्ज्ञक होता है। अब इस सूत्र की खण्डश व्याख्या करते है—

(१) जिस शब्द का कुछ न कुछ अर्थ हो वह 'प्रातिपदिक' होता है।

जैसे 'राम' इस शब्द का अर्थ दशरथ पुत्र आदि है अतः इस की 'प्रातिपदिक' सञ्ज्ञा हुई।

(२) परन्तु वह धातु न होना चाहिये।

यथा 'अहन्' यह 'हन् (अदा०) धातु के लङ् लकार के प्रथमपुरुष वा मध्यमपुरुष का एकवचन है। यहां धातुमात्र ही अवशिष्ट रह गया है, प्रत्यय का लोप हो चुका है, अतः इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न होगी। यदि यहां प्रातिपदिकसञ्ज्ञा कर दी जाती तो 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो कर अनिष्ट रूप बन जाता। अतः सूत्रकार ने 'अधातु' कह कर धातु की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने का निषेध कर दिया है अब कोई दोष नहीं आता।

(३) वह अर्थवाला शब्द प्रत्यय न होना चाहिये।

यथा—'हरिषु, करोषि' यहां क्रमशः सुप और सिप प्रत्यय हुए २ हैं। यद्यपि ये अर्थवाले भी हैं तथापि इन की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा नहीं होगी। यदि इन की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो जाय तो इन के आगे 'एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते' इस नियमानुसार 'सु' प्रत्यय की उत्पत्ति हो कर अनिष्ट हो जाय। अब 'अप्रत्यय' के कथन से प्रत्यय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न न होने के कारण कोई दोष नहीं आता।

(४) वह अर्थवाला शब्द प्रत्ययान्त भी न होना चाहिये।

यथा—'हरिषु करोषि' यहां समुदाय अर्थवाला है पर प्रत्ययान्त होने से इसकी प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न होगी। यदि प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो जाती तो औत्सर्गिक 'सु' की उत्पत्ति हो अनिष्ट हो जाता।

यद्यपि यहां 'घु, 'टि, 'घि' की भान्ति कोई छोटी सञ्ज्ञा भी हो सकती थी तथापि पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के अनुरोध से इतनी बड़ी सञ्ज्ञा की है। पाणिनि से पूर्ववर्ती

आचार्य चूंकि प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करते चले आये हैं अतः पाणिनि ने भी उन का अनुसरण किया है।

शब्दों के विषय में विद्वानों में दो मत प्रचलित हैं। १ व्युत्पत्तिपक्ष, २ अव्युत्पत्ति पक्ष। अव्युत्पत्तिपक्षीय विद्वानों का कथन है कि किसी वस्तु की सञ्ज्ञा अपने सञ्ज्ञी को समुदाय शक्ति से ही जनाती है उस में अवयवार्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिये। अर्थात् 'राम' यह सञ्ज्ञा समुदायशक्ति से ही दशरथ पुत्र रूप सञ्ज्ञी को प्रकट करती है इस में अवयवार्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिये—यही अव्युत्पत्तिपक्ष है। व्युत्पत्तिपक्षीय विद्वानों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु की सञ्ज्ञा का कोई न कोई अर्थ—जो उस के अवयवों से निष्पन्न होता है—जरूर हुआ करता है। यथा—'राम' शब्द में 'रम् (भ्वा० आ०) धातु से 'घञ्' प्रत्यय हुआ २ है। 'रम्' का अर्थ 'खेलना' और 'घञ्' प्रत्यय अधिकरण को प्रकट करता है। अर्थात् जिस में (योगी जन) खेलते हैं वह 'राम' है। यही व्युत्पत्तिपक्ष है।

अवयवों द्वारा शब्दों के अर्थ करने की रीति बहुत प्राचीन है। वेद में इस पक्ष का बहुत आदर किया जाता है। परन्तु लोक में व्युत्पत्ति अव्युत्पत्ति दोनों पक्ष चलते हैं। अव्युत्पत्तिपक्ष में—जिस में न कोई धातु और न कोई प्रत्यय माना जाता है—'अर्थवदधातु—' (११६) सूत्र प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करता है और व्युत्पत्तिपक्ष—जहां धातु आदि से परे कृत् या तद्धित प्रत्यय की कल्पना होती है—के लिये दूसरा प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—११७ कृत्तद्धितसमासाश्च ।१।२।४६॥

कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च तथा [प्रातिपदिक-सञ्ज्ञकाः] स्युः ।

अर्थः—कृदन्त, तद्धितान्त तथा समास भी पूर्ववत् प्रातिपदिकसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—कृत्तद्धितसमासाः ।१।३। च इत्यव्ययपदम् । प्रातिपदिकाः ।१।३। [यहां पूर्व सूत्र से आ रहे 'प्रातिपदिकम्' पद के वचन और लिङ्ग का विपरिणाम हो जाता है।] समास:—कृच्च तद्धितश्च समासाश्च=कृत्तद्धितसमासाः । इतरेतरद्वन्द्वः । इस सूत्र में पूर्वसूत्र से 'अर्थवत्' पद की अनुवृत्ति होती है। कृत् और तद्धित अकेले अर्थवाले नहीं होते किन्तु जब प्रकृति [जिस से प्रत्यय किया जाता है उसे 'प्रकृति' कहते हैं। प्रत्ययात् पूर्वं क्रियते इति प्रकृतिः ।] से युक्त होते हैं तभी अर्थवाले होते हैं। तो इसलिये यहां कृत् से कृदन्त तथा तद्धित से तद्धितान्त लिया जायगा। अर्थः—(कृत्तद्धितसमासाः) कृदन्त तद्धितान्त तथा समास (च) भी (प्रातिपदिकाः) प्रातिपदिकसञ्ज्ञक होते हैं।

अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय में 'कृदतिङ्' (३०२) के अधिकार में कृत् प्रत्यय तथा चतुर्थाध्याय के 'तद्धिताः' (६१६) के अधिकार में तद्धित प्रत्यय पढ़े गये हैं। जिज्ञासुओं को वे अष्टाध्यायी में देखने चाहियें। ये प्रत्यय जिस के अन्त में होंगे उस समुदाय अर्थात् इन के सहित प्रकृति की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होगी। पूर्वसूत्र से प्रत्ययान्तों की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने का निषेध किया गया था अब इसके द्वारा कृदन्तों तथा तद्धितप्रत्ययान्तों की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा की जाती है। व्युत्पत्तिपक्ष में—राम, कर्तृ, पितृ कारक आदि कृदन्त तथा औपगव, पाणिनीय, शालीय, मालीय आदि तद्धितान्त शब्द इस के उदाहरण हैं।

"समास भी प्रातिपदिकसञ्ज्ञक होते हैं"।

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि समास की तो पूर्वसूत्र से ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा सिद्ध है *। क्योंकि न तो वह धातु है न प्रत्यय है और न प्रत्ययान्त है किन्तु अर्थवाला अवश्य होता है। अतः इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने के लिये पुनः प्रयास किस लिये किया गया है? 'न हि पिष्टस्य पेषणम्' अर्थात् पिसे का पुनः पिसना सम्भव नहीं होता।

इस का उत्तर वैयाकरण यह देते हैं कि यहां समासग्रहण नियम के लिये है—"यदि अनेक पदों का समूह जो कि सार्थक हो प्रातिपदिकसञ्ज्ञक किया जाय तो समास ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञक हो अन्य समूह प्रातिपदिकसञ्ज्ञक न हों"। इस नियम से यह लाभ हुआ कि 'देवदत्तो भुङ्क्ते' इत्यादि सार्थक वाक्य जो पहले 'अर्थवदधातु—' (११६) सूत्र से प्रातिपदिकसञ्ज्ञक होते थे अब न होंगे। इस विषय का विस्तार 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्याओं में देखना चाहिये।

राजपुरुष, चित्रग्रीव, रामकृष्ण आदि समास के उदाहरण हैं, इनकी प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होती है।

तो अब हम इन दो सूत्रों से प्रत्येक शब्द की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा कर सकते हैं।

[लघु०] विधि सूत्रम्—११८ स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिँभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ।४।१।२॥

सुँ, औ, जस् इति प्रथमा। अम्, औट्, शस् इति द्वितीया। टा, भ्याम्, भिस् इति तृतीया। ङे, भ्याम्, भ्यस् इति चतुर्थी। ङसिँ, भ्याम्, भ्यस् इति पञ्चमी। ङस्, ओस्, आम् इति षष्ठी। ङि, ओस्, सुप् इति सप्तमी।

---

* जहां २ समास में समासान्त 'टच्' आदि प्रत्यय होते हैं, वहां २ उन समासान्त प्रत्ययों के तद्धित होने से तद्धितान्तत्वेन ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है।

अर्थ—'सुँ औ, जस्' यह प्रथमा विभक्ति "अम् औट, शस्" यह द्वितीया विभक्ति, "टा, भ्याम् भिस्" यह तृतीया विभक्ति, 'ङे, भ्याम्, भ्यस" यह चतुर्थी विभक्ति, 'ङसिँ, भ्याम्, भ्यस' यह पञ्चमी विभक्ति 'ङस, ओस आम्" यह षष्ठी विभक्ति, "ङि, ओस्, सुप्"-यह सप्तमी विभक्ति [ङ्यन्त आबन्त तथा प्रातिपदिक स परे हो]।

व्याख्या—स्वौजसमौट्—सुप्।१।१। समास—सुँश्च औश्च जश्च अम् च औट च शश्च, टाश्च भ्याम्च भिश्च, ङेश्च भ्याम्च भ्यश्च, ङसिँश्च भ्याम्च भ्यश्च ङश्च ओश्च आम् च, ङिश्च ओश्च सुप च, एषां समाहार=स्वौजसमौट्-सुप्। इस सूत्र में सु औ जस अम्, औट्, शस् टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्, ङसिँ, भ्याम् भ्यस ङस ओस, आम्, ङि, ओस, सुप" इन इक्कीस प्रत्ययों का उल्लेख है। इन को सुँप कहा जाता है। सुँ से लेकर सुप् के प् तक सुँप् प्रत्याहार बनता है। इस सूत्र का सम्पूर्ण अर्थ तभी हो सकता है जब हमे यह ज्ञात हो कि यह सूत्र किस २ अधिकार में पढ़ा गया है। अब उन अधिकारों को बताते हैं—

[लघु०] अधिकार सूत्रम्—११९ ङ्याप्प्रातिपदिकात्।४।१।१॥

अधिकार सूत्रम्—१२० प्रत्यय।३।१।१॥

अधिकार सूत्रम्—१२१ परश्च।३।१।२॥

इत्यधिकृत्य। ङ्यन्तादाबन्तात् प्रातिपदिकाच्च परे स्वादय प्रत्यया: स्युः।

अर्थ—"१ ङ्याप्प्रातिपदिकात्, २ प्रत्यय, ३ परश्च" इन तीन सूत्रों का अधिकार कर के [उपर्युक्त 'स्वौजसमौट्—' सूत्र का यह अर्थ निष्पन्न हुआ।] ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिक से परे 'सु' आदि इक्कीस प्रत्यय हों।

व्याख्या—हम ग्रन्थकार के इस सूत्रविन्यासक्रम से सहमत नहीं। हमारी सम्मति में एक तो 'स्वौजसमौट्—' सूत्र से पूर्व इन अधिकारसूत्रों को रखना उचित था दूसरा इन अधिकार सूत्रो का क्रम 'प्रत्यय, परश्च ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ऐसा होना चाहिये था 'स्वौजसमौट्—' सूत्र इन तीन अधिकारों के अन्तर्गत है अत पहले तीनों अधिकार दर्शाने योग्य थे। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' यह अधिकार 'प्रत्यय, परश्च' इन दोनों अधिकारों के अन्दर आ जाता है। अत 'प्रत्यय' 'परश्च' सूत्र लिखने के पश्चात् 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' सूत्र लिखना उचित था। हम इन सूत्रों की अपने क्रम से ही व्याख्या करेंगे।

प्रत्ययः।१।१। यह अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय के प्रथमपाद का प्रथम तथा अधिकार सूत्र

है। अष्टाध्यायी में सब से बड़ा यही अधिकार है। इस का अधिकार पाञ्चवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है। 'तीसरे, चौथे तथा पाञ्चवें अध्याय में जो प्रकृति से विधान किए जाएं उन की प्रत्यय सञ्ज्ञा हो' यह इस सूत्र का अर्थ है।

जहां २ प्रकृति से प्रत्यय विधान किया जाता है वहां २ सर्वत्र प्रकृति पञ्चम्यन्त होती है। यथा— अचः ।५।१। यत् ।१।१।' 'स्वपः ।५।१। नन् ।१।१।' इन स्थानों पर पञ्चमी दिग्योग में होती है। अब इस दिग्योगपञ्चमी में यह शङ्का उत्पन्न होती है कि क्या प्रत्यय प्रकृति से आगे=परे किया जाय या प्रकृति से पूर्व किया जाय ?। यथा 'अचो यत्' अजन्त धातु से यत् प्रत्यय हो। यहां 'अजन्त धातु से' यह दिग्योग में पञ्चमी है। इस से सन्देह होता है कि अजन्त धातु से पूर्व यत् हो या उस से परे यत् हो ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये महामुनि पाणिनि अन्य अधिकार चलाते हैं—

परश्च । परः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। 'प्रत्ययः' पद की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति आती है। अर्थः—प्रत्यय परे होता है। अर्थात् जिस से प्रत्यय विधान किया जाता है उस से प्रत्यय परे समझना चाहिये। यथा—'अचो यत्' (७७३) यहां अजन्त धातु से यत् प्रत्यय विधान किया गया है सो यत् प्रत्यय अजन्त धातु से परे होगा। 'स्वपो नन्' (८६१) यहां स्वप् धातु से नन् प्रत्यय विधान किया गया है सो नन् प्रत्यय स्वप् धातु से परे होगा *। अब इस प्रकार प्रत्यय का अधिकार और उस के स्थान का नियम कर अवान्तर अधिकार लिखते हैं—

ङ्याप्प्रातिपदिकात् ।५।१। समासः—ङी च आप् च प्रातिपदिकञ्च एषां समाहारः=ङ्याप्प्रातिपदिकम्, तस्मात्=ङ्याप्प्रातिपदिकात्। 'ङी' यह भेदक अनुबन्धों से रहित ग्रहण किया गया है, अतः 'ङीप्, ङीष्, ङीन्' सब का सामान्यतः ग्रहण होगा। इसी प्रकार 'आप्' यह भी भेदक अनुबन्धों से रहित होने के कारण 'टाप्, डाप्, चाप्' सब का ग्राहक होगा। यह अधिकारसूत्र है। इस का अधिकार पाञ्चवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है। इस सूत्र में प्रकृति बतलाई गई है। अर्थः—यहां से ले कर पाञ्चवें अध्याय की समाप्ति तक जितने प्रत्यय कहे गये हैं वे ङ्यन्त आबन्त तथा प्रातिपदिक से परे हों। इसी सूत्र के अधिकार में 'स्वौजसमौट्—' (११८) सूत्र पढ़ा गया है। अतः उस सूत्र का यह अर्थ हुआ—"ङ्यन्त आबन्त तथा प्रातिपदिक से परे सुँ, औ, जस् आदि इक्कीस प्रत्यय हों"।

इन इक्कीस प्रत्ययों के सात त्रिक बनते हैं। यथा—१ सुँ, औ जस्। २ अम्,

* तब 'राम+टा' यहां पर टा प्रत्यय टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' से राम के आदि में न हो कर राम के परे होगा। इसी प्रकार 'चरेष्टः' (७६२) आदि।

औट् शस्। ३ टा, भ्याम् भिस्। ४ ङे भ्याम् भ्यस्। ५ ङसि, भ्याम्, भ्यस्। ६ ङस्, ओस् आम्। ७ ङि, ओस् सुप्। इन त्रिकों की क्रमशः "प्रथमा द्वितीया, तृतीया चतुर्थी पञ्चमी षष्ठी, सप्तमी' ये सञ्ज्ञाएं पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने की हुई हैं। महामुनि पाणिनि ने भी इन सञ्ज्ञाओं का उपयोग किया है। [देखो कारकप्रकरण]।

अब इन विधान किये हुए इक्कीस प्रत्ययों की व्यवस्था करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—१२२ सुँपः ।१।४।१०२॥

सुँपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन-द्विवचन-बहुवचनसञ्ज्ञानि स्युः।

अर्थः—सुँप् का प्रत्येक त्रिक 'एकवचन, द्विवचन, बहुवचन' सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—सुँपः ।६।१। त्रीणि ।१।३। ['तिङस्त्रीणि त्रीणि—' से] एकशः इत्यव्ययपदम्। एकवचनद्विवचनबहुवचनानि ।१।३। ['तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः' से] अर्थः—(सुँपः) सुँप् के जो (त्रीणि त्रीणि) तीन २ वचन, वे (एकशः) प्रत्येक (एकवचनद्विवचनबहुवचनानि) 'एकवचन द्विवचन बहुवचन' सञ्ज्ञक हों।

सुँप् प्रत्याहार के सात त्रिक अर्थात् तीन २ वचन होते हैं। ये सातों 'एकवचन द्विवचन बहुवचन' सञ्ज्ञक होते हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) के अनुसार प्रत्येक त्रिक के अन्तर्गत तीन वचन क्रमशः एकवचन द्विवचन, बहुवचन सञ्ज्ञक हो जाते हैं। यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	त्रिक सङ्ख्या
प्रथमा	सुँ	औ,	जस्	पहला त्रिक
द्वितीया	अम्	औट्	शस्	दूसरा "
तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्	तीसरा "
चतुर्थी	ङे	"	भ्यस्	चौथा "
पञ्चमी	ङसिँ	"	"	पाञ्चवां "
षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्	छठा "
सप्तमी	ङि	"	सुप्	सातवां "

ध्यान रहे कि प्रत्येक त्रिक का 'एकवचन + द्विवचन + बहुवचन' ये तीन सञ्ज्ञाएं

मिलती हैं। इन्हें वह अपने अन्तर्गत तीन प्रत्ययों को बांट देता है। यथा—'सुँ, औ, जस' यह एक त्रिक है, इसे 'एकवचन, द्विवचन, बहुवचन' ये तीन सञ्ज्ञाएं प्राप्त होती हैं। यह त्रिक इन तीन सञ्ज्ञाओं को अपने अन्तर्गत तीन प्रत्ययों क्रमशः दे देता है, इस से 'सुँ' यह एकवचन, 'औ' यह द्विवचन, 'जस' यह बहुवचन हो जाता है। इसी प्रकार अन्य छः त्रिकों में भी जान लेना चाहिये।

अब यह बतलाते हैं कि कहां एकवचन और कहां द्विवचन होता है? [बहुवचन के विषय में भी थोड़ी दूर आगे चल कर कहेंगे]।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१२३ द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने ।१।४।२२।

द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः ।

अर्थः—द्वित्व और एकत्व की विवक्षा (कहने की इच्छा) में क्रमशः द्विवचनप्रत्यय और एकवचनप्रत्यय होते हैं।

व्याख्या—द्व्येकयोः ।७।२। द्विवचनैकवचने ।१।२। 'द्व्येकयोः' यहां "द्वौ च एकश्च तेषु=द्व्येकेषु" ऐसा बहुवचन होना चाहिये था, परन्तु मुनि ने ऐसा न कर 'द्व्येकयोः' में द्विवचन ही किया है। उन के ऐसा करने का अभिप्राय यह है कि 'द्वि' शब्द से दो पदार्थ और 'एक' शब्द से एक पदार्थ ऐसा अर्थ ग्रहण न किया जाय किन्तु 'द्वि' शब्द से दो की सङ्ख्या अर्थात् द्वित्व और 'एक' शब्द से एक की सङ्ख्या अर्थात् एकत्व का ग्रहण हो। भाव यह है कि लोक में द्वि और एक शब्द सङ्ख्येयवाची ही प्रसिद्ध हैं सङ्ख्यावाची नहीं *। अर्थात् 'द्वि' शब्द से लोक में दो पदार्थ और 'एक' शब्द से एक पदार्थ ही लिया जाता है न कि दो और एक की सङ्ख्या। "दो पदार्थों में द्विवचन और एक पदार्थ में एकवचन हो" यह अर्थ सुसङ्गत नहीं होता। अतः मुनि ने 'द्व्येकयोः' कह कर द्वि और एक शब्द को सङ्ख्यावाची कर दिया है। इस से अब यह सुसङ्गत अर्थ हो जाता है—(द्व्येकयोः) दो सङ्ख्या अर्थात् द्वित्व और एक सङ्ख्या अर्थात् एकत्व होने पर (द्विवचनैकवचने) द्विवचन और एकवचन प्रत्यय हों।

किस २ अर्थ में कौन २ सा त्रिक हो? यह कारक प्रकरण का विषय है। अतः प्रथम कारकप्रकरणानुसार त्रिक का निर्णय कर चुकने के बाद पुनः इस सूत्र से वचननिर्णय करना

---

* एक, द्वि से ले कर नवदशन् शब्द तक सब शब्द सङ्ख्येयवाची होते हैं अतः पदार्थों के साथ इन का समानाधिकरण्य होता है। यथा—एको बालः, द्वौ पुरुषौ इत्यादि। विंशति आदि शब्द सङ्ख्या और सङ्ख्येय दोनों प्रकार के वाचक होते हैं। यथा—"गवां विंशतिः, ब्राह्मणानामेकोनविंशतिः" इत्यादियों में सङ्ख्यावाची हैं। "गावो विंशतिः, ब्राह्मणा एकोनविंशतिः" इत्यादियों में सङ्ख्येयवाची हैं।

चाहिये । यदि हमें एकत्व की विवक्षा होगी तो हम एकवचन और यदि द्वित्व की विवक्षा होगी तो द्विवचन करेंगे । यह इस सूत्र का सार है ।

अब रूपसिद्धि के लिये अवसानसञ्ज्ञा करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१२४ विरामोऽवसानम् ।१।४।१०६॥

वर्णानामभावोऽवसानसञ्ज्ञः स्यात् । रुत्व विसर्गौ । रामः ।

अर्थ —वर्णों का अभाव अवसान सञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या—विराम ।१।१। अवसानम् ।१।१। 'विराम' शब्द का दो प्रकार का अर्थ होता है पहला अधिकरण में 'घञ्' प्रत्यय मानने से और दूसरा भाव में 'घञ्' प्रत्यय स्वीकार करने से । प्रथम यथा—विरम्यतेऽस्मिन्निति=विराम [यहा सामीपिक अधिकरण विवक्षित है] । उच्चारण का ठहराव जिस के पास किया जाता है उसे 'विराम' कहते हैं । उच्चारण का ठहराव अन्तिमवर्ण के पास किया जाता है अत इस पक्ष में अन्तिमवर्ण 'विराम' होता है । द्वितीय यथा–विरमण विराम , भावे घञ् । उच्चारण का न होना 'विराम' होता है । अर्थात् किसी वर्ण से परे उच्चारण का न होना 'विराम' कहाता है । इस पक्ष में अन्तिम वर्ण से आगे अभाव की अवसानसञ्ज्ञा होती है । यही पक्ष ग्रन्थकार ने वृत्ति में स्वीकार किया है । पर हैं दोनों ही शुद्ध । अर्थ –(विराम) वर्णों के उच्चारण का अभाव (अवसानम्) अवसान सञ्ज्ञक होता है । यथा–'रामर्' यहां रेफ से आगे उच्चारणाभाव है उसी की यहा अवसान-सञ्ज्ञा है । ध्यान रहे कि पहले पक्ष में रेफ की ही अवसानसञ्ज्ञा होगी ।

'रामः' । 'राम' इस शब्द की अव्युत्पत्तिपक्ष में 'अर्थवदधातु—'(११६) से तथा व्युत्पत्तिपक्ष में कृदन्त होने से कृत्तद्धितसमासाश्च' (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो 'प्रत्यय परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्'' (१२०, १२१, १११) इन के अधिकार में 'स्वौज समौट्—' (११८) सूत्र द्वारा इक्कीस प्रत्यय प्राप्त हुए । तदनन्तर 'सुँप ' (१२२) से सात त्रिकों के अन्तर्गत तीन २ वचनों की क्रमश एकवचन, द्विवचन, बहुवचनसञ्ज्ञा हो गई । अब प्रथमा के एकत्व की विवक्षा में 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (१२३) द्वारा राम शब्द से परे 'सुँ' प्रत्यय आ कर 'राम + सुँ' बना । उपदेश में अनुनासिक होने के कारण सकारोत्तर उकार 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) द्वारा इत्सञ्ज्ञक है अत 'तस्य लोप ' (३) से उस का लोप हो—'रामस्' । 'सुप्तिङन्त पदम्' (१४) से 'रामस' इस समुदाय की पदसञ्ज्ञा हो 'ससजुषो रुँ ' (१०५) से सकार को आदेश किया तो 'राम + रुँ' । पुन उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) से इत्सञ्ज्ञा तथा 'तस्य लोप ' (३) से लोप

हो—'रामर्'। 'विरामोऽवसानम्' (१२४) से रेफोत्तरवर्त्ती अभाव की अवसानसञ्ज्ञा हो, उस के परे होने से खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (९३) द्वारा रेफ को विसर्गादेश करने पर—राम' प्रयोग सिद्ध होता है। [विसर्गों के अयोगवाह होने से अयोगवाहों का पाठ यरों में मानने से 'अनचि च' (१८) से विसर्गों को वैकल्पिक द्वित्व भी हो जायगा। राम ।]

नोट—जिस पक्ष में रेफ की अवसानसञ्ज्ञा होती है उस पक्ष में 'खरवसानयो—' (९३) सूत्र का "खर परे होने पर रेफ को या अवसान में वर्त्तमान रेफ को विसर्गादेश हो" ऐसा अर्थ हो जाने से कोई दोष नहीं आता।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१२५ सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ।१।२।६४॥

एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते।

अर्थ—एकविभक्ति अर्थात् समानविभक्ति के परे होने पर जितने शब्द सरूप=समानरूप वाले ही देखे जाएं, उन में से एक ही रूप शेष रहता है (अन्य रूप लुप्त हो जाते हैं)।

व्याख्या—सरूपाणाम् ।६।३। [निर्धारणे षष्ठी] एकशेष ।१।१। एकविभक्तौ ।७।१। एव इत्यव्ययपदम्। ['वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' से] अन्वय—एकविभक्तौ सरूपाणाम् एव (दृष्टानाम्) मध्ये एकशेष स्यादिति। समास—एका चासौ विभक्तिश्च=एकविभक्ति तस्याम्=एकविभक्तौ, कर्मधारयसमास, समानविभक्तावित्यर्थः। समानं रूपं येषान्ते सरूपा तेषाम्=सरूपाणाम् बहुव्रीहिसमास, ज्योतिजनपदेत्यादिना समानस्य सभाव। शिष्यत इति शेष कर्मणि घञ्। एकश्चासौ शेषश्च=एकशेष, कर्मधारयसमास। अर्थ—(एकविभक्तौ) समानविभक्ति में (सरूपाणामेव) जितने समानरूप वाले ही शब्द देखे जाए, उन में से (एकशेष) एक शेष रहता है [अन्य लुप्त हो जाते हैं]।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि यह एकशेष कार्य अन्तरङ्ग* होने से 'औ' आदि विभक्तियों की उत्पत्ति से पूर्व ही होता है।

---

* 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' (प०) अर्थात् अन्तरङ्ग कार्य करने में बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है। बहुत निमित्तों की अपेक्षा करने वाला कार्य बहिरङ्ग और थोड़े निमित्तों की अपेक्षा करने वाला कार्य अन्तरङ्ग होता है। अथवा—घरेलू=निज से सम्बन्ध रखने वाला=समीप का=निकट का या अपने भीतर का कार्य अन्तरङ्ग और दूर का अथवा अपने से बाहिर का कार्य बहिरङ्ग होता है। यद्वा—बहुत झञ्झटों वाला कार्य बहिरङ्ग और थोड़े झञ्झटों वाला कार्य अन्तरङ्ग होता है। राम राम यहां एकशेष विभक्त्युत्पत्ति से थोड़ी अपेक्षा वाला [विभक्त्युत्पत्ति में प्रातिपदिकसञ्ज्ञा द्वित्वादि की विवक्षा इत्यादि बहुत बातों

एकविभक्ति अर्थात् समानविभक्ति के परे होने पर जो शब्द एक जैसे ही देखे जाते हैं विरूप नहीं दिखाई देते, उन शब्दों में एक ही शेष रहता है अन्य लुप्त हो जाते हैं। यथा—'मातृ' शब्द दो प्रकार से सिद्ध होता है। एक—नप्तृनेष्ट्—(उणा० २२५) इस उणादिसूत्र द्वारा मान् (नलोप हो कर) अथवा 'मा' धातु से तृजन्त निपातित होता है। इस का अर्थ 'माता=जननी' और इस के रूप 'माता मातरौ, मातरः। मातरम् मातरौ मातॄः' इत्यादि होते हैं। दूसरा—'माङ् माने (जुहो०) धातु से ण्वुल्तृचौ (७८४) द्वारा तृच् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इसका अर्थ 'मापने वाला' और इस के रूप 'माता मातारौ, मातारः। मातारम्, मातारौ मातॄन्' इत्यादि होते हैं। अब इन दो प्रकार के मातृ' शब्दों का द्वन्द्व करने पर एकशेष नहीं होगा। क्योंकि ये एकविभक्ति=समान विभक्ति में केवल सरूप ही नहीं देखे जाते। इस में सन्देह नहीं कि सु टा ङ आदि विभक्तियों में इन दोनों प्रकार के मातृ शब्दों के माता मात्रा मात्रे आदि सरूप ही होते हैं, परन्तु समानविभक्ति में सरूप ही हों ऐसा नहीं देखा जाता। अम्' में औणादिक 'मातृ' शब्द का 'मातरम्' और दूसरे मातृ' शब्द का मातारम्' विरूप होता है सरूप नहीं। हमारी शर्त्त तो यह है कि 'एक अर्थात् एक जैसी=समान विभक्ति परे होने पर जो शब्द सरूप ही रहे, विरूप न हों उन में से एक ही शेष रहता है' इस शर्त्त को इन दो प्रकार के 'मातृ' शब्दों ने पूरा नहीं किया। समानविभक्ति अम्' आदि में इन की विरूपता हो गई है अतः इन का एकशेष नहीं होगा।

प्रत्यर्थं शब्द' अर्थात् प्रत्येक अर्थ के लिये शब्द के उच्चारण की आवश्यकता होती है। इस लिये जब दो तीन या अधिक अर्थों का बोध कराना अभीष्ट होता है तो उस के लिये तद्वाचक शब्दों का उच्चारण भी उतने बार प्राप्त होता है। इस पर यह सूत्र नियम करता है कि उनका उच्चारण एक ही बार हो अनेक बार नहीं। जैसे—जब दो, तीन या अधिक राम कहने हों तो तब रामशब्द का दो तीन या अधिक बार उच्चारण प्राप्त होता है। इस नियम से एक 'राम' शब्द रह जाता है, शेषों का लोप हो जाता है। उन सब के अर्थ का वही शेष रहा हुआ बोध कराता है। जैसा कि कहा गया है—"यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी" अर्थात् जो शेष रहता है वह लोप हुओं के अर्थ का भी बोध कराता है।

—की अपेक्षा होती है] थोड़े निमित्तों वाला बहिरङ्ग व भीतरी कार्य सा है अतः यह अन्तरङ्ग और विभक्त्युत्पत्ति उस से बहिर्भूत होने से बहिरङ्ग है। अन्तरङ्ग कार्य पहले और बहिरङ्ग कार्य पीछे होगा। यह परिभाषा लोकसिद्ध है। यथा लोक में सवेरे उठ कर मनुष्य अन्तरङ्ग=शौच दन्तधावन स्नानादि या बाबू लोग चाय, टक आदि निजीकार्यों को कर बाद में बहिरङ्ग=बाहिर के या पराये कार्यों को करते हैं वैसे यहां भी समझना चाहिये। इस परिभाषा की विशेष व्याख्या व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

'राम राम' इन दो सरूप शब्दों में इस सूत्र द्वारा एक 'राम' शब्द रह जाता है। अब प्रथमाविभक्ति के द्वित्व की विवक्षा में 'द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने' (११३) सूत्र द्वारा 'औ' प्रत्यय आ कर 'राम + औ' हो जाता है। अब इस स्थिति में 'वृद्धिरेचि' (३३) के प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र उपस्थित होता है—

[लघु०] विधि सूत्र—१२६ प्रथमयोः पूर्व-सवर्णः ।६।१।६६॥

अकः प्रथमाद्वितीययोरचि पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात्।

इति प्राप्ते—

अर्थः—अक् प्रत्याहार से प्रथमा या द्वितीया का अच् पर हो तो पूर्व (अक) पर (अच्) के स्थान पर पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश हो जाता है। इस सूत्र के प्राप्त होने पर [अग्रिम निषेध सूत्र प्रवृत्त होता है।]

व्याख्या—अकः ।५।१। ['अकः सवर्णे दीर्घः' से] प्रथमयोः ।६।२। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है।] पूर्वसवर्णः ।१।१। दीर्घः ।१।१। ['अकः सवर्णे दीर्घः' से] समास—प्रथमा च प्रथमा च=प्रथमे, तयोः=प्रथमयोः, एकशेष। विभक्तियां सात हैं, पहले 'प्रथमा' शब्द से उन में से पहली 'सुँ, औ, जस्' विभक्ति का ग्रहण हो जाता है, दूसरे 'प्रथमा' शब्द से अवशिष्ट छः विभक्तियों में प्रथमा अर्थात् 'अम्, औट्, शस्' का बोध होता है। इस प्रकार 'प्रथमयोः' शब्द से प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति का ग्रहण हो जाता है। पूर्वस्य सवर्णः= पूर्व-सवर्णः, षष्ठीतत्पुरुषसमास। अर्थ—(अकः) अक् प्रत्याहार से (प्रथमयोः) प्रथमा द्वितीया विभक्ति का (अचि) अच् परे हो तो (पूर्वपरयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्व-सवर्णः) पूर्वसवर्ण (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है। तात्पर्य यह है कि अक् और प्रथमा द्वितीया के अच् के स्थान पर एक ऐसा आदेश होता है जो पूर्व वर्ण का सवर्ण होते हुए साथ ही दीर्घ भी होता है। यथा—'इ + औ' के स्थान पर पूर्वसवर्णदीर्घ 'ई' होगा; यह पूर्व का सवर्ण है और दीर्घ भी है। इसी प्रकार—'उ+अ' के स्थान पर 'ऊ', 'ऋ + अ' के स्थान पर 'ॠ' पूर्वसवर्णदीर्घ होगा। इन सब के उदाहरण आगे यत्र तत्र बहुत आएंगे।

'राम+औ' यहां मकारोत्तर अकार अक् से परे 'औ' यह प्रथमा का अच् विद्यमान है; अतः पूर्व + पर के स्थान पर 'आ' यह पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—१२७ नाऽऽदिचि ।६।१।१०१॥

आद् इचि न पूर्वसवर्णदीर्घ । वृद्धिरेचि——रामौ ।

अर्थ —अवर्ण से इच् प्रत्याहार परे होने पर पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश नहीं होता। 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि हो गई तो 'रामौ' सिद्ध हो गया।

व्याख्या—आत् ।५।१। इचि ।७।१। पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। [एक पूर्वपरयोः यह अधिकृत है] पूर्वसवर्णः ।१।१। [प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से] दीर्घः ।१।१। [अकः सवर्णे दीर्घः' से] न इत्यव्ययपदम्। अर्थ —(आत्) अवर्ण से (इचि) इच् प्रत्याहार परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (पूर्वसवर्णः, दीर्घः) पूर्वसवर्णदीर्घ (एकः) एकादेश (न) नहीं होता। अवर्ण को छोड़ सब स्वर इच् प्रत्याहार के अन्तर आ जाते हैं।

राम + औ' यहाँ मकारोत्तर अवर्ण से औ यह इच् प्रत्याहार परे वर्तमान है अतः इस सूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो कर पुनः 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने से—राम् औ='रामौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१२८ बहुषु बहुवचनम् ।१।४।२१॥

बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात्।

अर्थ —बहुत्व अर्थात् दो सङ्ख्या से अधिक सङ्ख्या की विवक्षा हो तो बहुवचन प्रत्यय होता है।

व्याख्या—बहुषु ।७।३। बहुवचनम् ।१।१। यहाँ बहु' शब्द व्याख्यान से बहुत्व वाची है। अर्थ —(बहुषु) बहुत्व की विवक्षा होने पर (बहुवचनम्) बहुवचन प्रत्यय होता है। यदि दो से अधिक सङ्ख्या की विवक्षा होगी तो प्रकृति से बहुवचन प्रत्यय प्रयुक्त किया जायगा।

'राम राम राम' इन तीन रामशब्दों का या इन से अधिक यथेष्ट रामशब्दों का [दो से अधिक की हमें विवक्षा है चाहे तीन हों या सौ इस से कुछ प्रयोजन नहीं] 'सरूपाणाम्–' (१२५) से एकशेष हो राम हुआ। अब प्रथमा विभक्ति के बहुत्व की विवक्षा में 'बहुषु बहुवचनम्' (१२८) द्वारा 'जस्' यह बहुवचन प्रत्यय आकर 'राम + जस्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१२९ चुटू ।१।३।७॥

प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ * स्तः।

* 'चुटू+इतौ' अत्र 'ईदूदेद्—' (५१) इति प्रगृह्यत्वेन प्रकृतिभावोऽवसेयः।

अर्थ —प्रत्यय के आदि में स्थित चवर्ग टवर्ग इत्सञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—प्रत्ययस्य ।६।१। ['ष प्रत्ययस्य' से] आदी ।१।२। ['आदिर्ञिटुडवः' से वचनविपरिणाम कर के] चुटू ।१।२। इतौ ।१।२। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से वचन विपरिणाम द्वारा] समास —चुश्च टुश्च=चुटू, इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ —(प्रत्ययस्य) प्रत्यय के (आदी) आदि में स्थित (चुटू) चवर्ग और टवर्ग (इतौ) इत् सञ्ज्ञक होते हैं।

'राम+जस्' यहां 'जस्' यह प्रत्यय है, इस के आदि में 'ज्' यह चवर्ग स्थित है अतः इस सूत्र से इस की इत् सञ्ज्ञा हो 'तस्य लोपः' (३) से उस का लोप करने पर 'राम+अस्' हुआ। अब यहां 'हलन्त्यम्' (१) से सकार की इत्सञ्ज्ञा प्राप्त होती है, इस पर उस की निवृत्ति के लिये यत्न करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१३० विभक्तिश्च ।१।४।१०३॥

सुँप्तिङौ विभक्ति-सञ्ज्ञौ स्तः।

अर्थः—सुँप् और तिङ् विभक्तिसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—सुँप् ।१।१। ['सुँपः' से विभक्तिविपरिणाम कर के] तिङ् ।१।१। ['तिङस्त्रीणि—' से विभक्तिविपरिणाम कर के] विभक्तिः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थ —(सुप्) सुप् और (तिङ्) तिङ् (विभक्तिः) विभक्तिसञ्ज्ञक होते हैं। 'सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति" [जहां प्रत्यय की सञ्ज्ञा की जाय वहां प्रत्यय के ग्रहण होने पर प्रत्ययान्त का ग्रहण नहीं किया जाता] इस नियम से यहां सुबन्त और तिङन्त की विभक्ति सञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु सुँप् और तिङ् की ही विभक्ति सञ्ज्ञा होती है। सुप् प्रत्याहार 'स्वौजसमौट्—' (११८) सूत्र के 'सुँ' से लेकर सप्तमी के बहुवचन 'सुप्' के पकार तक बनता है। अर्थात् सुँ, औ, जस् आदि इक्कीस प्रत्यय 'सुँप्' सञ्ज्ञक होते हैं। तिङ् प्रत्याहार 'तिप्तस्झि—' (३७५) सूत्र के 'ति' से लेकर 'महिङ्' के ङकार तक बनता है। अर्थात् तिप्, तस्, झि आदि अठारह प्रत्यय 'तिङ्' सञ्ज्ञक होते हैं। इन दोनों सुँप् और तिङ् प्रत्ययों की विभक्ति सञ्ज्ञा है।

अब विभक्तिसञ्ज्ञा का उपयोग बताते हैं—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—१३१ न विभक्तौ तुस्माः ।१।३।४॥

विभक्तिस्थास्तवर्गसकारमकारा नेतः। इति सस्य नेत्त्वम्। रामाः।

अर्थः—विभक्ति में स्थित तवर्ग, सकार, मकार इत्सञ्ज्ञक नहीं होते। इस सूत्र से सकार की इत् सञ्ज्ञा का निषेध हो जाता है।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । विभक्तौ ।७।१। तुस्माः ।१।३। इतः ।१।३। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से वचनविपरिणाम द्वारा] समास—तुश्च स च मश्च = तुस्माः इतरेतर द्वन्द्व । अर्थ—(विभक्तौ) विभक्ति में (तुस्माः) तवर्ग, सकार, मकार (इतः) इत्सञ्ज्ञक (न) नहीं होते ।

इस सूत्र से जस्, शस् भिस्, भ्यस्, ङस् ओस् अम्, भ्याम्, आम् आदि के अन्त्य हल् की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती । तवर्ग के उदाहरण—रामात् सर्वस्मात्, सर्वस्मिन् एधेरन् प्रभृति जानने चाहियें ।

'राम + अस्' यहां 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर उसे बाध कर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप प्राप्त होता है । पुनः उस को भी बाध कर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ आकार करने से 'रामास्' बना । अब पूर्ववत् सकार को रुँ, उकारलोप तथा अवसानसञ्ज्ञक रेफ को विसर्ग करने पर 'रामाः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

किसी को अपनी ओर ध्यान खींचना सम्बोधन कहाता है । यथा—हे राम ! आ इधर ! * इत्यादि । सम्बोधन में भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है [देखो कारकप्रकरण (८८१)] । सम्बोधन के द्योतनार्थ पद के आदि में प्रायः 'हे' 'भोस्' आदि अव्ययों का प्रयोग किया जाता है । कहीं २ इन का प्रयोग नहीं भी होता ।

अब सम्बोधन के एकत्व की विवक्षा में 'राम+सुँ' हुआ । इस अवस्था में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१३२ एकवचनं सम्बुद्धिः ।२।३।४९॥

सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थः—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का एकवचन सम्बुद्धि सञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—सम्बोधने ।७।१। ['सम्बोधने च' सूत्र से] प्रथमायाः ।६।१। ['प्रातिपदिकार्थलिङ्ग ... प्रथमा' से विभक्तिविपरिणाम कर के] एकवचनम् ।१।१। सम्बुद्धिः ।१।१। अर्थः—(सम्बोधने) सम्बोधन में (प्रथमायाः) प्रथमा का (एकवचनम्) एकवचन (सम्बुद्धिः) सम्बुद्धि-सञ्ज्ञक होता है ।

---

* सम्बोधनवाची पद के आगे आजकल '!' ऐसा चिह्न किया जाता है परन्तु प्राचीनकाल में ऐसा कोई चिह्न न था । इस प्रकार के चिह्नों की परिपाटी प्रायः पश्चिम से आई है । इन से वाक्य सुन्दर, असन्दिग्ध और झटिति अर्थप्रत्यायक हो जाते हैं । इन के ग्रहण में कोई लज्जा की बात नहीं । 'विषादप्यमृतं ग्राह्यम्' ।

इस सूत्र से सम्बोधन के 'सुँ' को सम्बुद्धिसञ्ज्ञा हो जाती है। अब सुँलोप के लिये उपयोगी अङ्गसञ्ज्ञा करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१३३ यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् ।१।४।१३।।

यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्नङ्गं स्यात् ।

अर्थः—जो प्रत्यय जिस शब्द से विधान किया जाता है वह है आदि में जिस के ऐसा शब्दस्वरूप उस प्रत्यय के परे होने पर अङ्गसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—यस्मात् ।५।१। प्रत्ययविधिः ।१।१। तदादि ।१।१। प्रत्यये ।७।१। अङ्गम् ।१।१। समासः—विधानं विधिः भावे किप्रत्ययः। प्रत्ययस्य विधिः=प्रत्ययविधिः षष्ठीतत्पुरुषः। सः=प्रकृतिभूतम् आदिर्यस्य शब्दस्वरूपस्य तत्=तदादि। तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(यस्मात्) जिस प्रकृति से (प्रत्ययविधिः) प्रत्यय का विधान हो (तदादि) वह प्रकृति जिस शब्दस्वरूप के आदि में हो ऐसा प्रकृतिसहित शब्दस्वरूप (प्रत्यये) उस प्रत्यय के परे होने पर (अङ्गम्) अङ्गसञ्ज्ञक होता है। उदाहरण यथा—

भू धातु से परे विहित लट् के स्थान पर 'तिप्' प्रत्यय किया तो बना—'भू+तिप्' पुनः भू धातु से परे 'शप्' किया तो 'भू+शप्+तिप्' हुआ। शकार तथा दो पकारों का लोप करने पर 'भू+अ+ति'। अब यहां अङ्गसञ्ज्ञा करते हैं—

"जिस प्रकृति से प्रत्यय का विधान हो"

यहां 'भू' इस प्रकृति से 'तिप्' इस प्रत्यय का विधान किया गया है।

"वह प्रकृति जिस शब्दस्वरूप के आदि में हो, ऐसा प्रकृतिसहित शब्दस्वरूप—"

वह 'भू' प्रकृति 'अ' इस शब्दस्वरूप के आदि में है और प्रकृतिसहित वह शब्दस्वरूप 'भू+अ' है।

"—उस प्रत्यय के परे होने पर अङ्गसञ्ज्ञक होता है।"

वह प्रत्यय 'तिप्' परे है अतः 'भू+अ' इस समुदाय की अङ्गसञ्ज्ञा हुई।

नोट—यदि सूत्र में 'तदादि' यहां 'आदि' ग्रहण न करते तो केवल उस प्रकृति की ही अङ्गसञ्ज्ञा होती, प्रकृति से आगे तथा प्रत्यय से पूर्वस्थित शब्दस्वरूप की न होती। तब उपर्युक्त उदाहरण में केवल 'भू' ही अङ्गसञ्ज्ञक होता 'अ' साथ न होता। 'आदि' ग्रहण से तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमास के कारण दोनों का ग्रहण हो जाता है; कोई दोष नहीं आता।

ज्ञातव्य—बहुव्रीहिसमास में जिन पदों का समास किया जाता है समास हो चुकने पर प्राय उन पदों से भिन्न किसी अन्य पद के अर्थ की ही प्रधानता हो जाया करती है। यथा— 'पीत' शब्द का अर्थ है 'पीला' और 'अम्बर' शब्द का अर्थ है 'कपड़ा'। अब 'पीत' और 'अम्बर शब्द का बहुव्रीहिसमास किया तो बना— 'पीताम्बर'। इस का अर्थ है— पीले कपड़ों वाला'। इस अर्थ में किसी अन्यपदार्थ (पुरुष) की प्रधानता है जिस के पीले कपड़े हैं। इसी प्रकार 'दृष्टा का अर्थ है 'देखी गई' और 'मथुरा का अर्थ है 'एक नगरी'। अब 'दृष्टा' और 'मथुरा' का बहुव्रीहिसमास किया तो बना— दृष्टमथुर'। इस का अर्थ है— जिस ने मथुरा देखी गई है वह पुरुष'। इस अर्थ में किसी अन्यपदार्थ (पुरुष) की प्रधानता है। अत एव बहुव्रीहिसमास अन्य पदार्थ प्रधान कहाता है। इस बहुव्रीहि समास के पुन दो भेद हो जाते हैं— १ तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास २ अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास। जिस बहुव्रीहिसमास में अन्यपदार्थ की प्रधानता के साथ २ समस्यमान पदों के अर्थों का भी प्रवेश हो वह 'तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास' होता है। यथा— पीताम्बर' यहां अन्यपदार्थ=पुरुष की प्रधानता के साथ २ समस्यमान पदों के अर्थ का भी त्याग नहीं हुआ। यदि कहा जाय कि 'पीताम्बरमानय' [पीले कपड़े वाले को लाओ] तो उस पुरुष के साथ पीले कपड़े भी आएंगे। अत यहां तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास है।

जहां अन्यपदार्थ के साथ समस्यमान पदों के अर्थ प्रवेश नहीं होता वह 'अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहिसमास' होता है। यथा—दृष्टमथुर। यहां अन्यपदार्थ=पुरुष की प्रधानता के साथ समस्यमान पदों के अर्थों का प्रवेश नहीं होता। यदि कहा जाय कि— दृष्टमथुरमानय' (जिस ने मथुरा देखी है उसे लाओ) तो उस पुरुष के साथ देखी गई मथुरा नहीं आएगी अत यहां 'अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमास' है। इसी प्रकार 'चित्रगुमानय' आदि में समझना चाहिये। उपर्युक्त सूत्र में 'तदादि' [तत्=प्रकृतिभूतम् आदिर्यस्य तत्=तदादि] यहां 'तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि' समास है अत यहां अन्यपदार्थ [जिस के आदि में प्रकृति होगी] के साथ उस [प्रकृति] की भी अङ्गसञ्ज्ञा हो जायगी।

जहां पर केवलमात्र प्रकृति ही होगी उस से आगे तथा प्रत्यय से पूर्व अन्य कोई न होगा, वहां केवल प्रकृति की ही अङ्गसञ्ज्ञा हो जायगी, अर्थात् व्यपदेशिवद्भाव से 'तदादि' केवल प्रकृति ही समझी जायगी। [देखो—'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (२७८)]

'राम+सुँ' यहां रामशब्द से 'सुँ' प्रत्यय का विधान है अत उस प्रत्यय के परे होने पर तदादि=रामशब्द की अङ्गसञ्ज्ञा हो जाती है।

अब अग्रिमसूत्र में अङ्गसञ्ज्ञा का उपयोग दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१३४ एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः।६।१।६७॥

एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाङ्गाद्धल् लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत् ।

अर्थः—एङन्त अङ्ग तथा ह्रस्वान्त अङ्ग से परे सम्बुद्धि के हल् का लोप हो जाता है।

व्याख्या—एङ्ह्रस्वात् ।५।१। सम्बुद्धेः ।६।१। हल् ।१।१। ['हल्ङ्याब्भ्यो—हल्' से] लोप ।१।१। ['लोपो व्योर्वलि' से] लुप्यत इति लोप, भावे घञ् । समास—एङ् च ह्रस्वश्च=एङ्ह्रस्वम्, तस्मात्=एङ्ह्रस्वात् , समाहारद्वन्द्व । 'एङ् और ह्रस्व से परे सम्बुद्धि के हल् का लोप होता है' ऐसा अर्थ होने से 'हे कतरत् कुल' यहां दोष उत्पन्न होता है । तथाहि—नपुंसकलिङ्ग में 'कतर' शब्द से सम्बुद्धि अर्थात् सम्बोधन का एकवचन 'सुँ' करने पर 'अद्ड् डतरादिभ्य पञ्चभ्य' (२४१) से उस सुँ को अद्ड् आदेश हो जाता है—कतर + अद् (ड्) । पुन डित्त्वसामर्थ्य से रेफोत्तर अकार का लोप हो—कतर + अद्= कतरद्' बनता है । अब 'एङ् और ह्रस्व से परे सम्बुद्धि के हल् का लोप होता है' इस प्रकार का यदि अर्थ होगा तो 'कतर—द' यहां रेफोत्तर ह्रस्व अकार से सम्बुद्धि के हल् दकार का लोप प्राप्त होगा जो अनिष्ट है । अत इसकी निवृत्ति के लिये इस सूत्र में 'अङ्गात्' का अध्याहार किया जाता है [क्योंकि सम्बुद्धि प्रत्यय का विधान होने से एङ् और ह्रस्व सुत राम् अङ्ग होंगे ही ।] । एङ्ह्रस्वात्' को 'अङ्गात् का विशेषण बना तदन्तविधि करने से—'एङन्तह्रस्वान्तादङ्गात्' ऐसा अर्थ निष्पन्न होता है । इस अर्थ के होने से 'कतरद्' आदि में कोई दोष नहीं आता । क्योंकि यहां अङ्ग ह्रस्वान्त नहीं प्रत्युत रेफान्त है रेफोत्तर अकार तो 'अद्ड्' प्रत्यय का ही है । अत दकारलोप न हो कर इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है । अर्थः—(एङ्ह्रस्वात्) एङन्त और ह्रस्वान्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (सम्बुद्धेः) सम्बुद्धि का (हल्) हल् (लोप) लुप्त किया जाता है ।

राम + सुँ='राम + स' यहां 'राम' इस ह्रस्वान्त अङ्ग से परे 'स' यह सम्बुद्धि का हल् वर्तमान है अत इस सूत्र से उस का लोप हो 'राम' यह प्रयोग सिद्ध हुआ । 'हे' आदि साथ जोड़ने से— हे राम ! भो राम !' आदि बनेंगे ।

सम्बोधन का द्विवचन और बहुवचन प्रथमावत् सिद्ध होता है । हे रामौ ! हे रामा ।

नोट—सम्बोधन के द्विवचन और बहुवचन में प्रथमा से कुछ भी भेद नहीं हुआ करता भेद सम्बुद्धि में ही होता है । अत आगे सर्वत्र हम सम्बुद्धि की ही सिद्धि करेंगे । द्विवचन और बहुवचन में स्वयं प्रथमावत् सिद्धि कर लेनी चाहिये ।

अब द्वितीया विभक्ति के रूप सिद्ध किये जाते हैं । द्वितीया के एकवचन में 'राम+अम्' बना । अब यहां क्रमश 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ, 'अतो गुणे' (२७४)

से पररूप तथा 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होते हैं। इस अवस्था में अग्रिमसूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का बाध हो जाता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१३५ अमि पूर्वः ।६।१।१०४॥

अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। रामम्। रामौ॥

अर्थः—अक् से अम् में विद्यमान अच् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर एक पूर्वरूप आदेश होता है।

व्याख्या—अकः ।५।१। ['अकः सवर्णे दीर्घः' से] अमि ।७।१। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है।] पूर्वः ।१।१। अर्थः—(अकः) अक् प्रत्याहार से (अमि) अम् प्रत्यय में स्थित (अचि) अच् के परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्वः) पूर्व वर्ण आदेश हो जाता है।

राम+अम् यहां मकारोत्तर अकार अक् से परे अम् का अच् अकार है। अतः पूर्व+पर के स्थान पर पूर्व—अकार का रूप हो कर-राम् 'अ म्='रामम्' रूप सिद्ध हुआ।

द्वितीया के द्विवचन में 'राम+औट्' हुआ। टकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत् सञ्ज्ञा हो कर 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो जाता है—राम+औ। अब इस की सिद्धि प्रथमा के द्विवचन के समान हो जाती है। रामौ।

द्वितीया के बहुवचन में 'राम+शस्' हुआ। अब शकार की इत्सञ्ज्ञा करने के लिये अग्रिम+सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१३६ लशक्वतद्धिते ।१।३।८॥

तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकवर्गा इतः स्युः।

अर्थः—तद्धितभिन्न प्रत्यय के आदि में स्थित लकार, शकार और कवर्ग इत् सञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—प्रत्ययस्य ।६।१। ['षः प्रत्ययस्य' से] आदिः ।१।१। ['आदिर्ञिटुडवः' से लिङ्गविपरिणाम कर के] लशकु ।१।१। इत् ।१।१। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से] अतद्धिते ।७।१। समासः—लश्च शश्च कुश्च एषां समाहारः, लशकु, समाहारद्वन्द्वः। न तद्धिते=अतद्धिते, नञ्समासः। अर्थः—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय के (आदिः) आदि में स्थित (लशकु) लकार, शकार और कवर्ग (इत्) इत्सञ्ज्ञक होते हैं (अतद्धिते) परन्तु तद्धित में नहीं होते। तद्धितप्रत्यय में निषेध होने से कप्, ल, मिनि, श, शस् लच आदि में इत्सञ्ज्ञा न होगी।

'राम+शस्' यहां 'शस' तद्धित नहीं अतः इस सूत्र से इस के आदि स्थित शकार

की इत्संज्ञा हुई और लोप हो गया—राम + अस । अब 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'रामास्' बन गया । इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१३७ तस्माच्छसो नः पुंसि ।६।१।१००॥

पूर्वसवर्णदीर्घात् परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात् पुंसि ।

अर्थः—पूर्वसवर्णदीर्घ से परे जो शस् का सकार उस के स्थान पर नकार हो पुंल्लिङ्ग में ।

व्याख्या—तस्मात् ।५।१। शसः ।६।१। नः ।१।१। पुंसि ।७।१। नकारादकार उच्चारणार्थ है । 'तद्' शब्द पूर्व का बोध कराया करता है । इस सूत्र से पूर्व 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) में पूर्वसवर्णदीर्घ का प्रकरण है । अतः यहां 'तस्मात्' शब्द से भी 'पूर्वसवर्णदीर्घात्' का ग्रहण होगा । अर्थ—(तस्मात्=पूर्वसवर्णदीर्घात्) उस पूर्वविहित पूर्वसवर्णदीर्घ से परे*(शसः) शस् के स्थान पर (नः) न् हो जाता है (पुंसि) पुंल्लिङ्ग में । 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) से यह नकार आदेश शस् के अन्त्य अल् सकार को ही होगा ।

'रामास्' यहां मकारोत्तर आकार पूर्वसवर्णदीर्घ है अतः इस से परे शस् के सकार को नकार हो कर—'रामान्' बना ।

अब यहां अनिष्ट णत्व प्राप्त होता है । उस का परिहार करने के लिये ग्रन्थकार प्रथम णत्वविधायक सूत्र लिखते हैं ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१३८ अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ।८।४।२॥

अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः समानपदे । इति प्राप्ते—

अर्थः—अट् प्रत्याहार, कवर्ग पवर्ग, आङ् और नुम् इन का अलग २ या यथासम्भव दो तीन अथवा चारों का मिल कर व्यवधान होने पर भी समानपद में रेफ और षकार से परे नकार को णकार हो जाता है । इस सूत्र के प्राप्त होने पर [अग्रिमसूत्र निषेध करता है] ।

व्याख्या—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये ।७।१। अपि इत्यव्ययपदम् । समानपदे ।७।१। रषाभ्याम् ।५।२। नः ।६।१। णः ।१।१। ['रषाभ्यां नो णः समानपदे' से] णकारादकार

---

*जहां पूर्वसवर्णदीर्घ न होगा वहां पर पुंल्लिङ्ग में भी शस् के स् को न् न होगा, जैसे—'गाः' । 'गो—शस्' यहां पर 'औतोऽम्शसोः' (२१४) से पूर्व+पर के स्थान 'आ' आदेश है, तब पूर्वसवर्णदीर्घ की प्राप्ति न होने से न भी न हुआ ।

उच्चारणार्थं । इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' सूत्र पढ़ा गया है। वह सूत्र समानपद में रेफ और षकार से परे अव्यवहित (व्यवधान-रहित) नकार को णकार करता है। यथा—चतुर्णाम्, पुष्णि आदि। परन्तु यह सूत्र 'नराणाम्, पुरुषेण' प्रभृति प्रयोगों में व्यवहित नकार को णकार करने के लिये रचा गया है। समास—अट् च कुश्च पुश्च आङ् च नुम् च=अट्कुप्वाङ्नुम इतरेतरद्वन्द्व। तैर्व्यवायः (व्यवधानम्)= अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायः, तृतीयातत्पुरुष। तस्मिन्=अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये, भावसप्तमी। अर्थ— (अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये) अट्प्रत्याहार, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् इन से व्यवधान होने पर (अपि) भी (रषाभ्याम्) रेफ और षकार से परे (नः) न् के स्थान पर (णः) ण् हो जाता है (समानपदे) समान अर्थात् अखण्ड पद में।

जिस पद के खण्ड अर्थात् टुकड़े कर उन का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग न किया जा सके उसे समानपद या अखण्डपद कहते हैं। 'रामान्' अखण्डपद है इस के खण्ड नहीं किये जा सकते। इसलिये यहां णकार प्राप्त है। 'रघुनाथ, रमानाथ, रामनाम' ये अखण्डपद नहीं इन के खण्ड हो सकते हैं। रघु और नाथ इन दोनों खण्डों का स्वतन्त्र प्रयोग किया जा सकता है। इसलिये इन में णत्व नहीं हुआ।

अब यहां यह विचार उपस्थित होता है कि क्या अट्, कवर्ग आदि सब का व्यवधान हो तो णत्व होता है? या इन में से किसी एक का व्यवधान होने पर णत्व होता है?। पहला पक्ष असम्भव है क्योंकि संस्कृतसाहित्य में ऐसा कोई शब्द नहीं जिस में रेफ या षकार से परे अट्, कवर्ग आदि सब से व्यवहित णकार हो। अतः लक्ष्य (उदाहरण) न मिलने के कारण 'सब का व्यवधान हो तो णत्व होता है' यह पक्ष असङ्गत है। दूसरा पक्ष ठीक है, इस से नराणाम्, कराणाम्, पुरुषेण' आदि प्रयोगों की सिद्धि हो जाती है। 'करणे यजः' (८०७), 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' (९२९) इत्यादि पाणिनिसूत्रों से भी इस पक्ष की पुष्टि होती है। इन सूत्रों में मुनि ने एक २ का व्यवधान होने पर णकार आदेश किया है। किञ्च—इस पक्ष के अतिरिक्त एक अन्य पक्ष भी महामुनि के सूत्रपाठ से पुष्ट होता है। वह यह है कि 'अट्, कवर्ग आदियों में चाहे जितने वर्णों का व्यवधान हो णत्व हो जाय'। मुनि ने—"सरूपाणाम् एकशेष एकविभक्तौ (१२५), कर्मणि द्वितीया (८९१), द्वन्द्वे-पूर्वार्थाभ्यां शौ (२८४), ग्राम्य पशु-सङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री (१।२।७३)" इत्यादि सूत्रों में यथासम्भव अनेकों का व्यवधान होने पर भी णकार आदेश किया है। ग्रन्थकार ने इन दोनों पक्षों का— 'एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च' इन शब्दों से वर्णन किया है। इन के उदाहरण यथा—

अट्—करणम्, हरणम्, करिणा, हरिणा इत्यादि।

कवर्ग—अर्केण मूर्खाणाम् गर्गेण, अर्घेण इत्यादि।

पवर्ग—दर्पेण, रेफेण, गर्भेण चमणा कर्मणा इत्यादि।

आङ्—पर्याणद्धम्, निराणद्धम् इत्यादि।

नोट—इस सूत्र की अनुवृत्ति 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (४९६) सूत्र में जाती है। अतः यहां उस से णत्व हो जाता है। पदव्यवायेऽपि' (८।४।३८) द्वारा निषेध नहीं होता। यही इस के ग्रहण का प्रयोजन है। इस पर विस्तृत विचार व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

नुम्—बृंहणम्, तृंहणम् इत्यादि। यहां 'नुम्' से अनुस्वार अभिप्रेत है। वह अनुस्वार चाहे 'नुम्' के स्थान पर हुआ हो या स्वाभाविक हो इस से कुछ प्रयोजन नहीं। यथा—'बृंहणम्' यहां नुम् के स्थान पर अनुस्वार हुआ २ है। 'तृंहणम्' यहां स्वाभाविक अनुस्वार है।

सूचना—सम्पूर्ण णत्वप्रकरण में रेफ और षकार की तरह ऋवर्ण का भी णत्व में निमित्त समझना चाहिये। अतएव 'अप्तृन्तृच् प्रशास्तृणाम्' (२०१) इत्यादि मुनिवर के निर्देश उपलब्ध होते हैं। आगे चल कर ग्रन्थकार 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा० २०) इस वार्त्तिक को स्वयं ही उद्धृत करेंगे।

रामान्=र्+आ+म्+आ+न्। यहां रेफ से परे आ=अट्, म्=पवर्ग, आ=अट् इन तीन वर्णों से व्यवहित नकार है अतः 'अट्कु—' सूत्र से णकार प्राप्त होता है। अब इस का अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेधसूत्रम्—१३६ पदान्तस्य।८।४।३७॥

नस्य णो न। रामान्।

अर्थः—पदान्त नकार को णकार नहीं होता।

व्याख्या—पदान्तस्य।६।१। न।६।१। णः।१।१। ['रषाभ्यां नो णः समानपदे' से] न इत्यव्ययपदम्। ['न भाभूपू—' से] अर्थ—(पदान्तस्य) पद के अन्त वाले (न) न् के स्थान पर (णः) ण् आदेश (न) नहीं होता।

'रामान्' यह सुँबन्त होने से 'सुँप्तिङन्तं पदम्' (१४) के अनुसार पदसञ्ज्ञक है। यहां 'न्' पदान्त है। अतः 'पदान्तस्य' से णकार का निषेध हो गया। 'रामान्' रूप सिद्ध हो गया।

[लघु०] विधिसूत्रम्—१४० टाङसिङसामिनात्स्याः।७।१।१२॥

अदन्तात् टादीनामिनादयः स्युः । णत्वम्—रामेण ।

अर्थ—अदन्त (अङ्ग) से परे टा को इन, ङसि को आत् और ङस् का स्य आदेश होता है ।

व्याख्या—अतः ।५।१। ['अतो भिस ऐस्' से] अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है, इस का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है] टाङसिङसाम् ।६।३। इनात्स्याः ।१।३। 'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि हो जाती है—'अदन्ताद् अङ्गात्' । अर्थ —(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (टा ङसि ङसाम्) टा ङसि, ङस् के स्थान पर (इनात्स्याः) इन, आत्, स्य आदेश हो जाते हैं । 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) के अनुसार आदेश क्रमशः होंगे ।

राम + टा' यहां 'राम' अदन्त अङ्ग है । इस से परे 'टा' का इन आदेश हो जाता है । 'राम + इन' इस अवस्था में आद् गुणः (२७) से गुण एकादेश तथा अट्कु—(१३८) से णकार आदेश हो कर रामेण' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां 'पदान्तस्य' (१३९) द्वारा णत्व का निषेध नहीं होता, क्योंकि यहां न् पदान्त नहीं, पदान्त अ है ।

तृतीया के द्विवचन में भ्याम्' आने पर 'राम+भ्याम्' हुआ । अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१४१ सुपि च ।७।३।१०२॥

यञादौ सुपि अतोऽङ्गस्य दीर्घः । रामाभ्याम् ।

अर्थ—यञादि सुप् परे होने पर अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो जाता है ।

व्याख्या—यञि ।७।१। ['अतो दीर्घो यञि' से] सुपि ।७।१। अतः ।६।१। ['अतो दीर्घो यञि' से] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] दीर्घः ।१।१। ['अतो दीर्घो यञि' से] । यञि' पद 'सुपि' पद का विशेषण है और अल् है इस लिये इस से तदादिविधि हो कर 'यञादौ सुपि' बन जायगा । अतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तस्य अङ्गस्य' हो जायगा । अर्थ —(यञि) यञादि (सुपि) सुप् परे होने पर (अतः) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है । यञ् एक प्रत्याहार है यञादि सुप्—भ्याम्, भ्यस् आदि हैं ।

'राम+भ्याम्' यहां 'भ्याम्' यञादि सुप् है, अतः 'राम' इस अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो— 'रामाभ्याम्' प्रयोग सिद्ध हुआ ।

तृतीया के बहुवचन में 'भिस' प्रत्यय आकर 'राम+भिस' हुआ। अब 'सुँपि च' (१४१) से दीर्घ के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१४२ अतो भिस ऐस् ।७।१।९।।

अनेकाल्शित सर्वस्य । रामैः ।

अर्थः—अदन्तादङ्गात् परस्य भिस ऐस् स्यात् । अदन्त अङ्ग से परे भिस के स्थान पर ऐस हो जाता है ।

व्याख्या—अतः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है, इस की विभक्ति का यहां विपरिणाम हो जाता है ।] भिसः ।६।१। ऐस् ।१।१। 'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि हो जायगी । अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (भिसः) भिस के स्थान पर (ऐस्) ऐस हो जाता है । यह आदेश 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) से उत्तर भिस् को होता है, पर 'भिसः' के षष्ठीनिर्दिष्ट होने से 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) द्वारा अन्त्य सकार को प्राप्त होता है, फिर 'आदेः परस्य' (७२) से पूर्व को प्राप्त है उस को बान्ध कर अनेकाल्शित् सर्वस्य' (४५) द्वारा सम्पूर्ण भिस के स्थान पर हो जाता है ।

'राम + भिस' यहां 'राम' यह अदन्त अङ्ग है अतः इस से परे प्रकृत सूत्र द्वारा भिस के स्थान पर ऐस हो कर—राम+ऐस् । अब 'वृद्धिरेचि (३३) से पूर्व + पर के स्थान पर 'ऐ' वृद्धि हो रुत्व विसर्ग करने से—'रामैः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

अब रामशब्द के चतुर्थी विभक्ति के रूप सिद्ध किये जाते हैं । एकवचन में 'राम + ङे' हुआ । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१४३ ङेर्यः ।७।१।१३।।

अतोऽङ्गात् परस्य ङेर्यादेशः ।

अर्थः—अदन्त अङ्ग से परे 'ङे' के स्थान पर 'य' आदेश हो ।

व्याख्या—अतः ।५।१। ['अतो भिस ऐस' से] अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है । यहां विभक्तिविपरिणाम हो जाता है ।] ङेः ।६।१। [ङे + ङस=ङे+अस्=ङेस्=ङेः, 'ङसिँङसोश्च' ति पूर्वरूपम् ।] यः ।१।१। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (ङेः) ङे के स्थान पर (यः) 'य' आदेश होता है । ध्यान रहे कि 'य' आदेश सस्वर है ।

'राम + ङे' यहां 'राम' यह अदन्त अङ्ग है अतः इस से परे ङे को 'य' आदेश हो—'राम+य' हुआ । यहां 'य' यञादि तो है पर सुप् नहीं । सुप् तो 'ङे' था, वह

अब रहा नहीं। अत 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ प्राप्त नहीं हो सकता। अब य में सुप्त्व धर्म लाने के लिये अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश सूत्रम्—१४४ स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ।१।१।५५।

आदेशः स्थानिवत् स्यात्, न तु स्थान्यलाश्रयविधौ। इति स्थानिवत्त्वात् 'सुपि चे' ति दीर्घ'—रामाय। रामाभ्याम्।

अर्थ'—आदेश स्थानी के समान होता है परन्तु स्थानी अल् के आश्रित यदि कार्य करना हो तो नहीं होता। इस सूत्र से यकार के स्थानिवत् हो जाने से 'सुपि च' से दीर्घ हो कर 'रामाय' हुआ।

व्याख्या—स्थानिवत् इत्यव्ययपदम्। आदेश ।१।१। अनल्विधौ ।७।१। समास—स्थानिना तुल्य इति स्थानिवत् 'तेन तुल्य क्रिया चेद् वति' (११४८) इति वतिप्रत्यय। १ अला विधि=अल्विधि, तृतीयातत्पुरुष। २ अल (परस्य) विधि=अल्विधि, पञ्चमी तत्पुरुष। ३ अल (स्थाने) विधि=अल्विधि, षष्ठीतत्पुरुष। ४ अलि (परे) विधि=अल्विधि, सप्तमीतत्पुरुष। न अल्विधि=अनल्विधि तस्मिन्=अनल्विधौ, नञ्तत्पुरुष। यहां अल् स्थानी या स्थानी का अवयव ही ग्रहण किया जाता है। अर्थ—(आदेश) आदेश (स्थानिवत्) स्थानी के समान होता है। परन्तु (अनल्विधौ) स्थान्यल् द्वारा, स्थान्यल से पर स्थान्यल् के स्थान पर या स्थान्यल् के परे होने पर विधि करनी हो तो स्थानिवत् नहीं होता। भाव—जिस के स्थान पर कुछ किया जाय उसे 'स्थानी' कहते हैं। यथा—'ङेर्यः' (१४३) द्वारा 'ङे' के स्थान पर 'य' किया जाता है अत ङे' स्थानी है। 'इको यणचि' (१५) द्वारा इक् के स्थान पर यण किया जाता है अत 'इक' स्थानी है। जो स्थानी के स्थान पर किया जाता है उसे 'आदेश' कहते हैं। यथा—'ङेय' (१४३) में य और 'इको यणचि' (१५) में यण् आदेश है। "आदेश स्थानिवत्=स्थानी के समान होता है" अर्थात् जो कार्य स्थानी के होने से सिद्ध होते हैं वे आदेश के होने से भी सिद्ध हो जाते हैं। उदाहरण यथा—

'राम+य' यहां 'य' यञादि तो है पर सुप नहीं, अत 'सुपि च' (१४१) प्राप्त नहीं हो सकता। अब प्रकृत सूत्र द्वारा आदेश 'य' के स्थानिवत्=ङेवत् होने से 'य' में सुप्त्व धर्म आ जाने के कारण 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ हो कर—'रामाय' रूप सिद्ध हो जाता है।

निम्नलिखित अवस्थाओं में आदेश स्थानिवत् न होगा—

(१) स्थानी अल् के द्वारा कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा—'व्यूढोरस्केन' [व्यूढम् उरो यस्य स व्यूढोरस्कः, तेन=व्यूढोरस्केन।

बहुव्रीहिसमास ।] यहां विसर्ग के स्थान पर 'सोऽपदादौ' (८।३।३८) से सकार हुआ है। वार्त्तिककार एवं भाष्यकार ने विसर्ग का अट् प्रत्याहार में पाठ माना है। अब यदि इस सकार को स्थानिवद्भाव से विसर्ग मान लें तो यह अट् प्रत्याहार के अन्तर्गत हो जायगा। तब 'अट्कु—' (१३८) द्वारा नकार को णकार प्राप्त होगा जो अनिष्ट है। यहां स्थानी=विसर्ग=अल् के द्वारा णत्वविधि करनी है अतः आदेश=स स्थानिवत्=विसर्गवत् न होगा।

(२) स्थानी अल् से परे कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा—द्यौः। 'दिव्' शब्द से सुँ प्रत्यय करने पर 'दिव औत्' (२६४) सूत्र द्वारा 'व्' को 'औ' हो—'दि औ स' बना। अब यहां 'औ' इस आदेश को स्थानिवत् अर्थात् वकारवत् हल् मानने से 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७९) द्वारा सकार का लोप प्राप्त होता है जो अनिष्ट है। यहां स्थानी अल्=वकार से परे लोपविधि करनी है अतः आदेश (औ) स्थानिवत् (वकारवत्) न होगा।

(३) स्थानी अल् के स्थान पर कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा—द्युकामः। यहां 'दिव्+काम' में 'दिव उत्' (२६५) सूत्र द्वारा 'व्' को 'उ' होता है। यदि इस 'उ' आदेश को स्थानिवत्=वकारवत् मानें तो उस के वल् प्रत्याहार के अन्तर्गत होने के कारण 'लोपो व्योर्वलि' (४२१) द्वारा वकारलोप प्राप्त होता है जो अनिष्ट है। यहां स्थानी अल्=वकार के स्थान पर लोपविधि करनी है अतः आदेश (उ) स्थानिवत् (वकारवत्) न होगा।

(४) स्थानी अल् के परे होने पर उस से पूर्व कोई विधि करनी हो तो भी आदेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा—क इष्टः। 'इष्टः' यहां यजँधातु के यकार के स्थान पर इकार किया गया है। 'कस्+इष्ट' यहां 'ससजुषो रुँः' (१०५) से रुँ आदेश कर अनुबन्धलोप किया तो—'कर्+इष्ट' हुआ। अब यहां 'इष्ट' के इकार आदेश को स्थानिवत्=यकारवत् हश्प्रत्याहारान्तर्गत मानें तो 'हशि च' (१०७) से रेफ के स्थान पर उत्व प्राप्त होता है जो अनिष्ट है। यहां स्थानी अल् यकार है उस के परे होने पर उस से पूर्व रेफ को उत्वविधि करनी है अतः आदेश (इ) स्थानिवत् (यकारवत्) न होगा।

नोट—इस सूत्र पर उपयोगी सब बातें हम ने लिख दी हैं। विद्यार्थियों को इस सूत्र का खूब अभ्यास कर लेना चाहिये आगे व्याकरण में यत्र तत्र इस का बहुत उपयोग होगा।

चतुर्थी के द्विवचन में 'रामाभ्याम्' पूर्ववत् सिद्ध होता है।

चतुर्थी के बहुवचन में 'भ्यस्' प्रत्यय आ कर 'राम+भ्यस्' हुआ। अब 'सुँपि च' (१४१) के प्राप्त होने पर, उस का अपवाद अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१४५ बहुवचने झल्येत् ।७।३।१०३॥

झलादौ बहुवचने सुपि अतोऽङ्गस्यैकारः । रामेभ्यः । सुपि किम् ? पचध्वम् ।

अर्थः—झलादि बहुवचन सुप् परे हो तो अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो ।

व्याख्या—अतः ।६।१। ['अतो दीर्घो यञि' से । यहां विभक्ति का विपरिणाम हो जाता है] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] बहुवचने ।७।१। झलि ।७।१। सुँपि ।७।१। ['सुँपि च' से] एत् ।१।१। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि तथा 'सुँपि' का विशेषण होने से 'झलि' से 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा तदादिविधि हो जाती है । अर्थ —(झलि=झलादौ) झलादि (बहुवचने) बहुवचन (सुपि) सुप् परे हो तो (अतः=अदन्तस्य) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (एत्) ए आदेश हो जाता है । 'अचश्च' (१।२।२८) और 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषाओं द्वारा यह 'ए' आदेश अन्त्य अच्=अत् के स्थान पर ही होगा ।

'राम+भ्यस्' यहां 'भ्यस्' बहुवचन है, इस के आदि में भकार झल् है और यह सुँप् भी है । अतः इस के परे होने से प्रकृत सूत्र द्वारा मकारोत्तर अकार को एकार हो सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'रामेभ्यः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'सुँपि' कथन से इस सूत्र की प्रवृत्ति सुँप् में ही होती है । अन्यथा 'पचध्वम्' [तुम सब पकाओ] यहां भी एकार आदेश हो 'पचेध्वम्' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता । 'ध्वम्' झलादि बहुवचन तो है पर सुँप् नहीं तिङ् है । इसकी साधनप्रक्रिया तिङन्तप्रकरण में स्पष्ट होगी ।

अब रामशब्द के पञ्चमी के रूप सिद्ध किये जाते हैं । पञ्चमी के एकवचन में ङसिँ प्रत्यय आ कर 'राम+ङसिँ' बना । इस अवस्था में 'टाङसि—' (१४०) द्वारा ङसिँ को आत् आदेश हो सवर्णदीर्घ करने पर— रामात् हुआ । अब तकार झल् के पदान्त होने से 'झलां जशोऽन्ते' (६७) द्वारा तकार को दकार करने से—'रामाद्' । इस अवस्था में 'विरामोऽवसानम्' (१२४) सूत्र से दकार की अवसानसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१४६ वाऽवसाने ।८।४।५६॥

अवसाने झलां चरो वा । रामात्, रामाद् । रामाभ्याम् । रामेभ्यः । रामस्य ।

अर्थः—अवसान में झलों को चर् विकल्प से हो।

व्याख्या—अवसाने ।७।१। झलाम् ।६।३। [झला जश्झशि' से] चर् ।१।१। [अभ्यासे चर्च' से] वा इत्यव्ययपदम्। अर्थ—(अवसाने) अवसान में (झलाम्) झलों के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (चर) चर् हो जाते हैं।

रामाद्' यहां अवसान में इस सूत्र से दकार झल का तकार चर् विकल्प से आदेश करने पर—'रामात्, रामाद्' दो रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—अनेक वैयाकरण 'वाऽवसाने' (१४६) सूत्र को 'झला जशोऽन्ते' (६७) सूत्र का अपवाद मानते हैं। अत 'रामात्' में प्रथम 'वाऽवसाने' (१४६) से तकार को तकार कर पक्ष में 'झला जशोऽन्ते' (६७) द्वारा दकार किया करते हे। किन्च——जहा २ कौमुदी में 'जश्त्व चर्त्वे' [जश्त्व और चर्त्व होते हैं] लिखा रहता है, वे वहां जश तु अचर्त्वे' [चर्त्वाभावपक्ष में जश् हो जाता है] ऐसा पदच्छेद स्वीकार किया करते हैं। परन्तु——— हमारी सम्मति में यह मत युक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि ऐसा मानने स रत्नमुष' शब्द के 'रत्नमुट, रत्नमुड्' ये दो रूप न बन सकेंगे। तथाहि—प्रथम चर्त्व करने से षकार को षकार हो कर—'रत्नमुष' बनेगा। तदनन्तर जश्त्व हो—रत्नमुड'। इस प्रकार रत्नमुष्, रत्नमुड' ये दो रूप बन जायेंगे 'रत्नमुट्' रूप न बन सकेगा। यद्यपि वे इस का 'ष्णान्ता षट्' (२६७) आदि निर्देशों से परिहार किया करते हैं, तथापि उन निर्देशो से उन २ कल्पनाओं के करने की अपेक्षा प्रथम जश्त्व कर तदनन्तर चर्त्व करने में ही लाघव प्रतीत होता है। इस का विशेष विवरण हमारी सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

पञ्चमी के द्विवचन में पूर्ववत रामाभ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है। बहुवचन मे चतुर्थी विभक्ति के बहुवचन के समान 'रामेभ्य' रूप बनता है।

अब रामशब्द से षष्ठी के बहुवचन में 'ङस्' प्रत्यय आता है और 'टाङसिङसामि नात्स्याः' (१४०) सूत्र से उस के स्थान पर 'स्य' आदेश हो कर 'रामस्य' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

षष्ठी के द्विवचन में 'ओस्' प्रत्यय आ कर 'राम+ओस्' हुआ। अब वृद्धि एकादेश को बान्धकर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१४७ ओसि च ।७।३।१०४॥

(ओसि परे) अतोऽङ्गस्यैकारः। रामयो।

अर्थ—ओस परे होने पर अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो।

व्याख्या—ओसि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अत ।६।१। [अतो दीर्घो यञि से] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] एत् ।१।१। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'अत' से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थ—(ओसि) ओस परे होने पर (अत) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (एत्) 'ए' आदेश हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अल् अकार को ही एकार आदेश होगा ।

राम + ओस' यहां अदन्त अङ्ग 'राम' है । उस से परे ओस् है । अतः 'ओसि च' से अङ्ग के अन्त्य अकार को एकार हो कर 'रामे + ओस्' इस अवस्था में एचोऽयवायावः (२२) से एकार के स्थान पर अय् आदेश हो जाता है—रामयोस् । अब सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'रामयोः' रूप सिद्ध होता है ।

षष्ठी के बहुवचन में 'आम्' प्रत्यय आ कर 'राम + आम्' हुआ । अब सवर्णदीर्घ के प्राप्त होने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

(लघु०) विधि सूत्रम्—१४८ ह्रस्वनद्यापो नुट् ।७।१।५४॥

ह्रस्वान्ताद् नद्यन्ताद् आबन्ताच्चाङ्गात् परस्यामो नुडागमः ।

अर्थ—ह्रस्वान्त, नद्यन्त तथा आबन्त अङ्गों से परे आम् का अवयव नुट् हो जाता है ।

व्याख्या—ह्रस्वनद्यापः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। [अङ्गस्य यह अधिकृत है । यहां विभक्ति का विपरिणाम हो जाता है] आमः ।६।१। ['आमि सर्वनाम्नः सुट्' से विभक्ति विपरिणाम कर के] नुट् ।१।१। समास—ह्रस्वश्च नदी च आप् च=ह्रस्वनद्याप्, समाहार द्वन्द्व । तस्मात्=ह्रस्वनद्यापः । यह 'अङ्गात्' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थ—(ह्रस्वनद्यापः) ह्रस्वान्त, नद्यन्त तथा आबन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (आमः) आम् का अवयव (नुट्) नुट् हो जाता है । नुट् टित् है अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' (८१) द्वारा 'आम्' का आद्यवयव होगा ।

'राम+आम्' यहां 'राम' ह्रस्वान्त अङ्ग है, इस से परे आम् विद्यमान है । अतः प्रकृतसूत्र से आम् का आद्यवयव नुट् हो गया—'राम+नुट् आम' । नुट् में टकार 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्संज्ञक है, उकार उच्चारणार्थ है; न् अवशिष्ट रहता है । 'राम + नाम्' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१४९ नामि ।६।४।३॥

(नामि परे) अजन्ताङ्गस्य दीर्घः । रामाणाम् । रामे । रामयोः । एत्वे कृते—

अर्थ —नाम् परे हो तो अजन्त अङ्ग के स्थान पर दीर्घ हो जाता है। बहुवचन में णत्व करने पर (अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है।)

व्याख्या—नामि ।७।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] दीर्घ ।१।१। ['ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] 'अचश्च' (१ २८) परिभाषा द्वारा 'अचः' पद उपस्थित हो कर 'अङ्गस्य' का विशेषण बन जाता है अतः इस से तदन्त विधि हो कर 'अजन्तस्य' बन जायगा। अर्थ —(नामि) नाम् परे होने पर (अचः) अजन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा द्वारा यह दीर्घ अजन्त अङ्ग के अन्त्य अल्=अच् का ही होगा।

'राम+नाम्' यहां नाम् परे होने से अजन्त अङ्ग 'राम' के अन्त्य अकार को दीर्घ हो कर 'रामा नाम्'। अब इस अवस्था में 'अट्कुप्वाङ्–'(१३८) से आ=अट्, म्=पवर्ग, आ=अट् के व्यवधान होने पर भी नकार के स्थान पर णकार हो कर—'रामाणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में 'ङि' प्रत्यय आ कर 'राम+ङि' हुआ। ङकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से इत् सञ्ज्ञा हो लोप करने पर 'राम+इ' बना। अब 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश हो कर 'रामे' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के द्विवचन में 'रामयोः' रूप षष्ठी के द्विवचन की तरह सिद्ध होता है।

सप्तमी के बहुवचन में 'राम+सुप्' यहां पकार की इत्सञ्ज्ञा और लोप हो कर 'बहुवचने झल्येत्' (१४४) से मकारोत्तर अकार को एकार आदेश करने पर 'रामे+सु' हुआ। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१५० आदेशप्रत्यययोः ।८।३।५९॥

इण्कुभ्यां परस्यापदान्तस्यादेशः, प्रत्ययावयवश्च यः सस्तस्य मूर्धन्यादेशः। ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः। रामेषु। एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः।

अर्थः—इण् प्रत्याहार और कवर्ग से परे अपदान्त जो आदेशरूप सकार अथवा प्रत्यय का अवयव जो सकार उस के स्थान पर मूर्धन्य (मूर्धास्थान वाला) आदेश हो। ईषद्विवृतप्रयत्न वाले सकार के स्थान पर वैसा ईषद्विवृत षकार ही होगा। इसी प्रकार 'कृष्ण' आदि अदन्त (पुंलिङ्ग) शब्दों के रूप बनेंगे।

व्याख्या—इण्कोः ।५।१। [यह अधिकृत है] आदेशप्रत्यययोः ।६।२। अपदान्तस्य ।६।१। ['अपदान्तस्य मूर्धन्यः' यह अधिकृत है] सः ।६।१। ['सहेः साडः सः' से] मूर्धन्यः ।१।१। समासः—इण् च कुश्च=इण्कु तस्मात्=इण्कोः, समाहारद्वन्द्वः। पुंस्त्व

मार्षम् । आदेशश्च प्रत्ययश्च=आदेश प्रत्ययौ तयो =आदेश प्रत्यययो , इतरेतरद्वन्द्व । यहां व्याख्यान द्वारा 'आदेश' के साथ अभेदात्मिका षष्ठी और 'प्रत्यय' के साथ अवयवषष्ठी है । अर्थात 'आदेशस्य = आदेश का सकार' इस का तात्पर्य होगा—'आदेशरूप सकार' । 'प्रत्ययस्य=प्रत्यय का सकार' इस का तात्पर्य होगा—'प्रत्यय का अवयव सकार' । यदि आदेशस्य यहां अभेदात्मिका षष्ठी न मान कर अवयवषष्ठी मानते हैं तो निसृणाम्' यहां भी 'निस' आदेश के अवयव सकार का इण् से परे मूर्धन्य प्राप्त होता है जो अनिष्ट है । अभेदात्मिका षष्ठी मानने से कोई दोष नहीं आता क्योंकि 'निस्' में सकार आदेशरूप नहीं , आदेश का अवयव है । आदेशरूप तो 'निस' सम्पूर्ण है । इसी प्रकार यदि 'प्रत्ययस्य' यहां अवयवषष्ठी न मान कर अभेदात्मिका षष्ठी मानें तो "रामेषु हरिषु करोषि चिनोषि" आदि प्रयोग तथा "हलि सर्वेषाम् (१०१) बहुषु बहुवचनम् (१२८) लिङ्सिचावात्मनेपदेषु (४८१)' इत्यादि पाणिनि के निर्देश अनुपपन्न होंगे। तब 'सात्पदाद्योः' (१२४१) सूत्र द्वारा सात् को षत्व करने का निषेध भी अयुक्त हो जायगा । अत 'प्रत्ययस्य' में अवयव षष्ठी ही युक्तियुक्त कार्यसाधिका तथा पाणिनि सम्मत है । अथ —(इण्कोः) इण् प्रत्याहार या कवर्ग से परे (आदेश प्रत्यययो) आदेशरूप या प्रत्यय के अवयव (अपदान्तस्य) अपदान्त (स) स के स्थान पर (मूर्धन्य) मूर्धास्थानीय वर्ण आदेश होता है ।

यहां इण्प्रत्याहार (११) सूत्र पर लिखी व्यवस्थानुसार पर अर्थात् 'लण्' के णकार तक ग्रहण किया जाता है । मूर्ध्नि भव =मूर्धन्य जो वर्ण मूर्धा स्थान से निष्पन्न हो उसे मूर्धन्य कहते हैं । मूर्धन्य वर्ण आठ हैं—ऋ ॠ, ट ठ ड ढ ण र , ष । यहां स्थानी सकार के साथ इन में से किसी का स्थान तुल्य हो यह असम्भव है । अब शेष रहा यत्न । सकार का 'ईषद्विवृत' आभ्यन्तर यत्न तथा 'विवार, श्वास अघोष' बाह्ययत्न है । मूर्धन्य वर्णों में इस प्रकार के यत्न वाला 'ष' के अतिरिक्त अन्य कोई वर्ण नहीं अत सकार के स्थान पर षकार ही मूर्धन्य आदेश होगा ।*

'रामे+सु' यहां मकारोत्तर एकार इण् है । इस से परे 'सु' प्रत्यय के अवयव अपदान्त सकार को इस सूत्र से मूर्धन्य षकार हो कर—'रामेषु' प्रयोग सिद्ध होता है ।

आदेशरूप सकार के उदाहरण— सुष्वाप प्रभृति हैं । इण् कवर्ग से परे षत्व विधान करने से—'रामस्य पुरुषस्य इत्यादियों में सकार को षकार नहीं होता । एवम् 'अपदान्त' कहने से—'कविस्तिष्ठति हरिस्तत्र इत्यादियों में पदान्त सकार को षकार नहीं होता।

---

*यद्यपि मूर्धन्य' के स्थान पर 'ष' लिखने में ही लाघव था तथापि 'इणः षीध्वम्—(५१४) आदि सूत्रों में 'ष की अनुवृत्ति जाने से अनिष्टापत्ति हो जाती क्योंकि एधाञ्चकृढ्वे' में मूर्धन्य ढ अभीष्ट है ष नहीं—अत 'मूर्धन्य' लिखा गया है ।

रामशब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	रामः	रामौ	रामाः
द्वितीया	रामम्	,,	रामान्
तृतीया	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
चतुर्थी	रामाय	,,	रामेभ्यः
पञ्चमी	रामात्, रामाद्	,,	,,
षष्ठी	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
सप्तमी	रामे	,,	रामेषु
सम्बोधन	हे राम !	हे रामौ !	हे रामाः !

यद्यपि ग्रन्थकार ने सम्बोधनविभक्ति को प्रथमाविभक्ति के अनन्तर रखा है, तथापि आजकल यह सब विभक्तियों के अन्त में प्रचलित है। यहां हम ने लौकिकक्रम का अनुसरण किया है।

इस प्रकार सब अकारान्त पुंल्लिङ्गों के उच्चारण होते हैं। जिन में कुछ विशेषता है उन का कथन आगे मूल में स्वयं ग्रन्थकार करेंगे। हम यहां रामवत् कुछ उपयोगी शब्दों का अर्थ सहित सङ्ग्रह दे रहे हैं। जिन शब्दों के आगे '*' इस प्रकार का चिह्न है उन में णत्वविधि जान लेनी चाहिये।

अथ पशुपक्षिकीटादयः।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
		१० कुक्कुर*	कुत्ता	२० खर*	गधा
१ अश्व	घोड़ा	कुञ्जर*	हाथी	गज	हाथी
उलूक	उल्लू	कुरङ्ग*	हरिण	गण्डक	गैण्डा
उष्ट्र*	ऊँट	कूर्म*	कछुआ	गर्दभ	गधा
कपोत	कबूतर	कृकलास	गिरगिट	गृध्र*	गीध
५ काक	कौआ	१५ कोक	चकवा	२५ घोटक	घोड़ा
कीट	कीड़ा	कोल	सूअर	चकोर*	चकोर
कीर*	तोता	कौशिक	उल्लू	चरणायुध	मुर्गा
कीश	बानर	खग	पक्षी	चाष*	नीलकण्ठ
कुक्कुट	मुर्गा	खद्योत	जुगनू	चिल्ल	चील

शब्द	अर्थ
३० छाग	बकरा
ज्योतिरिङ्गण	जुगनू
ताम्रचूड	मुर्गा
तुरङ्ग*	घोड़ा
दिवान्ध	उल्लू
३५ द्विरद	हाथी
ध्वाङ्क्ष*	कौआ
नकुल	नेवला
नक्र*	नाका
पारावत	कबूतर
४० पिक	कोयल
बर्हिण	मोर
भालुक	रीछ
भृङ्ग*	भ्रमर
भेक	मेंढक
४५ भ्रमर*	भौंरा
मकर*	मगरमच्छ
मण्डूक	मेंढक
मत्कुण	खटमल
मत्स्य	मच्छ
५० मधुप	भौंरा
मयूर*	मोर
मर्कट	बन्दर
मशक	मच्छर
महिष*	भैंसा
५५ मार्जार*	बिल्ला
मूषिक*	चूहा
मृग*	हरिण
मृगादन	चीता

शब्द	अर्थ
मेष*	मेढ़ा
६० बक	बगुला
वराह*	सूअर
वर्त्तक	बटेर
वायस	कौआ
वानर*	बन्दर
६५ वृक*	भेड़िया
वृश्चिक	बिच्छू
वृषभ*	बैल
शलभ	पतङ्गा
शशक	खरगोश
७० शाखामृग*	बन्दर
शुक	तोता
शृगाल	गीदड़
श्येन	बाज
षट्पद	भ्रमर
७५ सर्प*	सांप
सारमेय*	कुत्ता
सारङ्ग*	पपीहा
हरिण	मृग

अथ सम्बन्धवाचकाः ।

शब्द	अर्थ
अग्रज	बड़ा भाई
८० आवुत्त	बहनोई
जनक	पिता
तनय	पुत्र
देवर*	देवर
दौहित्र*	दोहता
८५ धव	पति
पितामह	दादा
पितृव्य*	चाचा
पितृ	
ष्वस्रेय*	बुआ का पुत्र
पौत्र*	पोता
९० प्रपितामह	परदादा
प्रपौत्र*	परपोता
भगिनी	
पुत्र*	भाजा
भागिनेय	भांजा
भ्रातृव्य*	भतीजा, शत्रु
९५ भ्रात्रीय*	भतीजा
मातामह	नाना
मातुल	मामा
मातुलेय	मामा का पुत्र
मातृ	
ष्वस्रेय*	मौसी का पुत्र
१०० वैमात्रेय*	सौतेला भाई
श्याल	साला
श्वशुर*	ससुर
सोदर*	सगा भाई
स्वस्रीय*	भांजा

अथ खाद्यान्नादिवाचकाः ।

शब्द	अर्थ
१०५ अपूप	पूआ
अक्षोटक	अखरोट
आम्र*	आम
कुलत्थ	कुल्थी
केशर*	केसर
११० कोविदार*	कचनार
खर्जूर*	खजूर

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
गुड	गुड	अर्चक	पुजारी	अविनीत	अनम्र
गृञ्जन	गाजर	अश्वारोह*	घुड़सवार	देव	देवता
गोधूम	गन्दुम	आलोचक	आलोचना	धनिक	धनी
११५चणक	चना		करने वाला	१७०नट	नटवा
चम्पक	चम्पा	आसिक	तलवारदार	नमद्	मसखरा
तिल	तिल		योद्धा	नापित	नाई
दशाङ्गुल	खरबूजा	१४५ऐकागा		नाविक	मल्लाह
दाडिम	अनार	रिक*	चोर	निशाचर*	राक्षस
१२ नारिकेल	नारियल	कर्णेजप	चुगलखोर	१७५निःसंज्ञ	बेहोश
निम्ब	नीम	काण	काना	निःस्व	निधन
पटोल	परवल	कृतघ्न	नाशुक्रगुजार	नृप*	राजा
परुषक*	फालसा	कृतज्ञ	शुक्रगुजार	नैयायिक	न्याय
पर्पट	पापड़	१५०कृपण	कंजूस		शास्त्रवेत्ता
१२५पुष्पराज	गुलाब	केशव	श्रीकृष्ण	न्यायाधीश	जज
बिभीतक	बहेड़ा	कोविद	पण्डित	१८०पथिक	मुसाफिर
माष*	माष	क्षत्रिय*	क्षत्री	परिचारक*	सेवक
मुद्ग	मूंग	खल	दुष्ट	पाचक	रसोइया
लवङ्ग	लौंग	१५५गृधन	लोभी	पुरन्दर*	इन्द्र
१३०वटक	पकौड़ा	गुप्तचर*	सी आई डी	बधिर*	बहरा
वाताद	बादाम	घस्मर*	पेटू	१८५बालचर*	स्काउट
वेशवार*	मसाला	चिकित्सक	वैद्य	भारक*	कुली
शाक	तरकारी	चिरक्रिय*	सुस्त	मन्मथ	कामदेव
सर्षप*	सरसों	१६०जागरूक*	सावधान	मल्ल	पहलवान
१३५सयाव	हलुआ	जाल्म	असमीक्ष्य	मायिक	मायावी
अथ मनुष्यवर्गस्थ-शब्दाः ।			कारी	१९०पितम्पच	कंजूस
अकिञ्चन	निर्धन	जिह्म	कुटिल	मीमांसक	मीमांसा
अज्ञ	मूर्ख	तस्कर*	चोर		शास्त्रवेत्ता
अध्यापक	पढ़ाने वाला	तूष्णीक	चुप	याचक	मांगने वाला
अध्वनीन	मुसाफिर	१६५दर्शक	देखने वाला	याष्टीक	लाठीधारी
१४०अन्ध	अन्धा	दानव	दैत्य		योद्धा

शब्द	अर्थ
राथक	रथी
१९५वक्र*	टेढ़ा
वचनेस्थित	आज्ञाकारी
विप्र *	ब्राह्मण
वैयाकरण	व्याकरण वेत्ता
वैश्य	वैश्य
२००वैहासिक	मसखरा
शाक्तीक	शक्तिधारी योद्धा
शूद्र*	शूद्र
सतीर्थ्य	सहपाठी
सहृदय	काव्यमर्म वेत्ता
२०५स्तावक	स्तुति करने वाला
स्वच्छन्द	स्वतन्त्र

अथ व्यावसायिक-शब्दाः ।

शब्द	अर्थ
अधमर्ण	कर्ज़ा लेने वाला
अयस्कार*	लोहार
आपणिक	दुकानदार
२१०उत्तमर्ण	कर्ज़ा देने वाला
कान्दविक	हलवाई
कुम्भकार*	कुम्हार
कुविन्द	जुलाहा
घटिकाकार*	घड़ीसाज़
२१५चर्मकार*	चमार
चित्रकार*	फ़ोटोग्राफ़र
तन्तुवाय	जुलाहा
ताम्बूलिक	पान बचने वाला
निर्णेजक	धोबी
२२०पटकार*	जुलाहा
पश्यतोहर*	सुनार
मालाकार*	माली
रजक	रङ्गरेज़
रथकार*	बढ़ई
२२५सुवर्णकार*	सुनार
सूचीकार*	दरज़ी

अथ विविध-शब्दाः ।

शब्द	अर्थ
अनुग्रह*	कृपा
अपराध	कसूर
अब्द	वर्ष
२३०अभ्युदय	उन्नति
अरघट्ट	रेंहट
अर्क*	सूर्य
अर्घ*	मूल्य
अर्णव	समुद्र
२३५अशिक्षित	अनपढ़
असुर*	दैत्य
आकर*	खान
आखण्डल	इन्द्र
आतप	धूप
२४०आपण	बाज़ार
आभीर*	अहीर
आय	आमदनी
आलय	घर
आविष्कार*	ईजाद
२४५आश्विन	असौज
आषाढ	आषाढ़
आसार*	ज़ोर की वर्षा
उदन्त	ख़बर
उद्भव	उत्पत्ति
२५०उपद्रव*	उपद्रव
उपयोग	इस्तमाल
उपाय	तरीक़ा
एकक	अकेला
ऐरावत	इन्द्र का हाथी
२५५कन्दर*	गुफ़ा
कपर्द	शिव जटा
कलङ्क	दोष
कवल	ग्रास
कागद	काग़ज़
२६०कारावास	जेलख़ाना
कार्त्तिक	कार्तिक
कुप्रबन्ध	दुर्व्यवस्था
कुबेर*	कुबेर
कूट	पहाड़ की चोटी
२६५कूप	कूँआ
कोलाहल	शोरगुल
कोष*	ख़ज़ाना
क्रम*	सिलसिला
क्षय*	नाश

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
२७०खेद	दुःख	फाल्गुन	फागुन	वेशन्त	छोटातालाब
गर्व*	अभिमान	००बहिष्कार*	बायकाट	वैशाख	वैशाख मास
चन्द्र*	चान्द	भाद्रपद	भादों	वैश्वानर*	अग्नि
चैत्र*	चेत मास	भूधर*	पर्वत	व्यय	खर्च
जय	जीत	मयूख	किरण	३३०व्याज	बहाना
२७५ज्येष्ठ	जेठ मास	मध्याह्न	दोपहर	व्यायाम	कसरत
ज्यैष्ठ	,, ,,	३०५महाविद्या		शक्र*	इन्द्र
तडाग	तालाब	लय	कालेज	शिशिर*	शिशिर ऋतु
तानपूर*	तम्बूरा	माघ	माघमास	शैल	पर्वत
तार्क्ष्य*	गरुड़	मारुत	वायु	३ ५श्रावण	श्रावण मास
२८०त्रास	भय	मार्गशीर्ष*	अगहन	सङ्केत	इशारा
त्रिदिव	स्वर्ग	मित्र*	सूर्य	सत्कार*	सम्मान
दाव	बनकीआग	३१०मुकुर*	दर्पण	सदृशक	चिमटा
नाक	स्वर्ग	मृदङ्ग	तबला	सन्देह	शक
नाद	शब्द	याम	पहर	३४०सन्दोह	समूह
२८५नाश	नाश	रय*	वेग	समीर*	वायु
निकष*	कसौटी	रुग्ण	बीमार	संवत्सर*	वर्ष
निर्झर*	झरना	३१५रुद्र*	शिव	स्कन्द	कार्त्तिकेय
न्याय	इन्साफ़	वध	घात	स्वभाव	आदत
पङ्क	कीचड	वसन्त	बसन्तऋतु	३४५हठ	ज़िद्द
२९०पाखण्ड	ढकोसला	विद्यालय	स्कूल	हायन	वर्ष
पारिजात	स्वर्ग का वृक्ष	विनायक	गणेश	हृषीकेश	श्रीकृष्ण
पावक	अग्नि	३२०विमर्श	विचार	हेमन्त	हेमन्त ऋतु
पाषाण	पत्थर	विलम्ब	देर	हेरम्ब*	गणेश
पौष*	पौषमास	विलाप	रोना	३५०ह्रद †	गहरातालाब
२९५प्रणय	प्रेम	विवाह	शादी		
प्रत्यूष*	प्रातःकाल	विस्रम्भ*	विश्वास		
प्रदोष*	सायङ्काल	३२५विश्वविद्या			
प्रहर*	पहर	लय	यूनिवर्सिटी		

† इस सङ्ग्रह में रुग्ण कृतज्ञ, कृतघ्न, अन्ध आदि कई शब्द त्रिलिङ्गी भी हैं। उन का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होता है। विशेष्य के पुल्लिङ्ग होने पर ही उन का रामशब्दवत् उच्चारण समझना चाहिये। एवम् आगे भी व्यवस्था समझ लेनी चाहिये।

इत्सञ्ज्ञकों के विषय में विशेष स्मरणीय सूचना

"सुडस्योरुकारेकारौ जशटङपाश्चेत." (सि० कौ०)

अथवा— "जकारश्च शकारश्च टकारश्च ङपावपि ।
सुडस्योरुदितौ चैव सुपि सप्त स्मृता इतः ॥"

अर्थ —सुँ और ङसिँ के अन्त्य उकार इकार तथा अन्यत्र सुपों में स्थित जकार शकार टकार ङकार और पकार इत्सञ्ज्ञक होते हैं । इत्सञ्ज्ञकों के प्रयोजन निम्नलिखित हैं—

(१) सुँ—में उकार अनुबन्ध का यह प्रयोजन है कि 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (२१२) सूत्र में 'असौ' कथन से 'सुँ' का निषेध हो जाय। यदि उकार अनुबन्ध न करते तो हमें 'असि' कहना पड़ता । तब 'सादि प्रत्यय में निषेध हो' ऐसा अर्थ हो जाने से 'सुप्' में भी निषेध हो जाता जो अनिष्ट था।

(२) जस्, शस्—में जकार और शकार पर पर के भेद के लिये है। अत एव—'दीर्घाज्जसि च' (१६२), 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (१३७) आदि सूत्र उपपन्न हो जाते हैं।

(३) औट्—में टकार 'सुट्' प्रत्याहार के लिये है। सुट् प्रत्याहार का उपयोग 'सुडनपुंसकस्य' (१६३) सूत्र में होता है।

(४) टा—में टकार 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' (२८०) सूत्र में ग्रहण के लिये है। अन्यथा—'द्वितीयौस्स्वेनः' सूत्र होने पर आ का कहीं पता भी न चलता।

(५) ङे, ङसिँ, ङस्, ङि—इन में ङकार 'तीयस्य ङित्सु वा' (वा०—१६) तथा 'घेर्ङिति' (१७२) प्रभृति ङित्कार्यों के लिये है। 'ङसिँ' में इकार 'ङस्' से भेद करने के लिये है। भेद का प्रयोजन—'टाङसिङसामिनात्स्याः' (१४०) में भिन्न २ आदेश करना है।

(६) सुप्—में पकार 'सुप्' प्रत्याहार के लिये किया गया है।

इस के अतिरिक्त—"जस्, शस्, भ्यस्, ङस्, ओस, अम्, भ्याम्, आम्" प्रत्ययों के अन्त्य सकार मकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती, 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) से निषेध हो जाता है—

"सकारो जश्शसोरोसि ङसि भ्यसि न चेद् भवेत् ।
मकारश्च तथा ज्ञेय आमि भ्यामि स्थितस्त्वमि ॥"

अभ्यास (२५)

(१) व्युत्पत्ति और अव्युत्पत्ति पक्षों का सोदाहरण विवेचन करते हुए यह लिखें कि किस सूत्र से किस पक्ष में प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होती है ?

(२) प्रातिपदिकसञ्ज्ञाविधायक सूत्रों की व्याख्या करते हुए 'समास' ग्रहण पर प्रकाश डालें ।

(३) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दें—

(क) 'ङेय' यहां 'ङे' में कौन सी विभक्ति है ? ।

(ख) 'रामान्' यहां णकारादेश क्यों नहीं होता ? ।

(ग) 'जस्' के सकार की इत्सञ्ज्ञा क्यों नहीं होती ? ।

(घ) 'शस' के सकार को कौन नकारादेश करता है ? ।

(ङ) सुपों में किस २ की किस २ सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होती है ? ।

(४) निम्नलिखित रूपों में कहां २ णत्वविधि शुद्ध और कहां २ अशुद्ध है ? सहेतुक लिखें—

१ मृगेन । २ हरिणाणाम् । ३ गर्वेन । ४ दृष्टानाम् । ५ सदृशकेण । ६ अशिक्षितेण । ७ नृणाम् । ८ पाषाणाणाम् । ९ रामणाम । १० कारावासेन । ११ द्राघिमानम् । १२ षट्पदाणाम् । १३ मूर्छया । १४ वृषभेन । १५ केशवेण । १६ विमर्शणीयम् । १७ चौरानाम् । १८ वैदुष्येन । १९ परकीयेन । २० चयेन । २१ समर्पाणि । २२ वर्त्तकेण । २३ दर्शकेण । २४ शशकेण । २५ प्राज्ञाणाम् । २६ शिक्षकेन । २७ सरटेण । २८ रूप्यकेन ।

(५) इन में णत्वविधि का निमित्त बताओ—

१ उष्ट्रेण । २ तार्क्ष्याणाम् । ३ धृतराष्ट्रेण । ४ प्रहारेण । ५ पितृष्वस्रीयेण ।

(६) णत्वविधि में क्या सब का व्यवधान आवश्यक होता है या एक २ का ? सयुक्तिक स्पष्ट करें ।

(७) क्या 'वाऽवसाने' सूत्र 'झलां जशोऽन्ते' सूत्र का अपवाद है ? ।

(८) "यज्ञदत्तस्तस्कर, देवस्य" इत्यादि में षत्व क्यों न हो ? ।

(९) निम्नलिखित रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१ राम । २ राम । ३ रामयो । ४ रामै । ५ रामस्य । ६ रामाय । ७ रामेषु । ८ रामाणाम् । ९ रामम् । १० रामा ।

(१०) क्या दोष होगा यदि—

चतुर्वचने कल्पयेत् में 'बहुवचने' न हो स्थानिवत्सूत्र में 'अनल्विधौ' न हो, अर्थवत्सूत्र में 'अप्रत्यय' न हो एकहल्त्वात्—में 'अङ्ग' का अध्याहार न हो ।

(११) 'अट्कु—,सङ्ख्यायाम्—,प्रथमयो—,यस्मात्—,आदेश—" इन सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करें ।

—॥ ० ॥—

जिन अकारान्त शब्दों में 'राम' शब्द की अपेक्षा कुछ अन्तर होता है अब उन का वर्णन करते हैं । उन में सर्वादिगण के शब्द मुख्य हैं अतः प्रथम सर्वादिगण दर्शाते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१५१ सर्वादीनि सर्वनामानि ।१।१।२६॥

सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसञ्ज्ञानि स्युः । सर्व । विश्व । उभ । उभय । डतर । डतम । अन्य । अन्यतर । इतर । त्वत् । त्व । नेम । सम । सिम । पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम् असञ्ज्ञायाम् । स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् । अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः । त्यद् । तद् । यद् । एतद् । इदम् । अदस् । एक । द्वि । युष्मद् । अस्मद् । भवतु । किम् । [इति पञ्चत्रिंशत् सर्वादयः ।]

अर्थ—सर्व आदि शब्दस्वरूप सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—सर्वादीनि । १।३। [नपुंसकलिङ्ग के कारण 'शब्दस्वरूपाणि' विशेष्य का अध्याहार किया जाता है ।] सर्वनामानि ।१।३। समास—सर्व (सर्वशब्द) आदि (आद्यवयव) येषां (शब्दस्वरूपाणाम्) तानि सर्वादीनि । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमास । 'आमि सर्वेषाम् (५५७), हलि सर्वेषाम्' (१०६) प्रभृति सूत्रों में सर्वशब्द से भी सर्वनामकार्य (सुट्) देखा जाता है अतः सर्वशब्द की भी सर्वनामसञ्ज्ञा करने के लिये यहां 'तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि' समास मानना ही युक्त है ।

सर्वादिगण में पैंतीस (३५) शब्द आते हैं, जो ऊपर मूल में लिखे हुए हैं । इन का श्लोकों में सङ्ग्रह यथा—

सर्वान्यविश्वोभयनेमयत्तद्', किंयुष्मदस्मद्द्विभवत्त्यदेतद्' ।
उभत्वतौ विज्ञजनैरुदीरितौ, सम सिमत्वान्यतरेतरा अपि ॥ १ ॥

एकेदमदसो ज्ञेया डतरो डतमस्तथा ।
स्वमज्ञातिधनेऽनाम्नि कालदिग्देशवृत्तयः ॥ २ ॥

पूर्वापरावरपरा उत्तरो दक्षिणाधरौ ।
अन्तरं चोपसंव्याने बहिर्योगे तथाऽपुरि ॥ ३ ॥

इन सब का विवेचन आगे यथास्थान किया जायगा ।

सर्वनाम सञ्ज्ञा अन्वर्थ अर्थात् अर्थानुसार है । इस गण में पढ़े हुए शब्द यदि 'सभी' के वाचक होंगे तो तभी इन की सर्वनामसञ्ज्ञा होगी, अन्यथा नहीं । अत एव यदि किसी व्यक्तिविशेष का नाम 'सर्व' होगा तो वहां सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी । इसी प्रकार 'सर्वम् अतिक्रान्त=अतिसर्व , तस्मै=अतिसर्वाय' इत्यादि स्थानों पर गौण होने पर भी सर्वनामता न होगी । 'सर्वनाम' यह महासञ्ज्ञा करना इस में प्रमाण है अन्यथा घु टि भ के समान कोई छोटी सञ्ज्ञा भी कर सकते थे । इस विषय का विस्तार 'सिद्धान्त कौमुदी' में देखना चाहिये ।

सर्वादिगण के अजन्त शब्दों का प्रायः 'जस् ङे ङसिँ, आम् और ङि' इन पाञ्च विभक्तियों में रामशब्द की अपेक्षा अन्तर होता है । शेष विभक्तियों में रामवत् रूप बनते हैं । अतः इन पाञ्च विभक्तियों में ही रूप सिद्ध किये जाएंगे ।

सर्वशब्द का अर्थ 'सब' अर्थात् समूचा समुदाय है । समुदाय दो प्रकार का होता है— १ उद्भूतावयव २ अनुद्भूतावयव । जहां वक्ता की केवल समुदाय कहने की इच्छा होती है वहां अनुद्भूतावयवसमुदाय होता है । जहां वक्ता का अभिप्राय समुदाय कहने के साथ २ तदन्तर्गत व्यक्तियों से भी हुआ करता है वहां उद्भूतावयव समुदाय होता है । अतः अनुद्भूतावयवसमुदाय की विवक्षा में एकवचन और उद्भूतावयवसमुदाय की विवक्षा में द्विवचन और बहुवचन होगा ।

सर्वशब्द के प्रथमा के एकवचन और द्विवचन में रामशब्दवत् 'सर्वः सर्वौ' प्रयोग बनते हैं ।

प्रथमा के बहुवचन में 'जस्' प्रत्यय आ कर 'सर्व+जस्' हुआ । अब 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१५१) सूत्र से सर्वशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा हो कर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१५२ जसः शी ।७।१।१७॥

अदन्तात् सर्वनाम्नो जसः शी स्यात् । अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः—सर्वे ।

अर्थः—अदन्त सर्वनाम से परे जस् के स्थान पर शी आदेश हो ।

व्याख्या—अतः ।५।१। ['अतो भिस ऐस्' से] सर्वनाम्नः ।५।१। ['सर्वनाम्नः स्मै' से] जसः ।६।१। शी ।१।१। 'सर्वनाम्नः' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि होती है । अर्थः—(अतः) अदन्त (सर्वनाम्नः) सर्वनाम से परे (जसः) जस् के स्थान पर (शी) शी आदेश होता है ।

'प्रत्ययः' (१२०) के अधिकार में न पढ़े जाने से शी की प्रत्ययसञ्ज्ञा नहीं होती, परन्तु हां ! जब वह जस् के स्थान पर हो जाता है तब स्थानिवद्भाव से उस की प्रत्यय-

सञ्ज्ञा हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जब तक जस के स्थान पर शी आदेश नहीं होगा तब तक वह प्रत्ययसञ्ज्ञक भी न होगा। प्रत्ययसञ्ज्ञा न होने से 'लशक्वतद्धिते' (१३६) द्वारा उस के शकार की इत् सञ्ज्ञा नहीं होगी, क्योंकि उस सूत्र से प्रत्यय के आदि शकार की इत् सञ्ज्ञा की जाती है। अतः शिद्भाव के कारण शी सर्वादेश नहीं होता, किन्तु अनेकाल (श्+ई) होने से 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' (४५) द्वारा सर्वादेश हो जाता है।

"आदेशकरणात्पूर्वं यतः शीति न प्रत्ययः।
तस्मात्तस्य शकारस्तु लशक्वेति न हीद्भवेत् ॥ १ ॥
सर्वादेशो न शिद्भावात् ततो भवितुमर्हति।
अनेकाल्त्वाद् भवेदेव विज्ञैरेतदुदीरितम् ॥ २ ॥"

'सर्व+जस्' यहां प्रकृतसूत्र से जस् के स्थान पर शी आदेश हो स्थानिवद्भाव के कारण शी में प्रत्ययत्व आने से 'लशक्वतद्धिते' (१३६) द्वारा शकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है, तब शकार का लोप करने पर गुण एकादेश हो कर 'सर्वे' प्रयोग सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि यहां यद्यपि ह्रस्व 'शि' आदेश करने पर भी 'आद् गुणः' (२७) द्वारा गुण एकादेश करने से 'सर्वे' प्रयोग सिद्ध हो सकता है, तथापि अग्रिम 'नपुंसकाच्च' (२३५) आदि सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये उसे दीर्घ किया गया है। अन्यथा— वारिणी मधुनी आदि दीर्घघटित प्रयोग न बन सकते (देखो २४५ सूत्र)।

द्वितीया और तृतीया विभक्ति में रामशब्दवत् रूप बनते हैं। द्वितीया—सर्वम् सर्वौ, सर्वान्। तृतीया—सर्वेण सर्वाभ्याम् सर्वैः।

चतुर्थी के एकवचन में 'सर्व + ङे'। इस अवस्था में सर्वनामसञ्ज्ञा हो कर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१५३ सर्वनाम्नः स्मै ।७।१।१४॥

अतः सर्वनाम्नो 'ङे' इत्यस्य 'स्मै' स्यात्। सर्वस्मै।

अर्थः—अदन्त सर्वनाम से परे 'ङे' के स्थान पर 'स्मै' आदेश हो।

व्याख्या—अतः ।५।१। ['अतो भिस ऐस्' से] सर्वनाम्नः ।५।१। ङेः ।६।१। ['ङेर्यः' से] स्मै ।१।१। [विभक्तिलोप आर्ष] 'अतः' यह 'सर्वनाम्नः' का विशेषण है, इस लिये इस से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(अतः) अदन्त (सर्वनाम्नः) सर्वनाम से परे (ङेः) ङे के स्थान पर (स्मै) स्मै आदेश होता है। यह सूत्र 'ङेर्यः' (१४३) सूत्र का अपवाद है।

'सर्व+ङे' यहां अदन्त सर्वनाम 'सर्व' है। इस से परे 'ङे' वर्तमान है। अतः प्रकृत सूत्र से ङे के स्थान पर स्मै आदेश हो कर 'सर्वस्मै' प्रयोग सिद्ध हुआ।

चतुर्थी के द्विवचन और बहुवचन में क्रमशः 'सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः' सिद्ध होते हैं।

पञ्चमी के एकवचन में 'ङसिँ' प्रत्यय आकर 'सर्व+ङसिँ' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१५४ ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ।७।१।१५॥

अतः सर्वनाम्नो ङसिङ्योरेतौ स्तः। सर्वस्मात्।

अर्थः—अदन्त सर्वनाम से पर ङसिँ और ङि के स्थान पर क्रमशः स्मात् और स्मिन् आदेश होते हैं।

व्याख्या—अतः ।५।१। ['अतो भिस ऐस्' से] सर्वनाम्नः ।५।१। ['सर्वनाम्नः स्मै' से] ङसिङ्योः ।६।२। स्मात्स्मिनौ ।१।२। 'सर्वनाम्नः' के विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि होगी। अर्थः—(अतः) अदन्त (सर्वनाम्नः) सर्वनाम से परे (ङसिँङ्योः) ङसिँ और ङि के स्थान पर (स्मात्स्मिनौ) स्मात् और स्मिन् आदेश होते हैं। यथासङ्ख्यपरिभाषा से ङसिँ को स्मात् और ङि को स्मिन् होगा। ध्यान रहे कि स्मात् और स्मिन् के अन्त्य तकार और नकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत् सञ्ज्ञा न होगी 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) से निषेध हो जायगा।

'सर्व + ङसिँ' यहां अदन्त सर्वनाम 'सर्व' है इस से परे ङसिँ मौजूद है। अतः प्रकृतसूत्र से ङसिँ के स्थान पर स्मात् हो कर 'सर्वस्मात्' प्रयोग सिद्ध हुआ।

षष्ठी के एकवचन और द्विवचन में 'सर्वस्य, सर्वयोः' प्रयोग रामशब्द के समान सिद्ध होते हैं।

षष्ठी के बहुवचन में आम् प्रत्यय आ कर—'सर्व + आम्' हुआ। अब सर्वनाम सञ्ज्ञा हो कर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१५५ आमि सर्वनाम्नः सुट् ।७।१।५२॥

अवर्णान्तात् परस्य सर्वनाम्नो विहितस्याऽऽमः सुडागमः। एत्वषत्वे—सर्वेषाम्। सर्वस्मिन्। शेषं रामवत्।

अर्थः—अवर्णान्त (अङ्ग) से परे तथा सर्वनाम से विहित आम् को सुट् का आगम हो जाता है।

व्याख्या—आत् ।५।१। ['आज्जसेरसुक्' से] अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है। इस का पञ्चमी में विपरिणाम हो जाता है।] सर्वनाम्नः ।५।१। आमि ।७।१। सुट् ।१।१। 'आत्' पद 'अङ्गात्' पद का विशेषण है अतः 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१७१) द्वारा तदन्तविधि हो कर—'अवर्णान्ताद् अङ्गात्' बनेगा।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सुट् किस का अवयव हो ? । यह तो ज्ञात है कि 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) द्वारा यह आद्यवयव होता है परन्तु किस का आद्यवयव हो ? यह यहां ज्ञातव्य है । 'अङ्गात्' में पञ्चमी का निर्देश किया गया है, अतः 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) के अनुसार सुट् अङ्ग से परे आम् का अवयव होना चाहिये । आमि' में सप्तमी का निर्देश किया गया है अतः तस्मिन्निति—' (१६) के अनुसार सुट् आम् से पूर्व अङ्ग का अवयव होना चाहिये। तो अब सुट् किस का अवयव हो ? ऐसी शङ्का होने पर "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" (देखो पृष्ठ—१३८) के अनुसार पञ्चमी निर्देश के बलवान् होने से सुट्, अङ्ग से पर = आम् का ही अवयव ठहरता है । तो इस प्रकार आमि पद को 'आम ' बना कर सम्बन्ध में षष्ठी स्वीकार करेंगे । यहां स्पष्ट 'आम ' न कह कर 'आमि' कहने का प्रयोजन आगे त्रेस्त्रय ' (१६२) आदि सूत्रों में उस का अनुवर्त्तन करना ही है । अर्थ —(आत्) अवर्णान्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (सर्वनाम्नः) तथा सर्वनाम से विहित (आम) आम् का अवयव (सुट) सुट् हो जाता है ।

प्रश्न —'आप ने अवर्णान्त सर्वनाम से पर आम् को सुट् का आगम हो ऐसा सरलार्थ न कर यह अपूर्व अर्थ क्यों किया है ? ।

उत्तर—यदि आप का अर्थ करते तो येषाम्, तेषाम् आदि प्रयोग सिद्ध न हो सकते । तथाहि—यद् और तद् सर्वनाम से आम् प्रत्यय कर के त्यदादीनामः' (१९३) से दकार को अकार और अतो गुणे (२७४) से पररूप करने पर त + आम य + आम्' हुआ । अब यहां आप का अर्थ मानने से सुट प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि यहां अवर्णान्त सर्वनाम से परे आम् वर्त्तमान नहीं। जो अवर्णान्त है वह सर्वनाम नहीं और जो सर्वनाम है वह अवर्णान्त नहीं। सर्वनामसञ्ज्ञा यद् तद्' आदि दकारान्तों की ही की गई है । परन्तु—हमारे उपर्युक्त अर्थ से कोई दोष नहीं आता। यथा—यहां अवर्णान्त अङ्ग 'य, त' हैं, इन से परे यद्, तद् सर्वनाम से विहित आम् विद्यमान है, अतः इसे सुट का आगम हो जायगा। यह अर्थ जस शी (१५२) सर्वनाम्नः स्मै (१५३)' आदि सूत्रों में भी समझ लेना चाहिये, अन्यथा 'ये, यस्मै यस्मात्' आदि में शी आदि सर्वनामकार्य न हो सकेंगे ।

'सर्व+आम्' यहां अवर्णान्त अङ्ग है सर्व' । इस से परे, सर्वनाम (सर्व) से विहित 'आम्' विद्यमान है । अतः इसे सुट् का आगम हो—'सर्व + सुट् आम्' । सुट में टकार इत् है और उकार उच्चारणार्थ है, अतः स अवशिष्ट रहता है—'सर्व + साम' । सुट् का आगम आम् को कहा गया है । जिसको आगम होता है वह उस का अवयव माना जाता है । उस के ग्रहण से उस का भी ग्रहण हो जाता है । जैसा कि कहा भी है—"यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते" । अतः 'साम् आम् से भिन्न नहीं। इस से 'साम्' कत्वादि

बहुवचन ठहरता है इस के परे होने से 'बहुवचने झल्येत्' (१४५) द्वारा अकार को एकार तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से साम् प्रत्यय के अवयव सकार को मूर्धन्य षकार करने से 'सर्वेषाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में 'सर्व+ङि' हुआ। यहां 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (१५४) से ङि' को स्मिन् हो कर 'सर्वस्मिन्' प्रयोग सिद्ध हुआ। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्रथमा	सर्व	सर्वौ	सर्वे	पञ्चमी	सर्वस्मात्	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्य
द्वितीया	सर्वम्	"	सर्वान्	षष्ठी	सर्वस्य	सर्वयो	सर्वेषाम्
तृतीया	सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वै	सप्तमी	सर्वस्मिन्	'	सर्वेषु
चतुर्थी	सर्वस्मै		सर्वेभ्य	सम्बोधन	हे सर्व !	हे सर्वौ !	हे सर्वे !

[लघु०] एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः।

व्याख्या—अब अन्य अदन्त पुंल्लिङ्ग सर्वनामों के विषय में कहते हैं कि—विश्व आदि अदन्त (सर्वनाम) भी इसी तरह होते हैं। विश्व शब्द का अर्थ 'सम्पूर्ण' है। सर्वादिगण में पाठ होने से 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१५१) द्वारा सर्वनामसंज्ञा हो कर शी, स्मै आदि सर्वनामकार्य हो जाएंगे। शेष रामवत् प्रक्रिया होगी। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्रथमा	विश्व	विश्वौ	विश्वे	पञ्चमी	विश्वस्मात्	विश्वाभ्याम्	विश्वेभ्य
द्वितीया	विश्वम्	"	विश्वान्	षष्ठी	विश्वस्य	विश्वयो	विश्वेषाम्
तृतीया	विश्वेन	विश्वाभ्याम्	विश्वै	सप्तमी	विश्वस्मिन्	"	विश्वेषु
चतुर्थी	विश्वस्मै	"	विश्वेभ्य	सम्बोधन	हे विश्व !	हे विश्वौ !	हे विश्वे !

[लघु०] उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः। उभौ २। उभाभ्याम् ३। उभयोः २। तस्येह पाठोऽकजर्थः।

व्याख्या—सर्वादिगण में विश्व शब्द के बाद 'उभ' शब्द आता है। इस का अर्थ है 'दोनों' (Both)। अतः यह सदा द्विवचनान्त ही प्रयुक्त होता है। एकवचन और बहुवचन प्रत्ययों में असम्भव होने से इस का प्रयोग नहीं होता। इस की प्रक्रिया रामशब्दवत् समझनी चाहिये। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	०	उभौ	०	पञ्चमी	०	उभाभ्याम्	०
द्वितीया	०	"	०	षष्ठी	०	उभयो	०
तृतीया	०	उभाभ्याम्	०	सप्तमी	०	"	०
चतुर्थी	०	"	०	सम्बोधन	०	हे उभौ !	०

अब यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि उभशब्द मे सर्वनामसञ्ज्ञा का कोई कार्य नहीं किया गया, क्योंकि सर्वनामसञ्ज्ञा के सब कार्य या तो बहुवचन में होते हैं या एक वचन में। यथा "जस शी (१५२), आमि सर्वनाम्न सुट (१५५)" ये बहुवचन मे होते हैं "सर्वनाम्न स्मै (१५३), ङसिङयो स्मात्स्मिनौ (१५४)" ये एकवचन में होते हैं। द्विवचन में कोई कार्य नहीं देखा जाता। तो पुन किस लिये 'उभ' शब्द को सर्वादिगण म डाल कर उस की सवनामसञ्ज्ञा करने का प्रयत्न किया गया है ? । इस शङ्का को मन में रख कर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि—

"तस्येह पाठोऽकजर्थ"

अर्थात् इस उभशब्द का सर्वादिगण म पाठ कर इस की सर्वनामसञ्ज्ञा करने का प्रयोजन 'अकच्' प्रत्यय विधान करना ही हे। तात्पर्य यह है कि सवशब्द पर कहे गये 'जस शी' (१५२) आदि कार्य ही केवल सवनामकार्य नहीं, किन्तु सर्वनामकार्य तो और भी है। यदि उभशब्द पर शी आदि कोई कार्य नहीं होता तो भले ही न हो, इस की सव-नामसञ्ज्ञा तो अन्य कार्य के लिये ही की गई है। तथाहि—'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टे' (१२२१) सर्वनामों की टि से पूर्व अकच् प्रत्यय हो। उभशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा होने से अकच् प्रत्यय हो कर—उभ अकच अ+औ = 'उभकौ' रूप हो जाता है। यदि इस की सर्वनामसञ्ज्ञा न होती तो अकच् न हो सकता। विशेष 'सिद्धान्त कौमुदी' में देखे।

[लघु०] उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति। डतर—डतमौ प्रत्ययौ। 'प्रत्यय ग्रहणे तदन्तग्रहणम्' इति तदन्ता ग्राह्याः। नेम इत्यर्धे। समः सर्वपर्याय.। तुल्यपर्यायस्तु न। 'यथासङ्ख्यमनुदेश समानाम्' इति ज्ञापकात्।

अर्थ —'उभय' शब्द का द्विवचन नहीं होता। डतर और डतम प्रत्यय होते है। 'प्रत्यय के ग्रहण मे तदन्त का ग्रहण हो इस परिभाषा से तदन्त अर्थात् डतरान्त और डतमान्त शब्दों का ग्रहण करना चाहिये। नेम शब्द अर्ध (आधा) अर्थ मे सर्वादिगण में समझना चाहिये। सर्वपर्याय अर्थात् 'सब' अर्थ के वाचक समशब्द का सर्वादियों मे पाठ है तुल्यपर्याय—समान अर्थ के वाचक का नहीं। इस में ज्ञापक पाणिनि का 'यथासङ्ख्य मनुदेश समानाम्' (२३) सूत्र है।

व्याख्या—सर्वादिगण मे 'उभ' शब्द के बाद 'उभय' शब्द आता है। यह शब्द उभशब्द से 'अयच' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। वार्त्तिककार श्रीकात्यायन के अनुसार इस का द्विवचन-प्रत्ययों में प्रयोग नहीं किया जाता। इस का अर्थ है—दो अवयवो वाला।

यथा—उभयो मणि [दो हिस्सो वाली मणि], उभये मणय [दो हिस्सो वालीमणियाँ]। इस की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	उभय	०	उभये	पञ्चमी	उभयस्मात्	०	उभयेभ्यः
द्वितीया	उभयम्	०	उभयान्	षष्ठी	उभयस्य	०	उभयेषाम्
तृतीया	उभयेन	०	उभयैः	सप्तमी	उभयस्मिन्	०	उभयेषु
चतुर्थी	उभयस्मै	०	उभयेभ्य	सम्बोधन	हे उभय !	०	हे उभये !

सर्वादि गण में उभयशब्द के बाद 'डतर, डतम' का नम्बर आता है। ये दोनो प्रत्यय हैं। इनके विधायक तीन तद्धितसूत्र है। (१) किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् (१२३२), (२) वा बहूना जातिपरिप्रश्न डतमच् (१२३३), (३) एकाच्च प्राचाम् (१२३४)। किम्, यद्, तद् और एक इन चार सवनामो से डतर और डतम प्रत्यय हो कर आठ शब्द बनते हे। (१) कतर, (२) कतम, (३) यतर, (४) यतम, (५) ततर, (६) ततम, (७) एकतर, (८) एकतम। सर्वादिगण में 'डतर, डतम' के पाठ से इन आठशब्दो का ही ग्रहण होता है। क्योंकि—"न केवला प्रकृति॰ प्रयोक्तव्या, न केवलः प्रत्यय" अर्थात् न केवल प्रकृति का और न केवल प्रत्यय का ही प्रयोग करना चाहिये—इस सिद्धान्त के अनुसार केवल डतर डतम का कहीं प्रयोग नहीं हो सकता। किञ्च—"प्रत्ययग्रहणे तदन्त ग्रहणम्" [प्रत्यय का ग्रहण होने पर तदन्त अर्थात् वह प्रत्यय जिस के अन्त मे है उस के सहित उस प्रत्यय का ग्रहण करना चाहिये] इस नियम से डतरप्रत्ययान्त और डतमप्रत्ययान्त उपर्युक्त आठ शब्दों का ही ग्रहण प्रसक्त होगा। अत इन आठ शब्दों की ही सर्वनामसञ्ज्ञा होगी, केवल डतर डतम प्रत्ययो की नहीं।

प्रश्न—पाणिनि-जी को यदि यह प्रत्ययग्रहण-परिभाषा अभीष्ट होती तो वे 'सुप्तिङन्त पदम्' (१४) सूत्र के स्थान पर 'सुप्तिङ पदम्' ऐसा छोटा सूत्र रचते, क्योंकि सुँप और तिङ के प्रत्यय होने से सुँबन्त और तिङन्त का सुतरा ग्रहण हो जाता ?।

उत्तर—'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) सूत्र में मुनि के 'अन्त' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—"सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण नास्ति" अर्थात् जहा प्रत्यय की सञ्ज्ञा की जा रही हो वहा प्रत्ययग्रहण-परिभाषा प्रवृत्त नही होती।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो यहा डतर और डतम प्रत्ययों की सर्वनामसञ्ज्ञा करने पर वह परिभाषा क्यों प्रवृत्त हो रही है ?। यहा भी उसे प्रवृत्त नहीं होना चाहिये ?।

उत्तर—यह बात सत्य है। परन्तु यहां केवल उन प्रत्ययों की सञ्ज्ञा करने का कुछ भी प्रयोजन न होने से उपर्युक्त परिभाषा की प्रवृत्ति हो जाती है। क्योंकि जब इस लोक में मन्द से मन्द बुद्धि वाला पुरुष भी प्रयोजन के बिना किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता तो क्या महाबुद्धिमान् जगद्गुरु भगवान् पाणिनि व्यर्थ के लिये इन की सर्वनामसञ्ज्ञा करेंगे? कदापि नहीं।

कतर आदि शब्दों का उच्चारण पुल्लिङ्ग में 'सर्व' शब्द की तरह होता है। कतर (दो में कौन) शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	कतर	कतरौ	कतरे	पञ्चमी	कतरस्मात्	कतराभ्याम्	कतरेभ्य
द्वितीया	कतरम्	"	कतरान्	षष्ठी	कतरस्य	कतरयो	कतरेषाम्
तृतीया	कतरेण	कतराभ्याम्	कतरैः	सप्तमी	कतरस्मिन्	"	कतरेषु
चतुर्थी	कतरस्मै	"	कतरेभ्य	सम्बोधन	हे कतर!	हे कतरौ!	हे कतरे!

इसी प्रकार—कतम (बहुतों में कौन), यतर (दो में जो), यतम (बहुतों में जो), ततर (दो में वह) ततम (बहुतों में वह), एकतर (दो में एक), एकतम (बहुतों में एक), शब्द भी समझने चाहियें।

डतर, डतम के अनन्तर सर्वादिगण में 'अन्य' (दूसरा) शब्द आता है। इस का उच्चारण सर्वशब्दवत् होता है। यथा—

प्रथमा	अन्य	अन्यौ	अन्ये	पञ्चमी	अन्यस्मात्	अन्याभ्याम्	अन्येभ्य
द्वितीया	अन्यम्	"	अन्यान्	षष्ठी	अन्यस्य	अन्ययो	अन्येषाम्
तृतीया	अन्येन	अन्याभ्याम्	अन्यैः	सप्तमी	अन्यस्मिन्	"	अन्येषु
चतुर्थी	अन्यस्मै	"	अन्येभ्य	सम्बो०	हे अन्य!	हे अन्यौ!	हे अन्ये!

अन्यशब्द के बाद 'अन्यतर' शब्द आता है। इस का अर्थ है—दोनों में से एक। इसे डतरप्रत्ययान्त नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार का एक 'अन्यतम' शब्द भी लोक में देखा जाता है। इस का अर्थ है—बहुतों में से एक। इसे भी डतमप्रत्ययान्त नहीं समझना चाहिये। ये दोनों शब्द अव्युत्पन्न हैं। इन में से प्रथम 'अन्यतर' शब्द का गण में पाठ है अतः इस की सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है। दूसरे 'अन्यतम' शब्द का गण में पाठ नहीं अतः इस की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी रामशब्दवत् उच्चारण होगा। 'अन्यतर' शब्द का उच्चारण सर्वशब्दवत् होता है। यथा—

प्र०	अन्यतर	अन्यतरौ	अन्यतरे	प०	अन्यतरस्मात्	अन्यतराभ्याम्	अन्यतरेभ्य
द्वि०	अन्यतरम्	"	अन्यतरान्	ष०	अन्यतरस्य	अन्यतरयो	अन्यतरेषाम्
तृ०	अन्यतरेण	अन्यतराभ्याम्	अन्यतरैः	स०	अन्यतरस्मिन्	"	अन्यतरेषु
च०	अन्यतरस्मै	"	अन्यतरेभ्य	सम्बो०	हे अन्यतर!	हे अन्यतरौ!	हे अन्यतरे!

अन्यतरशब्द के बाद 'इतर' शब्द आता है। इस का अर्थ 'भिन्न' है। इस का उच्चारण सर्वशब्दवत् होता है—

प्र०	इतर	इतरौ	इतरे	प०	इतरस्मात्	इतराभ्याम्	इतरेभ्य
द्वि०	इतरम्	"	इतरान्	ष०	इतरस्य	इतरयो	इतरेषाम्
तृ०	इतरेण	इतराभ्याम्	इतरै	स०	इतरस्मिन्	"	इतरेषु
च०	इतरस्मै	"	इतरेभ्य	सम्बो०	हे इतर !	हे इतरौ !	हे इतरे !

इतरशब्द के अनन्तर सर्वादिगण में अदन्त शब्द 'त्व' आता है। इस का अर्थ भी 'भिन्न' है। यह वेद में ही प्रयुक्त होता है। इस का उच्चारण सर्वशब्दवत् होता है। यथा—

प्र०	त्व	त्वौ	त्वे	प०	त्वस्मात्	त्वाभ्याम्	त्वेभ्य
द्वि०	त्वम्	"	त्वान्	ष०	त्वस्य	त्वयो	त्वेषाम्
तृ०	त्वेन	त्वाभ्याम्	त्वै	स०	त्वस्मिन्	"	त्वेषु
च०	त्वस्मै	"	त्वेभ्य	सम्बो०	हे त्व !	हे त्वौ !	हे त्वे !

त्वशब्द के अनन्तर अदन्त सर्वनाम 'नेम' आता है। अर्ध (आधा) अर्थ में इस का सर्वादिगण में पाठ अभीष्ट है। अवधि आदि अर्थों में पाठ न होने से सर्वनामसञ्ज्ञा नहीं होगी। तब रामवत् उच्चारण होगा। अर्धवाची सर्वनाम नेमशब्द का विशेष विवेचन 'प्रथम चरम—' (१६०) सूत्र पर देखें।

सर्वादिगण में नेमशब्द के बाद 'सम' आता है। इस के 'सब' और 'तुल्य' दो अर्थ होते हैं। 'सब' अर्थ में इस की सर्वनामसञ्ज्ञा होती है, 'तुल्य' अर्थ में नहीं होती। इस का कारण यह है कि पाणिनि मुनि ने 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) इस सूत्र में 'समानाम्' कहा है। यहां समशब्द तुल्यवाचक है। यदि इस अर्थ में इसका सर्वादिगण में पाठ होता तो 'समानाम्' की बजाय 'समेषाम्' होता। सर्वनामसञ्ज्ञक समशब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	सम	समौ	समे	प०	समस्मात्	समाभ्याम्	समेभ्य
द्वि०	समम्	,,	समान्	ष०	समस्य	समयो	समेषाम्
तृ०	समेन	समाभ्याम्	समैः	स०	समस्मिन्	,,	समेषु
च०	समस्मै	,,	समेभ्य	सम्बो०	हे सम !	हे समौ !	हे समे !

इस के बाद 'सिम' शब्द का पाठ है। इस का अर्थ 'सब' है। इस की रूपमाला

प्र०	सिम	सिमौ	सिमे	प०	सिमस्मात्	सिमाभ्याम्	सिमेभ्य
द्वि०	सिमम्	,,	सिमान्	ष०	सिमस्य	सिमयोः	सिमेषाम्
तृ०	सिमेन	सिमाभ्याम्	सिमैः	स०	सिमस्मिन्	,,	सिमेषु
च०	सिमस्मै	,,	सिमेभ्यः	सम्बो०	हे सिम !	हे सिमौ !	हे सिमे !

इस के बाद "पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम् असञ्ज्ञायाम्" यह गण सूत्र आता है। इस का अर्थ यह है—सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ हो तो 'पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर' ये सात शब्द सर्वादिगण मे समझे जावें। इस गणसूत्र की विशेष व्याख्या तथा पूर्वादि शब्दों के उच्चारण आगे (१२६) सूत्र पर देखे।

पूर्वादियो के अनन्तर 'स्वम् अज्ञातिधनाख्यायाम्' यह गणसूत्र आता है। इस का अर्थ यह है—बन्धु और धन अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ वाला स्वशब्द सर्वादिगण में समझा जावे। इसका विशेष व्याख्यान आगे (१२७) सूत्र पर देखें।

स्वशब्द के बाद 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः' यह गणसूत्र आता है। इस का अर्थ यहहै—बाह्य और परिधानीय अर्थ वाला 'अन्तर' शब्द सर्वादिगण में समझा जाए। इस का विशेष विवरण भी आगे (१२८) सूत्र पर देखें।

अन्तरशब्द के बाद त्यदादिगण आता है। [त्यदादिगण सर्वादिगण के अन्तर्गत एक गण है, नया गण नहीं। इस में 'त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक द्वि युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्' ये बारह शब्द आते हैं।] त्यदादियों में केवल 'एक' शब्द ही अदन्त है। यदि 'एक शब्द सङ्ख्यावाचक हो तो वह नित्य एकवचनान्त होता है और यदि अन्य [प्रधान, प्रथम, केवल, अन्य, साधारण, समान, अल्प] अर्थों का वाचक हो तो इस से द्विवचन तथा बहुवचन प्रत्यय भी होते हैं। यथा—'यजुष्येकेषाम्' (८ ३ १०२)। इस की सर्वनामसञ्ज्ञा प्रत्येक अवस्था में होती है। प्रथम सङ्ख्यावाची 'एक' शब्द का उच्चारण यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	एकः	०	०	पञ्चमी	एकस्मात्	०	०
द्वितीया	एकम्	०	०	षष्ठी	एकस्य	०	०
तृतीया	एकेन	०	०	सप्तमी	एकस्मिन्	०	०
चतुर्थी	एकस्मै	०	०	त्यदादियों का प्राय सम्बोधन नहीं हुआ करता।			

प्रधान आदि अर्थों में 'एक' शब्द की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	एकः	एकौ	एके	प०	एकस्मात्	एकाभ्याम्	एकेभ्यः
द्वि०	एकम्	,,	एकान्	ष०	एकस्य	एकयोः	एकेषाम्
तृ०	एकेन	एकाभ्याम्	एकैः	स०	एकस्मिन्	,,	एकेषु
च०	एकस्मै	,,	एकेभ्यः	सम्बो०	हे एक !	हे एकौ !	हे एके !

नोट—अत्र कोष—"एकोऽन्यार्थे प्रधाने च, प्रथमे केवले तथा।
साधारणे समानेऽल्पे, सङ्ख्यायाञ्च प्रयुज्यते"॥

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—१५६ पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्।१।१।३३॥

एतेषां व्यवस्थायामसञ्ज्ञायां सर्वनामसञ्ज्ञा गणसूत्रात् सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात्। पूर्वे, पूर्वाः। असञ्ज्ञायां किम्? उत्तराः कुरवः। स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था। व्यवस्थायां किम्? दक्षिणा गाथकाः। कुशला इत्यर्थः।

अर्थः—(१) पूर्व (२) पर (३) अवर (४) दक्षिण, (५) उत्तर (६) अपर, (७) अधर इन सात शब्दों की सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ में गण सूत्र से जो सर्वनामसञ्ज्ञा सब जगह प्राप्त थी वह जस् परे होने पर विकल्प से हो।

व्याख्या—पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि ।१।३। व्यवस्थायाम् ।७।१। असञ्ज्ञायाम् ।७।१। विभाषा ।१।१। जसि ।७।१। ['विभाषा जसि' से] सर्वनामानि ।१।३। ['सर्वादीनि सर्वनामानि' से] समास—पूर्वञ्च परञ्च अवरञ्च दक्षिणञ्च उत्तरञ्च अपरञ्च अधरञ्च [यहां नपुंसकलिङ्ग 'शब्दस्वरूपम्' इस विशेष्य के कारण लगाया गया है।] = पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि इतरेतरद्वन्द्वः। न सञ्ज्ञा=असञ्ज्ञा, तस्याम्=असञ्ज्ञायाम्, नञ्तत्पुरुष। अर्थः—(असञ्ज्ञायाम्) सञ्ज्ञाभिन्न (व्यवस्थायाम्) व्यवस्था अर्थ हो तो (पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि) पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर ये सात शब्द (जसि) जस् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनामानि) सर्वनामसञ्ज्ञक हों।

सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ में पूर्वादि सातों शब्दों की 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्' इस गण सूत्र से [यह गणसूत्र सर्वादिगण में पीछे आ चुका है] सर्वनामसञ्ज्ञा की जा चुकी है। अब वही सर्वत्र प्राप्त सर्वनामसञ्ज्ञा जस् में विकल्प कर के की जाती है।

प्रश्नः—यह सूत्र एक बार सर्वादिगण में पढ़ा जा चुका है पुनः यहां सूत्रपाठ में इस के पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं। केवल जस् में विकल्प करने के लिये 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि' इतना ही सूत्र पर्याप्त है। 'व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्' इस के ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—आप का यह विचार ठीक नहीं। क्योंकि वैसा करने से गणसूत्र से तो इन की सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था में ही सर्वनामसञ्ज्ञा होगी और यहां सञ्ज्ञा होने तथा व्यवस्था न होने पर भी इन की सर्वनामसञ्ज्ञा हो जायगी। अत यहां भी 'व्यवस्थायाम् असञ्ज्ञायाम्' कहना अत्यावश्यक है।

अब हमें यह जानना है कि 'व्यवस्था' क्या होती है। ग्रन्थकार ने व्यवस्था का यह लक्षण किया है—

"स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था"

अपेक्ष्यत इत्यपेक्ष, कर्मणि घञ्। स्वस्य (पूर्वादिशब्दस्य) अभिधेयेन (वाच्येन) अपेक्षस्य (अपेक्ष्यमाणस्य) अवधेर्नियमो व्यवस्था। अर्थ—जहां पूर्व आदि शब्दों के अपने अर्थों से अवधि के नियम की अपेक्षा हो वहां व्यवस्था समझनी चाहिये। उदाहरण यथा—

काशी पूर्वा। कुत? प्रयागात्। यहां 'पूर्वा' शब्द का अर्थ पूर्वदिशास्थित काशी देश है। इस अर्थ से अवधि के नियम की आकाङ्क्षा होती है। अर्थात् 'काशी पूर्व है' यह सुनने वालों को यहां यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'किस से पूर्व है?'। इस पर उत्तर मिलता है कि 'प्रयाग से'। तो यहां पूर्वाशब्द का अर्थ क्योंकि अवधि के नियम ['प्रयागात्' इस प्रकार] की अपेक्षा=आकाङ्क्षा करता है अत यहां व्यवस्था है।

पूर्वे रावणादय। केभ्य? कंसादिभ्य। यहां पूर्वशब्द का अर्थ पूर्वकालस्थित रावण आदि व्यक्ति हैं। इन अर्थों से अवधि के नियम की अपेक्षा=आकाङ्क्षा=जिज्ञासा होती है कि किस से रावण आदि पूर्व हुए हैं?। इस पर उत्तर मिलता है कि 'कंस आदियों से'। तो यहां पूर्वशब्द का अर्थ क्योंकि अवधि के नियम ['कंसादिभ्य' इस प्रकार] की अपेक्षा करता है, अत यहां व्यवस्था है।

पूर्वस्यां रविरुदेति। यहां पूर्वाशब्द का अर्थ दिशा-विशेष है। दिशाविशेषों का सङ्केत सुमेरुपर्वत की अपेक्षा से अनादिकाल से चला आ रहा है। तो इस प्रकार यहां भी व्यवस्था है।

तात्पर्य यह हुआ कि जहां पूर्व आदि शब्दों के प्रयोग होने पर 'कहां से?', 'किस से?', 'किन से?' इत्यादि प्रकारेण जिज्ञासा हो वहां व्यवस्था समझनी चाहिये।

ध्यान रहे कि व्यवस्था में पूर्वादि शब्द तीन प्रकार के होते हैं। (१) देशवाची, यथा—काशी पूर्वा। (२) कालवाची यथा—पूर्वे रावणादय। (३) दिशावाची यथा—पूर्वस्यां रविरुदेति। यदि इन तीनों से अतिरिक्त पूर्वादि शब्द होंगे तो वहां व्यवस्था न होगी। यथा—अधरे राग (निचले होठ पर लाली है)।

"व्यवस्थायां किम्? दक्षिणा गाथका.।"

'दक्षिणा गाथका' (चतुर गायक)। यहां दक्षिणशब्द का अर्थ 'चतुर' है। इस से अवधि के नियम की आकाङ्क्षा नहीं होती। अतः यहां व्यवस्था न होने से इस की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी। [सर्वनामसञ्ज्ञा न होने से पक्ष में 'जसः शी' (१५२) द्वारा शी आदेश न होगा।] इसी प्रकार—'अथ बाला उत्तरे प्रत्युत्तरे शक्त' [यह बालक जवाब सवाल में चतुर है।] यहां 'उत्तर' शब्द का अर्थ 'जवाब' तथा 'प्रत्युत्तर' शब्द का अर्थ 'जवाब का जवाब' है। इन अर्थों से किसी प्रकार भी अवधि के नियम की जिज्ञासा नहीं होती। अतः व्यवस्था में वर्त्तमान न होने के कारण इन की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी। इस से पक्ष में 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' (१५६) सूत्र प्रवृत्त न होगा।

"असञ्ज्ञायां किम्? उत्तरा कुरवः"

व्यवस्था होने पर भी पूर्वादि शब्द किसी की सञ्ज्ञा नहीं होने चाहियें। यदि ये किसी की सञ्ज्ञा होंगे तो व्यवस्था में वर्त्तमान होने पर भी इन की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी। यथा 'उत्तरा कुरवः' [उत्तरकुरुदेश] *। सुमेरुपर्वत को अवधि मान कर 'उत्तर कुरु' इस प्रकार देश व्यवस्था की गई है। अतः यहां 'उत्तर' शब्द व्यवस्था में वर्त्तमान है। परन्तु 'उत्तर कुरु' इस प्रकार कुरुदेश की सञ्ज्ञा होने से उत्तरशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी।

जहां पूर्व आदि शब्द किसी की सञ्ज्ञा न होंगे और व्यवस्था में वर्त्तमान होंगे वहां निम्नप्रकारेण प्रयोगसिद्धि होगी—

'पूर्व+जस्' यहां 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१५१) सूत्र से पूर्वशब्द की नित्य सर्वनामसञ्ज्ञा प्राप्त होने पर 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरा०' इस प्रकृतसूत्र से जस् में वह विकल्प कर के हो जाती है। सर्वनामपक्ष में 'जसः शी' (१५२) से जस् को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश करने पर 'पूर्वे' प्रयोग सिद्ध होता है। सर्वनामाभावपक्ष में रामशब्दवत् पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'पूर्वाः' प्रयोग बन जाता है।

इसी प्रकार पर आदि शब्दों के भी—परे, पराः। अवरे, अवराः। दक्षिणे, दक्षिणाः। उत्तरे, उत्तराः। अपरे, अपराः। ये दो २ रूप बनते हैं। इन शब्दों की रूपमाला आगे लिखेंगे।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१५७ स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्।१।१।३४॥

---

* कुरुशब्दो देशविशेषे बहुवचनान्तः प्रयुज्यते। सम्प्रति रूस का यूक्रेनप्रदेश 'उत्तरकुरु' देश है—ऐसा विचारकों का मत है। परन्तु अन्य लोग 'कुरुक्षेत्र' को ही 'उत्तरकुरु' देश मानते हैं।

ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य प्राप्ता सञ्ज्ञा जसि वा। स्वे, स्वा। आत्मीया आत्मान इति वा। ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः=ज्ञातयोऽर्था वा।

अर्थ—ज्ञाति (बान्धव) और धन अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ वाले स्वशब्द की प्राप्त सर्वनामसञ्ज्ञा जस् मे विकल्प से हो।

व्याख्या—स्वम् ।१।१। ['शब्द स्वरूपम्' की दृष्टि से नपुंसक लिखा गया है।] अज्ञातिधनाख्यायाम् ।७।१। विभाषा ।१।१। जसि ।७।१। ['विभाषा जसि' से] सर्वनाम ।१।१। ['सर्वादीनि सर्वनामानि' से वचनविपरिणाम कर के] समास—ज्ञातिश्च धनञ्च=ज्ञातिधने, तयोर् आख्या (सञ्ज्ञा)=ज्ञातिधनाख्या तस्याम्=ज्ञातिधनाख्यायाम् द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुष। न ज्ञातिधनाख्यायाम्=अज्ञातिधनाख्यायाम्, नञ्तत्पुरुष। अर्थ—(अज्ञातिधनाख्यायाम्) ज्ञाति और धन अर्थ से भिन्न अन्य अर्थों म (जसि) जस परे होने पर (स्वम्) स्वशब्द (विभाषा) विकल्प करके (सवनाम) सर्वनाम सञ्ज्ञक होता है।

सर्वादिगण में भी यह सूत्र पढ़ा गया है। उस से ज्ञाति और धन अर्थ से भिन्न अन्य अर्थों मे स्वशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा सर्वत्र प्राप्त हाती थी। पुन इस सूत्र के द्वारा उसी प्राप्त सर्वनामसञ्ज्ञा का जस् में विकल्प किया गया है।

स्वशब्द के चार अथ होते हैं—(१) आत्मा (खुद अथवा स्वयम्), (२) आत्मीय (खुद का=अपना), (३) ज्ञाति (बान्धव=रिश्तेदार), (४) धन। इन चार अर्थों में से प्रथम दो अर्थों में स्वशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा होती है, पिछले दो अर्थों में नहीं। प्रकृतसूत्र से वही सर्वत्र प्राप्त सर्वनामसञ्ज्ञा जस् में विकल्प कर के की जाती है। सर्वनाम पक्ष मे जस् को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश हो कर 'स्वे' प्रयोग बना। सर्वनामाभावपक्ष में रामशब्दवत् 'स्वा' रूप सिद्ध हुआ।

ज्ञाति और धन अर्थ मे सर्वनामसञ्ज्ञा न होने से 'स्व' शब्द का रामशब्दवत् उच्चारण होगा। अत जस् मे कवल 'स्वा' ही बनेगा।

"ज्ञातिरात्मा तथात्मीयश्चतुर्थं धनमेव च
अर्था प्रोक्ताः स्वशब्दस्य कोषे बुद्धिमतां वरैः ॥१॥
आत्मात्मीयार्थयोरेव सर्वनाम स्मृतं बुधैः।
यो ज्ञातिधनवाची स्यात् सर्वनाम न कीर्त्यते ॥२॥"

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१५८ अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ।१।१।३५॥

बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य प्राप्ता सञ्ज्ञा जसि वा। अन्तरे, अन्तरा वा गृहाः—बाह्या इत्यर्थः। अन्तरे, अन्तरा वा शाटकाः—परिधानीया इत्यर्थः।

अर्थः—बाह्य और परिधानीय अर्थ में अन्तरशब्द की सर्वत्र प्राप्त सर्वनाम सञ्ज्ञा जस में विकल्प से हो।

व्याख्या—अन्तरम् ।१।१। बहिर्योगोपसंव्यानयोः ।७।२। जसि ।७।१। विभाषा ।१।१। ['विभाषा जसि' से] सर्वनाम ।१।१। ['सर्वादीनि सर्वनामानि' से] समास— बहिः=अनावृतो देशः, तेन योगः=सम्बन्धो यस्य स बहिर्योगः, बहुव्रीहि समासः। उपसंवीयते=परिधीयते इत्युपसंव्यानम् †। बहिर्योगश्च उपसंव्यानं च=बहिर्योगोपसंव्याने। तयोः=बहिर्योगोपसंव्यानयोः। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(बहिर्योगोपसंव्यानयोः) बाहर से सम्बन्धित तथा नीचे पहनने योग्य वस्त्रादिक अर्थ में (अन्तरम्) अन्तरशब्द (जसि) जस् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनाम) सर्वनामसञ्ज्ञक होता है।

बाह्य अर्थात् बाहरस्थित तथा नीचे पहनने योग्य वस्त्रादिक अर्थ में अन्तरशब्द को इसी प्रकार के गणसूत्र द्वारा जो सर्वनामसञ्ज्ञा सर्वत्र प्राप्त थी उसी का यहां जस् में विकल्प किया गया है। सर्वनामपक्ष में जस् को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश हो—'अन्तरे' बनेगा। तदभावपक्ष में पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश करने पर—'अन्तराः' सिद्ध होगा। अन्तरे, अन्तरा वा गृहाः [बाहरस्थित घर। प्रायः चाण्डाल आदियों के घर नगर की चारदिवारी से बाहर ही हुआ करते हैं। देखो मनुस्मृति—१०।५१।]। अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः [नीचे पहनने योग्य वस्त्र=धोती आदि]।

बहिर्योगोपसंव्यानयोः किम्? अनयोर्ग्रामयोरन्तरे तापसः प्रतिवसति [इन दो गांवों के मध्य तपस्वी रहता है]। यहां 'अन्तर' शब्द का अर्थ 'मध्यदेश' है। अतः सर्वनामसञ्ज्ञा न होने से सर्वनामकार्य न होंगे। [यह प्रत्युदाहरण गणसूत्र का ही है। एवम्—'आवयोरन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः' रामा०।] इसी प्रकार—'इमे अत्यन्तरा मम'।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१५६ पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ।७।१।१६।

एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः। पूर्वस्मात्, पूर्वात्। पूर्वस्मिन्, पूर्वे। एवम्परादीनाम् *। शेषं सर्ववत्।

---

† 'अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके' इत्यमरः।

* रूपाणि बोध्यानीति शेषः।

अर्थ—पूर्व आदि नौ शब्दों से परे ङसि और ङि को क्रमश स्मात् और स्मिन् आदश विकल्प स हों।

व्याख्या—पूर्वादिभ्य ।५।३। नवभ्य ।५।३। ङसिङ्योः ।६।२। स्मात्स्मिनौ ।१।२। [ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' स] वा इत्यव्ययपदम् । अर्थ —(पूर्वादिभ्य) पूर्व आदि (नवभ्य) नौ शब्दों से परे (ङसिङ्योः) ङसि और ङि के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (स्मात्स्मिनौ) स्मात् और स्मिन् आदेश होते हैं।

पूर्वोक्त त्रिसूत्री (१५६, १५७ १५८) में स्थित नौ शब्दों का उन्हीं अर्थों में यहा ग्रहण है। गणसूत्रों द्वारा नित्य सर्वनामसञ्ज्ञा विहित होने से इन से परे स्मात् और स्मिन् आदेश नित्य प्राप्त होते थे। अब इस सूत्र से विकल्प किया जाता है। पूर्वस्मात्, पूर्वस्मिन्। पक्ष में रामवत् प्रक्रिया हो कर—पूर्वात् पूर्वे।

अब पूर्वोक्त अर्थों में पूर्व आदि शब्दों के उच्चारण लिखे जाते हैं—

१ पूर्व (पहला)

प्र०	पूर्वः	पूर्वौ	पूर्वे पूर्वाः
द्वि०	पूर्वम्	,,	पूर्वान्
तृ०	पूर्वेण	पूर्वाभ्याम्	पूर्वैः
च०	पूर्वस्मै	,,	पूर्वेभ्यः
प०	पूर्वस्मात् / पूर्वात्	,,	,,
ष०	पूर्वस्य	पूर्वयोः	पूर्वेषाम्
स०	पूर्वस्मिन् / पूर्वे	,,	पूर्वेषु
स०	हे पूर्व !	हे पूर्वौ !	हे पूर्वे !, पूर्वाः !

२ पर (दूसरा)

प्र०	परः	परौ	परे, पराः
द्वि०	परम्	,,	परान्
तृ०	परेण	पराभ्याम्	परैः
च०	परस्मै	,,	परेभ्यः
प०	परस्मात् / परात्	,,	,,
ष०	परस्य	परयोः	परेषाम्
स०	परस्मिन् / परे	,,	परेषु
स०	हे पर !	हे परौ !	हे परे !, पराः !

३ अवर (न्यून आदि)

प्र०	अवरः	अवरौ	अवरे, अवराः
द्वि०	अवरम्	,,	अवरान्
तृ०	अवरेण	अवराभ्याम्	अवरैः
च०	अवरस्मै	,,	अवरेभ्यः
प०	अवरस्मात् / अवरात्	,,	,,

४ दक्षिण (दहिना)

प्र०	दक्षिणः	दक्षिणौ	दक्षिणे, दक्षिणाः
द्वि०	दक्षिणम्	,,	दक्षिणान्
तृ०	दक्षिणेन	दक्षिणाभ्याम्	दक्षिणैः
च०	दक्षिणस्मै	,,	दक्षिणेभ्यः
प०	दक्षिणस्मात् / दक्षिणात्		

ष०	अवरस्य	अवरयोः	अवरेषाम्
स०	अवरस्मिन्, अवरे	,,	अवरेषु
सं०	हे अवर!	हे अवरौ!	हे अवरे!, अवराः!

ष०	दक्षिणस्य	दक्षिणयोः	दक्षिणेषाम्
स०	दक्षिणस्मिन्, दक्षिणे	,,	दक्षिणेषु
सं०	हे दक्षिण!	हे दक्षिणौ!	हे दक्षिणे!, हे दक्षिणाः!

५ उत्तर (अगला)

प्र०	उत्तर	उत्तरौ	उत्तरे उत्तरा
द्वि०	उत्तरम्	,,	उत्तरान्
तृ०	उत्तरेण	उत्तराभ्याम्	उत्तरैः
च०	उत्तरस्मै	,,	उत्तरेभ्य
पं०	उत्तरस्मात्, उत्तरात्	,,	,,
ष०	उत्तरस्य	उत्तरयो	उत्तरेषाम्
स०	उत्तरस्मिन्, उत्तरे	,,	उत्तरेषु
सं०	हे उत्तर!	हे उत्तरौ!	हे उत्तरे!, उत्तरा!

६ अपर (दूसरा)

प्र०	अपर	अपरौ	अपरे, अपरा
द्वि०	अपरम्	,,	अपरान्
तृ०	अपरेण	अपराभ्याम्	अपरैः
च०	अपरस्मै	,,	अपरेभ्य
पं०	अपरस्मात्, अपरात्	,,	,,
ष०	अपरस्य	अपरयो	अपरेषाम्
स०	अपरस्मिन्, अपरे	,,	अपरेषु
सं०	हे अपर!	हे अपरौ!	हे अपरे!, हे अपरा!

७ अधर (नीचा)

प्र०	अधर	अधरौ	अधरे, अधरा
द्वि०	अधरम्	,,	अधरान्
तृ०	अधरेण	अधराभ्याम्	अधरैः
च०	अधरस्मै	,,	अधरेभ्य
पं०	अधरस्मात्, अधरात्	,,	,,
ष०	अधरस्य	अधरयोः	अधरेषाम्
स०	अधरस्मिन्, अधरे	,,	अधरेषु
सं०	हे अधर!	हे अधरौ!	हे अधरे!, अधरा!

८ स्व (आत्मा आत्मीय)

प्र०	स्व	स्वौ	स्वे, स्वा
द्वि०	स्वम्	,,	स्वान्
तृ०	स्वेन	स्वाभ्याम्	स्वैः
च०	स्वस्मै	,,	स्वेभ्य
पं०	स्वस्मात्, स्वात्	,,	,,
ष०	स्वस्य	स्वयो	स्वेषाम्
स०	स्वस्मिन्, स्वे	,,	स्वेषु
सं०	हे स्व!	हे स्वौ!	हे स्वे!, हे स्वा!

९ अन्तर (बाह्य या परिधानीय)

प्र०	अन्तर	अन्तरौ	अन्तरे, अन्तरा	ष०	अन्तरस्य	अन्तरयो	अन्तरेषाम्
द्वि०	अन्तरम्	,,	अन्तरान्	स०	अन्तरस्मिन्, अन्तरे	,,	अन्तरेषु
तृ०	अन्तरेण	अन्तराभ्याम्	अन्तरैः	सं०	हे अन्तर !	हे अन्तरौ !	हे अन्तरे !, हे अन्तरा !
च०	अन्तरस्मै	,,	अन्तरेभ्यः				
प०	अन्तरस्मात्, अन्तरात्	,,	,,				

यहा पूर्व आदि ९ शब्द समाप्त होते हैं ॥

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१६० प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च ।१।१।३२॥

एते जसि उक्तसञ्ज्ञा वा स्युः । प्रथमे, प्रथमाः । तयः प्रत्ययः— द्वितये, द्वितयाः । शेषं रामवत् । नेमे, नेमाः । शेषं सर्ववत् ।

अर्थ—प्रथम, चरम, तयप्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम ये शब्द जस् परे होने पर विकल्प कर के सर्वनाम-सञ्ज्ञक हों ।

व्याख्या—प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः ।१।३। च इत्यव्ययपदम् । जसि ।७।१। विभाषा ।१।१। ['विभाषा जसि' से] सर्वनामानि ।१।३। ['सर्वादीनि सर्वनामानि' से] समास—प्रथमश्च चरमश्च तयश्च अल्पश्च अर्धश्च कतिपयश्च नेमश्च=प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थ—(प्रथम—नेमाः) प्रथम, चरम, तय, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम ये शब्द (जसि) जस् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनामानि) सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं।

इन शब्दों में 'नेम' शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी शब्द का सर्वादिगण में पाठ नहीं, अतः शेष सब शब्दों की जस् को छोड़ अन्य विभक्तियों में रामशब्दवत् प्रक्रिया होगी। जस् में सर्वनामपक्ष में 'जसः शी' (१५२) आदि कार्य होंगे । तदभावपक्ष मे रामवत् प्रक्रिया जाननी चाहिये। इन के उच्चारण यथा—

प्रथम (पहला)

प्र०	प्रथम	प्रथमौ	प्रथमे, प्रथमाः
द्वि०	प्रथमम्	,,	प्रथमान्
तृ०	प्रथमेन	प्रथमाभ्याम्	प्रथमैः
च०	प्रथमाय	,,	प्रथमेभ्यः
प०	प्रथमात्	,,	,,

चरम (अन्तिम)

प्र०	चरम	चरमौ	चरमे, चरमाः
द्वि०	चरमम्	,,	चरमान्
तृ०	चरमेण	चरमाभ्याम्	चरमैः
च०	चरमाय	,,	चरमेभ्यः
प०	चरमात्	,,	,,

ष०	प्रथमस्य	प्रथमयो	प्रथमानाम्	ष०	चरमस्य	चरमयो	चरमाणाम्
स०	प्रथमे	,,	प्रथमेषु	स०	चरमे	,,	चरमेषु
सं०	हे प्रथम !	हे प्रथमौ !	हे प्रथमे !, प्रथमा !	सं०	हे चरम !	हे चरमौ !	हे चरमे !, चरमा !

चरमशब्द के बाद 'तय' आता है। तय' प्रत्यय है। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' इस परिभाषानुसार तयप्रत्ययान्तों का ही ग्रहण किया जायगा। यद्यपि "सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति" इस ज्ञापक से तदन्तों का ग्रहण नहीं होना चाहिये था तथापि केवल तय प्रत्यय की सञ्ज्ञा करना निष्प्रयोजन होने से तदन्तों का ग्रहण हो जाता है। तयप्रत्ययान्त शब्द—द्वितय, त्रितय, चतुष्टय, पञ्चतय, षट्तय, सप्ततय, अष्टतय, नवतय दशतय आदि जानने चाहियें। किञ्च—द्वि और त्रि शब्दों से परे तयप् को 'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा' (११६६) सूत्र से अयच् आदेश हो कर 'द्वय' और 'त्रय' शब्द भी बन जाते हैं। ये भी स्थानिवद्भाव से तयप्प्रत्ययान्त होने के कारण इस से प्रकृत सूत्र द्वारा सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं।

द्वितय (द्वौ अवयवौ यस्य, दो अवयवों वाला—जोड़ा)

प्र०	द्वितय	द्वितयौ	द्वितये, द्वितया	प०	द्वितयात्	द्वितयाभ्याम्	द्वितयेभ्य
द्वि०	द्वितयम्	,,	द्वितयान्	ष०	द्वितयस्य	द्वितययो	द्वितयानाम्
तृ०	द्वितयेन	द्वितयाभ्याम्	द्वितयैः	स०	द्वितये	,,	द्वितयेषु
च०	द्वितयाय	,,	द्वितयेभ्य	सं०	हे द्वितय !	हे द्वितयौ !	हे द्वितये !, द्वितया !

इसी प्रकार—द्वय, त्रितय, त्रय, चतुष्टय, पञ्चतय प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

अल्प (थोड़ा) | **अर्ध** (आधा)

प्र०	अल्प	अल्पौ	अल्पे, अल्पा	प्र०	अर्धं	अर्धौ	अर्धे, अर्धा
द्वि०	अल्पम्	,,	अल्पान्	द्वि०	अर्धम्	,,	अर्धान्
तृ०	अल्पेन	अल्पाभ्याम्	अल्पैः	तृ०	अर्धेन	अर्धाभ्याम्	अर्धैः
च०	अल्पाय	,,	अल्पेभ्य	च०	अर्धाय	,,	अर्धेभ्य
प०	अल्पात्	,,	,,	प०	अर्धात्	,,	,,
ष०	अल्पस्य	अल्पयो	अल्पानाम्	ष०	अर्धस्य	अर्धयो	अर्धानाम्
स०	अल्पे	,,	अल्पेषु	स०	अर्धे	,,	अर्धेषु
सं०	हे अल्प !	हे अल्पौ !	हे अल्पे !, अल्पा !	सं०	हे अर्ध !	हे अर्धौ !	हे अर्धे, अर्धा !

कतिपय (कुछ)

प्रथमा	कतिपयः	कतिपयौ	कतिपये, कतिपयाः
द्वितीया	कतिपयम्	,,	कतिपयान्
तृतीया	कतिपयेन	कतिपयाभ्याम्	कतिपयैः
चतुर्थी	कतिपयाय	,,	कतिपयेभ्यः
पञ्चमी	कतिपयात्	,,	,,
षष्ठी	कतिपयस्य	कतिपययोः	कतिपयानाम्
सप्तमी	कतिपये	,,	कतिपयेषु
सम्बोधन	हे कतिपय !	हे कतिपयौ !	हे कतिपये !, कतिपयाः !

'कतिपय' शब्द के अनन्तर 'नेम' शब्द आता है। अर्धवाचक नेमशब्द सर्वनाम-सञ्ज्ञक होता है—यह पीछे कह आये हैं। उसी का प्रकृतसूत्र में ग्रहण समझना चाहिये, अन्य का नहीं। रूपमाला यथा—

प्र०	नेमः	नेमौ	नेमे, नेमाः	पं०	नेमस्मात्	नेमाभ्याम्	नेमेभ्यः
द्वि०	नेमम्	,,	नेमान्	ष०	नेमस्य	नेमयोः	नेमेषाम्
तृ०	नेमेन	नेमाभ्याम्	नेमैः	स०	नेमस्मिन्	,,	नेमेषु
च०	नेमस्मै	,,	नेमेभ्यः	सं०	हे नेम !	हे नेमौ !	हे नेमे !, नेमाः !

[लघु०] वा०—१६ तीयस्य ङित्सु वा ।

द्वितीयस्मै, द्वितीयायेत्यादि । एवं तृतीयः ।

अर्थः—ङित् विभक्तियों में तीयप्रत्ययान्तों की विकल्प कर के सर्वनामसञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या—तीयस्य ।६।१। ङित्सु ।७।३। वा इत्यव्ययपदम् । सर्वनामानि ।१।३। [प्रकरण-प्राप्त]। 'तीय' यह एक प्रत्यय है। केवल इस की सञ्ज्ञा का कोई प्रयोजन नहीं; अतः 'सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' इस निषेध के होते हुए भी 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से तीयप्रत्ययान्तों का ही ग्रहण किया जाएगा। ङ् इत् यस्य असौ=ङित्, जिस विभक्ति के ङकार की इत्सञ्ज्ञा हो उसे ङित् विभक्ति कहते हैं। ङित् विभक्तियां चार हैं—ङे, ङसि, ङस्, ङि।

ङे में सर्वनामसञ्ज्ञा होने से 'सर्वनाम्नः स्मै' (१५३) तथा ङसि और ङि में सर्वनामसञ्ज्ञा होने से 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (१५४) सूत्र प्रवृत्त होगा। ङस् में कुछ

विशेषता नहीं *। पक्ष में जहां सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी वहां रामशब्दवत् प्रक्रिया होगी। द्वितीय (दूसरा) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	द्वितीयः	द्वितीयौ	द्वितीयाः
द्वि०	द्वितीयम्	,,	द्वितीयान्
तृ०	द्वितीयेन	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयैः
च०	द्वितीयस्मै / द्वितीयाय	,,	द्वितीयेभ्यः
प०	द्वितीयस्मात् / द्वितीयात्	,,	,,
ष०	द्वितीयस्य	द्वितीययोः	द्वितीयानाम्
स०	द्वितीयस्मिन् / द्वितीये	,,	द्वितीयेषु
सं०	हे द्वितीय !	हे द्वितीयौ !	हे द्वितीयाः !

इसी प्रकार 'तृतीय' (तीसरा) शब्द का उच्चारण भी समझ लेना चाहिये।

अभ्यास (२६)

(१) व्यवस्था का लक्षण लिख उस का सोदाहरण विस्तृत विवेचन करें।

(२) (क) किस अर्थ में 'सम' की सर्वनामसञ्ज्ञा होती है और क्यों ?।

(ख) द्वितीय और द्वितय शब्दों के उच्चारण में क्या अन्तर है ?। सप्रमाण लिखो।

(ग) 'जस शी' यहां शी को ह्रस्व क्यों नहीं किया ?।

(घ) 'उभ' शब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा करने का क्या प्रयोजन है ?।

(ङ) 'स्व' शब्द के कितने अर्थ होते हैं और किस २ अर्थ में उस की सर्वनामसञ्ज्ञा की गई है ?।

(३) 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' सूत्र का क्यों कैसे और कौनसा विचित्र अर्थ ग्रन्थकार ने किया है ? सविस्तर लिखो।

(४) तद्गुणसंविज्ञान और अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि का भेद प्रतिपादन करते हुए 'सर्वादीनि सर्वनामानि' सूत्र में इन में से किस का आश्रय किया जाता है वर्णन करो ?।

(५) सर्वादिगणपठित त्रिसूत्री का पुनः अष्टाध्यायी में क्यों उल्लेख किया गया है ?

(६) निम्नलिखित परिभाषाओं का सोदाहरण विवेचन करें—

१ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्। २ सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति। ३ यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते। ४ उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्। ५ न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न केवलः प्रत्ययः।

(७) (क) 'सर्व, अर्ध, तृतीय, नेम, सम' शब्दों के षष्ठी बहुवचन में रूप सिद्ध करो।

---

* यहां पुंल्लिङ्ग में यद्यपि सर्वनामसञ्ज्ञा का कोई फल नहीं तथापि स्त्रीलिङ्ग में 'द्वितीयस्याः, तृतीयस्याः' प्रयोगों में 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' (२२०) सूत्र द्वारा स्याट् आगम तथा ह्रस्व होना फल है।

(ख) 'उभ, अर्ध, द्वितय, द्वितीय, पूर्व, स्व अन्तर, एक' शब्दों के पञ्चमी के एकवचन में रूप सिद्ध करो ? ।

(ग) 'अवर, कतिपय, चरम, स्व, प्रथम' शब्दो के प्रथमा के बहुवचन मे रूप सिद्ध करो ? ।

सर्वादिगण के अदन्त शब्द यहा समाप्त होते हैं।

—०※०—

रामशब्द की अपेक्षा विशिष्ट उच्चारण वाले शब्दों मे 'निर्जर' शब्द का प्रमुखस्थान है। अत यहा अब उस का वर्णन किया जाता है—

निर्गतो जराया=निर्जर । ['निरादय क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समास, उपसर्जन-ह्रस्व ।] देवता को 'निर्जर' कहते है, क्योंकि वह जरा (बुढ़ापा) से रहित होता है।

प्रथमा के एकवचन में रामशब्द के समान 'निर्जर' रूप बनता है।

प्रथमा के द्विवचन में 'निर्जर + औ' । यहा अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१६१ जराया जरसन्यतरस्याम् ।७।२।१०१॥

अजादौ विभक्तौ ।

अर्थ—अजादि विभक्ति परे होने पर जरा शब्द को विकल्प कर के जरस् आदेश हो।

व्याख्या—अचि ।७।१। ['अचि र ऋत' से] विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] जराया ।६।१। जरस ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। विभक्तौ' का विशेषण होने से 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा 'अचि पद से तदादिविधि हो 'अजादौ' बन जाता है। अर्थ—(अचि) अजादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (जराया) जरा शब्द के स्थान पर (जरस्) जरस् आदेश हो जाता है।

औ, जस् (अस), अम्, औट्, शस् (अस), टा (आ), ङे (ए), ङसि (अस्), ङस् (अस), ओस्, आम्, ङि (इ), ओस्—ये तेरह अजादि विभक्तिया हैं।

'निर्जर + औ' यहा अजादि विभक्ति परे है औ'। परन्तु यहा जरा शब्द नहीं 'निर्जर' शब्द वर्तमान है। इस का समाधान अग्रिम परिभाषा से करते हैं—

[लघु०] पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च (प)।

अर्थ—'पद' तथा 'अङ्ग' के अधिकार में जिस के स्थान पर आदेश विधान किया जाए, उस के तथा वह जिसके अन्त में है उस समुदाय के भी स्थान पर आदेश होता है।

व्याख्या—'पदस्य' यह अष्टमाध्याय के प्रथमपाद का सोलहवां सूत्र है। यह अधिकार-सूत्र है। इस का अधिकार 'अपदान्तस्य मूर्धन्य' (८।३।५५) सूत्र तक जाता है। इसे पदाधिकार कहते है। ['अलुगुत्तरपदे' इत्ययमुत्तरपदाधिकारोऽपि पदाधिकारग्रहणेन गृह्यते' इति तत्त्वबोधिनीकारा श्रीज्ञानेन्द्रस्वामिन ।]

'अङ्गस्य' यह छठे अध्याय के चौथे पाद का प्रथम सूत्र है। यह भी अधिकार सूत्र है। इस का अधिकार सातवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है। इसे अङ्गाधिकार कहते है।

इन दोनों अधिकारो मे जिस के स्थान पर आदेश का विधान किया गया हो उसके तथा वह जिस समुदाय के अन्त मे हो उस समुदाय के भी स्थान मे आदेश होता है।

'जराया जरसन्यतरस्याम्' (१६१) सूत्र अङ्गाधिकार मे पढा गया है। इस सूत्र में जरस् आदेश जरा के स्थान पर विधान किया गया है। अत वह अकेले जरा शब्द के स्थान पर भी होगा और जरा शब्द जिस के अन्त मे होगा ऐसे 'निर्जर' प्रभृति शब्दों के स्थान पर भी होगा।

अब 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' (४४) सूत्र से सम्पूर्ण 'निर्जर' शब्द के स्थान पर जरस् आदेश प्राप्त होता हैं। इस पर अग्रिम-परिभाषा प्रवृत्त होती है—

[लघु०] निदिश्यमानस्यादेशा भवन्ति (प)।

अर्थ—जिस का निर्देश किया गया हो उस के स्थान पर ही आदेश होते हैं।

व्याख्या—सूत्र में जो साक्षात् निर्दिष्ट किया गया हो उस के स्थान पर ही आदेश करना चाहिये। अन्य के स्थान पर नहीं। 'जराया   ' सूत्र में जरस् आदेश जरा के स्थान पर ही कहा गया है, अत यह 'निर्जर' के अन्तर्गत 'जरा' के स्थान पर ही होगा सम्पूर्ण निर्जर के स्थान पर नहीं।

यहा यह शङ्का उत्पन्न होती है कि जब आदेश निर्दिश्यमान के स्थान पर ही करना अभीष्ट है तो पुन पूर्वोक्त तदन्तग्रहण परिभाषा का क्या लाभ ?। इस का उत्तर यह है कि तदन्तग्रहण परिभाषा से केवल इतना लाभ होता है कि प्रथम जो तदन्तों में आदेश की बिल्कुल प्राप्ति नही होती थी सो अब हो जाती है। यथा—यदि तदन्तग्रहणपरिभाषा न होती तो 'निर्जर' शब्द में जरस् आदेश की बिल्कुल प्राप्ति ही न होती, क्योंकि वहां 'निर्जर' शब्द है, 'जरा' नहीं। अब इस परिभाषा से तदन्तघटित 'निर्जर' के जरा मे भी आदेश की प्रवृत्ति हो जाती है—यह वहां लाभ है।

अब यहा यह सन्देह होता है कि 'निर्जर' शब्द में 'जरा' नहीं 'जर' है। आदेश जरा के स्थान पर ही होता है अत यहाँ जरस् नहीं होना चाहिये। इस अवचन को दूर करने के लिये अग्रिम-परिभाषा प्रवृत्त होती है—

[लघु०] एकदेशविकृतमनन्यवत् (प)। इति जरशब्दस्य जरस्—

निर्जरसौ, निर्जरस पक्षे हलादौ च रामवत्।

अर्थः—अवयव के विकृत हो जाने पर भी अवयवी अन्य के समान नहीं हो जाता।

व्याख्या—यह परिभाषा लोकन्याय पर आश्रित है। अर्थात् जैसे लोक में किसी कुत्ते की पूँछ कट जाने पर वह गधा घोडा नहीं हो जाता, वैसे कुत्ता ही रहता है इसी प्रकार यहा शास्त्र मे भी 'निजर' के अन्तर्गत जरा के जर हो जाने पर भी वह जरा ही रहता है कुछ अन्य नहीं हो जाता। इस से जर को भी जरस् हो जाता है।

निर्जर + औ' यहा 'जर' को 'जरस्' आदेश हो कर—'निर्जरस्+औ' = 'निर्जरसौ' रूप सिद्ध हो जाता है। पक्ष में रामशब्दवत् प्रक्रिया हो कर निजरौ' रूप बनता है। इसी प्रकार आगे भी अजादि विभक्तियों में समझ लेना चाहिये। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	निर्जर	निर्जरसौ, निर्जरौ	निर्जरसः, निर्जरा'
द्वितीया	निर्जरसम्, निर्जरम्	” ”	”, निर्जरान्
तृतीया	निर्जरसा, निर्जरेण	निर्जराभ्याम	निर्जरै
चतुर्थी	निर्जरसे, निर्जराय	”	निर्जरेभ्य
पञ्चमी	निर्जरस, निर्जरात्	”	”
षष्ठी	”, निर्जरस्य	निर्जरसो', निर्जरयो'	निर्जरसाम्, निर्जराणाम्
सप्तमी	निर्जरसि, निर्जरे	” ”	निर्जरेषु
सबोधन	हे निर्जर!	हे निर्जरसौ! हे निर्जरौ!	हे निर्जरसः!, हे निर्जराः!

इसी प्रकार जराशब्दान्त 'दुर्जर' प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

ध्यान रहे कि—इन, आत्, स्य, य तथा नुट् आदियों से जरस् आदेश पर है, अत प्रथम जरस् आदेश प्रवृत्त हो कर तदनन्तर उन की प्रवृत्ति होगी। यदि प्रथम 'इन' आदि आदेश हो जाते तो टा में 'निर्जरसिन', ङसिँ में 'निर्जरसात्' तथा ङस्, ङे और आम् में हलादि हो जाने से जरस् आदेश न हो—'निर्जरस्य', निजराय' और 'निर्जराणाम्' यह एक एक रूप बन जाता।

प्रश्न—निर्जर शब्द से तृतीया का बहुवचन भिस् करने पर जब 'अतो भिस ऐस' (१४२) से भिस् को ऐस हो जाता है तब जरस आदेश क्यों नहीं होता ?।

उत्तर—"सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" [सन्निपात=संयोग, लक्षणम्=निमित्तं यस्य स सन्निपातलक्षणो विधिः। तम्=सन्निपातं विहन्तीति—तद्विघातः, कर्मण्युपपदे कर्त्तर्यण्। तस्य अनिमित्तम्भवति——कारणन्न भवतीत्यर्थः।] जिसके विद्यमान होने पर जो कार्य हुआ हो वह कार्य उस निमित्त के विघातक कार्य में निमित्त नहीं हुआ करता। तथा अत्र——अदन्त अङ्ग निर्जर के होने से 'अतो भिस ऐस' (१४२) द्वारा भिस के स्थान में ऐस हुआ है। तो यह ऐस् आदेश——अदन्त अङ्ग को नष्ट करने वाले=जरस आदेश का निमित्त नहीं होगा—अर्थात् इसे मान कर जरस आदेश न हो सकेगा।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो 'रामाय' में 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ आदेश भी न होना चाहिये। क्योंकि अदन्त अङ्ग को निमित्त मान कर उत्पन्न हुआ 'य' आदेश—अदन्तत्व के विघातक दीर्घ का निमित्त न हो सकेगा।

उत्तर—यह सत्य है, परन्तु पाणिनि के 'कष्टाय क्रमणे' (७२८) और भाष्यकार के 'धर्माय नियमः=धर्मनियमः' (पस्पशाह्निके) प्रभृति निर्देशों तथा सम्पूर्ण संस्कृतसाहित्य के अनुरोध से इस स्थल पर उपर्युक्त परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती।

[यहां अदन्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।]

—ॐ—

अब आकारान्त पुंल्लिङ्ग 'विश्वपा' शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विश्वपाः।

व्याख्या—विश्वं पातीति—विश्वपाः। विश्वकर्मोपपद 'पा रक्षणे' (अदा०) धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (७९९) सूत्र से विच् प्रत्यय हो उस का सर्वापहार लोप हो जाता है। संसार के रक्षक—परमात्मा को 'विश्वपा' कहते हैं। प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय आ कर 'विश्वपा + सुँ' हुआ। अब उकार की इत्सञ्ज्ञा और लोप होने पर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग हो कर 'विश्वपाः' प्रयोग सिद्ध होता है।

विश्वपा + औ' यहां 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि प्राप्त होने पर उसे बाध कर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—१६२ दीर्घाज्जसि च ।६।१।१०२॥

दीर्घाज्जसि इचि च परे न पूर्वसवर्णदीर्घः। वृद्धिः—विश्वपौ। विश्वपाः। हे विश्वपाः। विश्वपाम्। विश्वपौ।

अर्थ—दीर्घ से जस अथवा इच् प्रत्याहार परे होने पर पूर्वसवर्णदीर्घ आदेश नहीं होता।

व्याख्या—दीर्घात् ।५।१। जसि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। इचि ।७।१। ['नादिचि' से] पूर्वपरयो ।६।२। एक ।१।१। ['एक पूर्वपरयो' यह अधिकृत है।] पूर्वसवर्ण ।१।१। ['प्रथमयो पूर्वसवर्ण' से] दीर्घ ।१।१। ['अक सवर्णे दीर्घ' से] न इत्यव्ययपदम्। ['नादिचि' से] अर्थ—(दीर्घात्) दीर्घ से (जसि) जस (च) अथवा (इचि) इच प्रत्याहार परे होने पर (पूर्वपरयो) पूर्व + पर के स्थान पर (पूर्वसवर्ण, दीर्घ, एक) पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश (न) नहीं होता।

'विश्वपा+औ' यहां पकारोत्तर आकार दीर्घ है। इस से परे औकार=इच् वर्त्तमान है। अत पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो गया। तब वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर विश्वपौ' रूप सिद्ध हुआ।

प्रथमा के बहुवचन में—विश्वपा + जस्=विश्वपा + अस। इस अवस्था मे प्रकृतसूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो जाता है। तब 'अक सवर्णे दीर्घ' (४२) से सवर्णदीर्घ हो कर 'विश्वपा' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रश्न—'विश्वपा+औ' में 'नादिचि' (१२७) से भी पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो सकता है, तथा जस मे उस के हो जाने से भी कोई अनिष्ट नहीं होता, तो पुन 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) सूत्र के बनाने की क्या आवश्यकता है?।

उत्तर—यद्यपि इस सूत्र का फल इस स्थान पर कुछ प्रतीत नहीं होता, तथापि 'पप्यौ, पप्य' आदि स्थानों पर इस का फल स्पष्ट होगा। यहा तो न्यायवशात् ही इसे लिख दिया गया है।

द्वितीया में—विश्वपा+अम्। पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर 'अमि पूर्व' (१३५) से पूर्वरूप हो—'विश्वपाम्' प्रयोग बना।

द्वितीया के द्विवचन में 'विश्वपौ' प्रथमा के समान बनता है।

द्वितीया के बहुवचन में—विश्वपा+शस्=विश्वपा + अस। यहा पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर अग्रिम कार्य होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१६३ सुडनपुंसकस्य ।१।१।४२॥

स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसञ्ज्ञानि स्युरक्लीबस्य ।

अर्थः—नपुंसकलिङ्ग से भिन्न अन्य लिङ्ग के सुँ आदि पाञ्च प्रत्यय सर्वनामस्थान सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—सुँट् ।१।१। अनपुंसकस्य ।६।१। सर्वनामस्थानम् ।१।१। ['शि सर्वनामस्थानम्' से] समास—न नपुंसकस्य=अनपुंसकस्य, नञ्समास । पर्युदासप्रतिषेध । अर्थ—(अनपुंसकस्य) नपुंसक से भिन्न अन्य लिङ्ग का (सुँट्) सुँट् प्रत्याहार (सर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक होता है ।

'स्वौजसमौट्' (११८) सूत्र के सुँ से लेकर औट के टकार तक सुँट् प्रत्याहार बनता है । इस में 'सुँ, औ, जस, अम्, औट' इन पाञ्च प्रत्ययों का ग्रहण होता है । ये पाञ्च प्रत्यय पुंल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग से परे हों तो इन की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होती है । अब अग्रिमसूत्र में इस सञ्ज्ञा का उपयोग दर्शाते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१६४ स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ।१।४।१७।।

कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं पदं स्यात् ।

अर्थः—सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक प्रत्ययों को छोड़ कर 'सुँ' से लेकर 'कप्' पर्यन्त प्रत्ययों के परे होने पर पूर्वशब्दस्वरूप पदसञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या—स्वादिषु ।७।३। असर्वनामस्थाने ।७।१। पदम् ।१।१। ['सुप्तिङन्तं पदम्' से] समास—सुँप्रत्यय आदिर्येषां ते स्वादयः, तेषु=स्वादिषु, बहुव्रीहिसमास । न सर्वनामस्थाने=असर्वनामस्थाने, नञ्समास । 'असर्वनामस्थाने' यह 'स्वादिषु' का विशेषण है । इस में एकवचन आर्ष समझना चाहिये । 'स्वादिषु' यह सप्तम्यन्त है । अतः 'तस्मिन्निति ' (१६) परिभाषा से पूर्वशब्दसमुदाय ही पदसञ्ज्ञक होगा । अर्थ—(असर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान भिन्न (स्वादिषु) सुँ आदि प्रत्ययों के परे होने पर पूर्वशब्दसमुदाय (पदम्) पदसञ्ज्ञक होता है ।

चतुर्थ अध्याय के प्रथम प्रत्यय 'सुँ' से लेकर पाञ्चवें अध्याय के अन्तिम प्रत्यय 'कप्' तक सब प्रत्यय 'स्वादि' कहलाते हैं । इन स्वादि प्रत्ययों में 'सुँ, औ, जस, अम, औट' इन पाञ्च प्रत्ययों की सर्वनामस्थान सञ्ज्ञा है । इन सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक पाञ्च प्रत्ययों से भिन्न अन्य स्वादि प्रत्यय यदि परे हों तो उन से पूर्वशब्दसमुदाय पदसञ्ज्ञक होता है ।

'विश्वपा + अस्' (शस्) यहां शस् प्रत्यय सर्वनामस्थान से भिन्न स्वादि है, अतः इस के परे होने से पूर्वशब्दसमुदाय 'विश्वपा' की पदसञ्ज्ञा प्राप्त होती है । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] संज्ञा सूत्रम्—१६५ **यचि भम् ।१।४।१८॥**

यकारादिषु अजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भसञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थ—सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक प्रत्ययों को छोड़ कर 'सु' से लेकर 'कप्' प्रत्यय पर्यन्त यकारादि और अजादि प्रत्यय परे होने पर पूर्वशब्दसमुदाय भसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—असर्वनामस्थाने ।७।१। स्वादिषु ।७।३। ['स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से] यचि ।७।१। भम् ।१।१। समास—य च अच् च=यच्, तस्मिन्=यचि, समाहारद्वन्द्व ['समासान्तविधिरनित्यः' इति 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे' इति टच् न] । 'यस्मिन् विधि' परिभाषा से तदादिविधि हो कर 'यकारादिषु अजादिषु' ऐसा बन जायगा । यहां भी पूर्ववत् 'तस्मिन्निति ' (१६) परिभाषा से पूर्वशब्दसमुदाय की ही भसञ्ज्ञा होगी । अर्थ—(असर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान से भिन्न (यचि) यकारादि या अजादि (स्वादिषु) स्वादि प्रत्यय परे हों तो (भम्) पूर्वशब्दसमुदाय भसञ्ज्ञक होता है।

'विश्वपा + अस्' (शस्) यहां 'अस्' प्रत्यय अजादि है अत इस के परे होने से पूर्वशब्दसमुदाय 'विश्वपा' की भसञ्ज्ञा प्राप्त होती है ।

अब यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या जैसे लोक में एक व्यक्ति की दो सञ्ज्ञाएं देखी जाती हैं वैसे यहां भी शस् आदियों के परे होने पर पूर्व की पद और भ दोनों सञ्ज्ञाएं की जाएं या कोई एक ? यदि एक की जाय तो कौन सी एक ? इस पर अग्रिमसूत्र निर्णय करता है—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—१६६ **आकडारादेका सञ्ज्ञा ।१।४।१॥**

इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्राग् एकस्यैकैव सञ्ज्ञा ज्ञेया, या पराऽनवकाशा च ।

अर्थ—इस सूत्र से लेकर 'कडाराः कर्मधारये' सूत्र तक एक की एक ही सञ्ज्ञा हो।

व्याख्या—यह प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद का पहला सूत्र है। यह अधिकार-सूत्र है। इस का अधिकार दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के अन्तिमसूत्र 'कडाराः कर्मधारये' (२।२।३८) तक जाता है। इस प्रकार इस के अधिकार में तीन पाद होते हैं। आ इत्यव्यय पदम् । कडारात् ।५।१। एका ।१।१। सञ्ज्ञा ।१।१। अर्थ—(कडारात्) 'कडाराः कर्मधारये' सूत्र (आ) तक (एका) एक (सञ्ज्ञा) सञ्ज्ञा हो ।

'कडाराः ' सूत्र तक यदि एक ही सञ्ज्ञा करेंगे तो शेष सब सञ्ज्ञाएं जो मुनि

ने उस सूत्र तक की हैं व्यर्थ हो जाएगी, अतः यहां 'एक की एक ही सञ्ज्ञा हो दो न हों' ऐसा मुनि का अभिप्राय समझना चाहिये।

अब पुनः संशय उठता है कि इस सूत्र से 'एक की एक सञ्ज्ञा हो दो न हो' यह तो निर्णीत हो गया परन्तु कौन सी सञ्ज्ञा हो? यह सन्देह वैसे का वैसा बना रहता है। इस का ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि—

"या पराऽनवकाशा च"

अर्थात् जो पर या निरवकाश हो—वह हो। यदि दोनों सञ्ज्ञाएं सावकाश [भिन्न भिन्न स्थानों पर प्रवृत्त हो चुकी] हों तो पर सञ्ज्ञा और यदि एक सावकाश और एक अनवकाश [जिसे प्रवृत्त होने के लिये कोई स्थान न मिला हो] हो तो वह अनवकाश सञ्ज्ञा ही हो।

ग्रन्थकार का ऐसा लिखना युक्त ही है। जहां दोनों सञ्ज्ञाएं सावकाश होंगी वहां विप्रतिषेध होने से 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) द्वारा पर सञ्ज्ञा ही होनी चाहिये। जहां एक सावकाश और एक निरवकाश होगी वहां निरवकाश सञ्ज्ञा को ही स्थान देना युक्तिसङ्गत है *। क्योंकि यदि सावकाश सञ्ज्ञा वहां पर भी अनवकाशसञ्ज्ञा को न होने दे तो उस अनवकाश सञ्ज्ञा का करना ही व्यर्थ हो जाय। अतः अनवकाश और सावकाश दोनों के एक साथ एक ही स्थान पर प्राप्त होने पर अनवकाश सञ्ज्ञा ही होगी †।

प्रकृत में पद सञ्ज्ञा को भ्याम् आदि में अवकाश=स्थान प्राप्त है, क्योंकि वहां अजादि और यकारादि के न होने से भ सञ्ज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती। परन्तु भ सञ्ज्ञा अनवकाश है अर्थात् इसे कोई स्थान नहीं मिलता, क्योंकि जब यह यकारादियों और अजादियों में प्रवृत्त होने लगती है तब पद सञ्ज्ञा भी उपस्थित हो जाती है। अतः यहां पूर्वकथितनियमानुसार अनवकाशसञ्ज्ञा का होना ही युक्त है। तो इस प्रकार यह निर्णय हुआ कि—यकारादि और अजादि प्रत्यय परे होने पर भ सञ्ज्ञा तथा शेष हलादि प्रत्ययों के परे होने पर पद सञ्ज्ञा हो। हम बालकों के ज्ञान के लिये इसे और अधिक स्पष्ट करते हैं—

(१) 'सुँ, औ, जस्, अम्, औट्' इन पाञ्चों के परे रहते न तो पदसञ्ज्ञा होती है और न भसञ्ज्ञा। परन्तु ध्यान रहे कि पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग तक ही यह नियम सीमित है नपुंसकलिङ्ग में नहीं क्योंकि इन की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा इन दो ही लिङ्गों में

---

* लोक में भी ऐसा देखा जाता है। यथा—यदि भूखे और तृप्त के मध्य अन्नदान का प्रश्न उपस्थित होतो भूखे को ही अन्न देना उचित समझा जाता है, क्योंकि वही अन्न का अधिकारी है।

† दो अनवकाश सञ्ज्ञाओं की किसी एक रूप में युगपत् प्राप्ति इस प्रकरण में कहीं नहीं देखी जाती, अतः उस की चर्चा नहीं की गई है।

की गई है। नपुंसक में सुँ परे रहते पद तथा औ अम् परे रहते भ सञ्ज्ञा होती है। जस् के स्थान पर नपुंसक में 'शि' आदेश हो जाया करता है, उस की 'शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) से सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होती है, अतः इस के परे रहते न तो पद सञ्ज्ञा होती है और न भ सञ्ज्ञा।

(२) शस्, टा, ङे, ङसिँ ङस् ओस् आम् और ङि—इन के परे रहने पर पूर्व की भसञ्ज्ञा होती है; क्योंकि ये सर्वनामस्थान से भिन्न होते हुए अजादि स्वादि हैं। ध्यान रहे कि अनुबन्धों का लोप कर देने से शस् आदि प्रत्यय अजादि हो जाते हैं।

(३) यदि आम् विशुद्ध अर्थात् नुट् आगम से रहित हो तो उस से पूर्व भसञ्ज्ञा होती है। अन्यथात्व होने पर अजादि न होने से पदसञ्ज्ञा ही हो जाती है। यथा षण्णाम् में पदसञ्ज्ञा हुई है।

(४) उपर्युक्त सुँप् प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य सुँप् प्रत्ययों (भ्याम्, भिस्, भ्यस्, नुट् सहित आम्, सुप्) के परे रहते पूर्व की पदसञ्ज्ञा होती है।

यहां पर सुँबन्तप्रक्रियोपयोगी विवरण ही लिखा है। विद्यार्थियों को चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायों में स्थित अन्यान्य प्रत्ययों के विषय में भी पूर्वोक्त आधार से व्यवस्था समझ लेनी चाहिये। यह विषय व्याकरण में अत्यन्त महत्त्वशाली है अतः छात्रों को इस का पुनः २ अभ्यास करना आवश्यक है।

तो इस प्रकार 'विश्वपा + अस्' यहां भसञ्ज्ञा हुई। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१६७ आतो धातोः ।६।४।१४०॥

आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः। अलोऽन्त्यस्य। विश्वपः। विश्वपा। विश्वपाभ्याम् इत्यादि।

अर्थः—आकारान्त धातु जिस के अन्त में हो ऐसे भसञ्ज्ञक अङ्ग का लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अल्—आकार का ही लोप होगा।

व्याख्या—आतः ।६।१। धातोः ।६।१। भस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [ये दोनों अधिकृत हैं] लोपः ।१।१। ['अल्लोपोऽनः' से] 'आतः' यह 'धातोः' का तथा 'धातोः' यह 'भस्य' का विशेषण है, अतः विशेषणों से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(आतः) आकारान्त (धातोः) धातु जिस के अन्त में हो ऐसे (भस्य) भसञ्ज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग का (लोपः) लोप हो जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अल्—आकार का ही लोप होगा।

'विश्वपा + अस्' यहां आकारान्त धातु 'पा' है तदन्त भसञ्ज्ञक अङ्ग 'विश्वपा' है। इस के अन्त्य अल् आकार का लोप कर रुत्व विसर्ग करने से 'विश्वपः' प्रयोग सिद्ध होता है।

विश्वपा+आ (टा) यहां भी अन्त्य आकार का लोप हो कर 'विश्वपा' रूप सिद्ध होता है।

अजादि विभक्तियों में इसी प्रकार आकार का लोप होगा, हलादि विभक्तियों में कोई विशेष कार्य नहीं होगा। रूपमाला यथा—

प्र०	विश्वपा	विश्वपौ	विश्वपाः	पं०	विश्वपः ॐ	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
द्वि०	विश्वपाम्	,,	विश्वपः ॐ	ष०	,, ॐ	विश्वपोः ॐ	विश्वपाम् ॐ
तृ०	विश्वपा ॐ	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभिः	स०	विश्वपि ॐ	,, ॐ	विश्वपासु
च०	विश्वपे ॐ	,,	विश्वपाभ्यः	सं०	हे विश्वपाः !	हे विश्वपौ !	हे विश्वपाः !

ॐ इन स्थानों पर आकार का लोप होता है।

[लघु०] एवं शङ्खध्मादयः ।

व्याख्या—शङ्खं धमतीति—शङ्खध्माः, शंख बजाने वाला। 'शङ्खध्मा' आदि शब्दों के रूप भी 'विश्वपा' के समान होते हैं। आदि से—सोमपा, मधुपा कीलालपा आदि शब्दों का ग्रहण जानना चाहिये।

[लघु०] धातोः किम् ? हाहान्। हाहै। हाहाः २। हाहौ २। हाहाम्। हाहे।

व्याख्या—'आतो धातोः' (१६७) में—धातु के आकार का लोप होता है—यह क्या कहा गया है ? इसलिये कि 'हाहान्' आदि में 'हाहा' शब्द के आकार का लोप न हो जाय। तथाहि—'हाहा' शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। इस का अर्थ है 'गन्धर्व विशेष'। 'हाहाहूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसाम्' इत्यमरः। यह शब्द किसी धातु से निष्पन्न नहीं होता अतः शसादियों में भसञ्ज्ञा होने पर भी इस के आकार का लोप नहीं होता। 'हाहा' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	हाहा	हाहौ	हाहाः	पं०	हाहाः †	हाहाभ्याम्	हाहाभ्यः
द्वि०	हाहाम्	,,	हाहान् ॐ	ष०	,, †	हाहौः ‡	हाहाम् †
तृ०	हाहा †	हाहाभ्याम्	हाहाभिः	स०	हाहे *	,, ‡	हाहासु
च०	हाहै ‡	,,	हाहाभ्यः	सं०	हे हाहा !	हे हाहौ !	हे हाहाः !

सर्वनामस्थानप्रत्ययों में विश्वपावत् प्रक्रिया होती है।

ॐ पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर शस् के सकार का नकार हो जाता है।

† इन सब स्थानों पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) प्रवृत्त होता है।

‡ इन स्थानों पर 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश होता है।

* यहां 'आद् गुणः' (२७) से गुण हो जाता है।

अभ्यास (२७)

(१) निम्नलिखित वचनों का सोदाहरण विवेचन करो—

१ या पराऽनवकाशा च । २ पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च । ३ निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति । ४ एकदेशविकृतमनन्यवत् । ५ सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य ।

(२) (क) 'निजरै' में जरस् आदेश क्यों नहीं होता ?

(ख) हाहा प्रयोग कहां २ बनता है ?

(ग) सर्वनाम और सर्वनामस्थान में भेद बताओ ।

(घ) 'हाहान्' में आकारलोप क्यों नहीं हुआ ?

(ङ) सुँपों में अजादि प्रत्यय कितने और कौन २ से हैं ?

(३) निम्नलिखित अधिकारों की अवधि बताओ—

१ पदाधिकार । २ अङ्गाधिकार । ३ एकसञ्ज्ञाधिकार । ४ प्रत्ययाधिकार । ५ एकादेशाधिकार ।

(४) सुँप प्रत्ययों के परे रहते कहां २ भसञ्ज्ञा और कहां २ पदसञ्ज्ञा होती है ? ।

(५) 'दीर्घाज्जसि च' सूत्र के बिना भी क्या विश्वपौ आदि प्रयोग सिद्ध हो सकते हैं ? यदि हां ! तो सूत्र रचने की क्या आवश्यकता ? ।

(६) निजर, हाहा और सोमपा शब्दों की रूपमाला लिखो ।

(७) विश्वपो, निर्जरसः, हाहौ' प्रयोगों की ससूत्र साधनप्रक्रिया लिखो ।

[यहां आकारान्त पुल्लिङ्ग समाप्त होते हैं]

—•॥•—

[लघु०] हरिः । हरी ।

व्याख्या—अब ह्रस्व इकारान्त शब्दों का वर्णन करते हैं । 'हरि' शब्द के कोषों में अनेक अर्थ लिखे हैं । यथा—

"हरिर्विष्णावहाविन्द्रे भेके सिंहे हये रवौ ।
चन्द्रे कोले प्लवङ्गे च यमे वाते च कीर्तित ॥"

हरि शब्द के बारह अर्थ होते हैं—(१) भगवान् विष्णु, (२) साँप, (३) इन्द्र, (४) मेंडक, (५) शेर, (६) घोड़ा (७) सूर्य, (८) चन्द्र, (९) सूअर, (१०) वानर, (११) यमराज, (१२) वायु ।

प्रथमा के एकवचन में—हरि+सुँ=हरि + स । सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने से 'हरिः' प्रयोग बना ।

प्रथमा के द्विवचन में 'हरि + औ' । इस अवस्था में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ इकार हो कर 'हरी' रूप बनता है ।

प्रथमा के बहुवचन में—'हरि + अस्' (जस्) । इस अवस्था में पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१६८ जसि च ।७।३।१०९॥

ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणः । हरयः ।

अर्थः—जस् परे होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो जाता है ।

व्याख्या—जसि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । ह्रस्वस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] गुणः ।१।१। ['ह्रस्वस्य गुणः' से] विशेषण होने से 'ह्रस्वस्य' से तदन्तविधि होती है । अर्थः—(जसि) जस् परे होने पर (ह्रस्वस्य) ह्रस्वान्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह गुण अङ्ग के अन्त्य वर्ण के स्थान पर होगा ।

'हरि+अस्' यहां ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' है । इस से परे जस् वर्तमान है । अतः प्रकृतसूत्र द्वारा अङ्ग के अन्त्य अल्—इकार के स्थान पर एकार गुण हो गया । 'हरे + अस्' इस स्थिति में 'एचोऽयवायावः' (२२) से एकार को अय् आदेश हो कर रुत्व विसर्ग करने से—'हरयः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

सम्बोधन के एकवचन में—'हे हरि + स' । 'एकवचनं सम्बुद्धिः' (१३२) से सम्बुद्धिसञ्ज्ञा होकर 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' (१३४) से सकारलोप प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१६९ ह्रस्वस्य गुणः ।७।३।१०८॥

सम्बुद्धौ । हे हरे ! । हरिम् । हरीन् ।

अर्थः—सम्बुद्धि परे होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो जाता है ।

व्याख्या—सम्बुद्धौ ।७।१। ['सम्बुद्धौ च' से] ह्रस्वस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] गुणः ।१।१। 'ह्रस्वस्य' से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे होने पर (ह्रस्वस्य) ह्रस्वान्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा द्वारा यह गुण अङ्ग के अन्त्य अल् के स्थान पर होगा ।

हे हरि+स्' यहां सम्बुद्धि पर है, अतः ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' के अन्त्य इकार का एकार गुण हो जाता है। तब अङ्ग के एङन्त हो जाने से 'एङ्ह्रस्वात्० ' (१३४) सूत्र से सम्बुद्धि का लोप हो कर 'हे हर !' प्रयोग सिद्ध हुआ।

द्वितीया के एकवचन में 'हरि+अम्' इस अवस्था में 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप एकादेश हो कर 'हरिम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के द्विवचन में प्रथमावत् 'हरी' रूप बनता है।

बहुवचन में 'हरि+अस्' (शस्) इस दशा में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ ईकार हो कर 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (१३७) से सकार को नकार करने पर 'हरीन्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां 'पदान्तस्य' (१३८) से नकार को णकार का निषेध हो जाता है।

'हरि+आ (टा)' यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१७० शेषो घ्यसखि ।१।४।७॥

शेष इति स्पष्टार्थम् । अनदीसञ्ज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसञ्ज्ञम् ।

अर्थः—जिन की नदीसञ्ज्ञा नहीं ऐसे जो ह्रस्व इकार और उकार तदन्त शब्दों की घिसञ्ज्ञा होती है परन्तु 'सखि' शब्द की नहीं होती।

व्याख्या—शेषः ।१।१। ह्रस्व ।१।१। ['ङिति ह्रस्वश्च' से] यू ।१।२। ['यू स्त्र्याख्यौ नदी' से] घि ।१।१। असखि ।१।१। समासः—इश्च उश्च, यू, इतरेतरद्वन्द्वः । न सखि= असखि नञ्तत्पुरुषः । इस सूत्र से पूर्व विशेष २ अवस्थाओं में ह्रस्व की नदी सञ्ज्ञा की गई है अतः जिस ह्रस्व की नदी सञ्ज्ञा नहीं की गई वह ह्रस्व यहां 'शेष' पद से गृहीत किया गया है। 'शेष ह्रस्व' ये 'यू' के प्रत्येक के साथ अन्वित होते हैं। अर्थात् 'शेष ह्रस्व इकार, शेष ह्रस्व उकार' यह इन का अर्थ है। 'शब्दस्वरूपम्' इस विशेष्य का ऊपर से अध्याहार कर लिया जाता है। 'शेष ह्रस्व यू' ये उस के विशेषण बना दिये जाते हैं। तब विशेषण में तदन्तविधि हो जाती है। अर्थ—(शेष) जिन की नदीसञ्ज्ञा नहीं ऐसे (ह्रस्व) ह्रस्व (यू) इकार उकार जिन के अन्त में हैं वे शब्दस्वरूप (घि) घिसञ्ज्ञक होते हैं परन्तु (असखि) सखि शब्द नहीं होता।

कहां २ नदीसञ्ज्ञा नहीं होती ?

(१) पुंल्लिङ्ग में ह्रस्व इकारान्त तथा ह्रस्व उकारान्त शब्द नदीसञ्ज्ञक नहीं होते। यथा—हरि, अरि, भानु, गुरु आदि।

(२) स्त्रीलिङ्ग मे ङित् विभक्तियों के परे रहते जिस पक्ष में 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) द्वारा नदीसञ्ज्ञा नहीं होती।

इन दो स्थानों के अतिरिक्त अन्य सब स्थानों पर ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्दों की नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। अत उपर्युक्त दो स्थान ही इस सूत्र के विषय हो सकते हैं।

सूत्र में 'शेष' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि नदी सञ्ज्ञा करने से जो शेष ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द रहें उन की ही घिसञ्ज्ञा हो अन्यों की न हो। परन्तु यह प्रयोजन शेष' ग्रहण के विना भी सिद्ध हो सकता है। क्योंकि घिसञ्ज्ञा सामान्य होने से उत्सर्ग और 'ङिति ह्रस्वश्च (२२२) द्वारा विहित नदीसञ्ज्ञा विशेष होने से अपवाद है। अपवाद के विषय को छोड कर ही उत्सर्ग प्रवृत्त हुआ करते हैं। इस से प्रथम नदीसञ्ज्ञा हो कर शेष अवशिष्टो की ही घिसञ्ज्ञा सुतरा प्राप्त हो जायगी इस के लिये 'शेष' पद क ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं। तथापि यहा मुनि ने बात को बिल्कुल स्पष्ट करने के लिये शेष' का ग्रहण कर दिया है। अर्थात् मुनि ने यह समझा कि कदाचित् मन्दमति लोग इस बात को न समझ सकें अत शेष' पद लिख कर स्पष्ट कर देना उचित है।

हरि' शब्द की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती अत इस की घि-सञ्ज्ञा हुई। अब घिसञ्ज्ञा का फल दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७१ आङो नाऽस्त्रियाम् ।७।३।१२०॥

घे॰ परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम्। आङ् इति टासञ्ज्ञा। हरिणा। हरिभ्याम्। हरिभि ।

अर्थ —घिसञ्ज्ञक से परे आङ का ना आदेश हो परन्तु स्त्रीलिङ्ग में नहीं। आङ' यह टा की सञ्ज्ञा है।

व्याख्या—घे ।५।१। ['अच्च घे' स] आङ ।६।१। ना ।१।१। [विभक्तिलोप आर्ष] अस्त्रियाम् ।७।१। समास —न स्त्रियाम्=अस्त्रियाम्, नञ्तत्पुरुष । अर्थ —(अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग से भिन्न अन्य लिङ्ग मे (घे) घिसञ्ज्ञक स परे (आङ) आङ के स्थान पर (ना) ना आदेश होता है।

पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्य टा का 'आङ' कहते चले आ रहे हैं। पाणिनि ने भी यहा उसी सञ्ज्ञा का व्यवहार किया है।

हरि + आ' यहा घिसञ्ज्ञक है 'हरि'। इस से परे टा को ना हो 'अट्कुप्वाङ् ' १३८) सूत्र से नकार को णकार करने पर 'हरिणा' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्विवचन में 'हरिभ्याम्' और बहुवचन में 'हरिभि सिद्ध होते हैं।

चतुर्थी के एकवचन में—हरि+ए (ङे)। यहां घिसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७२ घेर्ङिति ।७।३।१११॥

घिसञ्ज्ञकस्य ङिति सुपि गुणः । हरये ।

अर्थ—ङित् सुप् परे रहते घिसञ्ज्ञक को गुण हो।

व्याख्या—घेः ।६।१। गुणः ।१।१। ['ह्रस्वस्य गुणः' से] ङिति ।७।१। सुपि ।७।१। ['सुपि च' से] अर्थः—(ङिति) ङित् (सुपि) सुँप् परे होने पर (घेः) घिसञ्ज्ञक के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश होता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से गुण अङ्ग के अन्त्य वर्ण को ही होगा।

'हरि + ए' यहां घिसञ्ज्ञक हरि है। इस से परे ङित् सुँप् 'ए' है। अतः घि के अन्त्य वर्ण इकार के स्थान पर एकार गुण हो कर—'हरे + ए' बना। अब इस स्थिति में 'एचोऽयवायावः' (२२) से रेफोत्तर एकार को अय् होकर 'हरये' प्रयोग सिद्ध हुआ।

द्विवचन में 'हरिभ्याम्' और बहुवचन में 'हरिभ्यः' रूप बनते हैं।

पञ्चमी के एकवचन में 'हरि + अस्' (ङसिँ)। यहां घिसञ्ज्ञा हो कर 'घेर्ङिति' (१७२) सूत्र से इकार को एकार गुण हुआ। तब 'हरे + अस्' इस स्थिति में पदान्त न होने से 'एङः पदान्तादति' (४३) से पूर्वरूप नहीं हो सकता। 'एचोऽयवायावः' (२२) से अय् आदेश प्राप्त होता है। इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७३ ङसिँ-ङसोश्च ।६।१।१०७॥

एङो ङसिँ-ङसोरति पूर्वरूपमेकादेशः । हरेः २। हर्योः। हरीणाम्।

अर्थ—एङ् (ए, ओ) से ङसिँ या ङस् का अकार परे हो तो पूर्व + पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो।

व्याख्या—एङः ।५।१। ['एङः पदान्तादति' से] ङसिँ ङसोः ।६।२। च इत्यव्ययपदम्। अति ।७।१। ['एङः पदान्तादति' से] पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है] पूर्वः ।१।१। ['अमि पूर्वः' से] अर्थः—(एङः) एङ् प्रत्याहार से (ङसिँ ङसोः) ङसिँ अथवा ङस् का (अति) अत् परे हो तो (पूर्व परयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्वः) पूर्व वर्ण आदेश होता है।

'हरे + अस्' यहां एकार एङ् से ङसिँ का अकार परे है अतः पूर्व + पर के स्थान पर एकार पूर्वरूप हो कर सकार को रुत्व विसर्ग करने से 'हरेः' प्रयोग सिद्ध हुआ।

आकार का उदाहरण 'भानो' आगे आएगा।

षष्ठी के एकवचन में पूर्ववत् 'हरे' रूप बनता है।

द्विवचन मे 'हरि + ओस्' इस दशा में 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर सकार का रुँत्व विसर्ग करने पर 'हर्यो' रूप बनता है।

बहुवचन में 'हरि + आम्'। यहा ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' है अत 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) से आम् को नुट् का आगम हो अनुबन्धलोप और 'नामि' (१४९) से दीर्घ करने पर 'हरी + नाम्'। अब 'अट्कुप्वाङ्' (१३८) सूत्र से नकार को णकार करने से—'हरीणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में—हरि + इ (ङि)। यहाँ घिसञ्ज्ञा हो कर 'घेर्ङिति' (१७२) से गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७४ अच्च घेः ।७।३।११९॥

इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत्, घेरत्। हरौ। हर्योः। हरिषु। एवं कव्यादयः।

अर्थः—ह्रस्व इकार तथा ह्रस्व उकार से परे ङि को औत् और घि को 'अत्' आदेश हो।

व्याख्या—इदुद्भ्याम् ।५।२। ['इदुद्भ्याम्' से] ङेः ।६।१। [ङेराम्नद्याम्नीभ्यः से] औत् ।१।१। ['औत्' से] घेः ।६।१। अत् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(इदुद्भ्याम्) ह्रस्व इकार तथा ह्रस्व उकार से परे (ङेः) ङि के स्थान पर (औत्) औ आदेश हो (च) तथा (घेः) घिसञ्ज्ञक के स्थान पर (अत्) ह्रस्व अकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह अत् आदेश घि के अन्त्य अल् को ही होगा।

'हरि+इ' यहा इस सूत्र से ङि (इ) को 'औ' और घिसञ्ज्ञक 'हरि' शब्द के इकार के स्थान पर अकार आदेश हुआ। तब 'हर+औ' इस दशा मे 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर 'हरौ' रूप सिद्ध हुआ।

द्विवचन में पूर्ववत 'हर्योः' रूप सिद्ध होता है।

सप्तमी के बहुवचन में 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से प्रत्यय के अवयव सकार को षकार हो 'हरिषु' प्रयोग सिद्ध होता है। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	हरिः	हरी	हरयः	पं०	हरेः	हरिभ्याम्	हरिभ्यः
द्वि०	हरिम्	,,	हरीन्	ष०	,,	हर्योः	हरीणाम्
तृ०	हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभिः	स०	हरौ	,,	हरिषु
च०	हरये	,,	हरिभ्यः	सं०	हे हरे!	हे हरी!	हे हरयः!

इसी प्रकार कवि आदि शब्दों की प्रक्रिया होती है। बालकोपयोगी कुछ शब्दों का संग्रह यहां दे रहे हैं—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अग्नि	आग	चक्रपाणि	भगवान् विष्णु	५५बालधि	पूंछ
अङ्घ्रि❀	चरण	चरणग्रन्थि	गिट्टा	बृहस्पति	देवगुरु
अञ्जलि	जुड़े हुए दोनों	चूडामणि	शिरोरत्न	भर्तृहरि❀	प्रसिद्ध राजा
	हाथ	३०जठराग्नि	पेट की अग्नि	भागुरि❀	एक मुनि
अतिथि	मेहमान	जलधि	समुद्र	भारवि❀	एक कवि
५ अद्रि❀	पहाड़	ज्ञाति	रिश्तेदार	६० भूपति	राजा
अराति	शत्रु	दिनमणि	सूर्य	मणि	मणि
अरि❀	शत्रु	दिवाकीर्ति	नापित	मरीचि	किरण
अलि	भ्रमर	३५दुन्दुभि	नगारा	मातलि	इन्द्र का सारथि
अवधि	सीमा	दुर्मति	दुष्ट बुद्धि वाला	मारुति	हनुमान्
१०असि	तलवार	धूर्जटि	शिव	६५मुनि	मुनि
आधि	मानसिक पीड़ा	धन्वन्तरि❀	प्रसिद्ध वैद्य	मृगपति	शेर
इषुधि	तरकस	ध्वनि	आवाज	मेधातिथि	मनुस्मृति के
उडुपति	चन्द्र	४०नमुचि	एक दैत्य		एक टीकाकार
उदधि	समुद्र	निधि	खज़ाना	मौलि	सिर
१५उपाधि	उपाधि	निशापति	चन्द्र	यति	सन्यासी
उषापति	सूर्य	नृपति	राजा	७०ययाति	प्रसिद्ध राजा
ऊर्मि❀	लहर	पत्ति	पैदल सेना	रमापति	भगवान् विष्णु
ऋषि❀	मन्त्रद्रष्टा	४५पयोधि	समुद्र	रवि❀	सूर्य
कपि	वानर	पयोराशि	समुद्र	रश्मि	किरण
२०कलानिधि	चन्द्र	परिधि	गोल दाइरा	राशि	ढेर
कलि	झगड़ा	पवि	वज्र	७५रोहिणी	
कवि	कविता करने	पशुपति	शिव	पति	चन्द्र
	वाला	५०पाणि	हाथ	वकवृत्ति	स्वार्थी
कृपीटयोनि	अग्नि	पाणिनि	प्रसिद्ध मुनि	वह्नि	आग
कृमि❀	कीड़ा	प्रजापति	ब्रह्मा	वाक्पति	बृहस्पति
२५गिरि	पहाड़	प्रणिधि	दूत	वारिधि	सागर
ग्रन्थि	गाँठ	प्रतिनिधि	नुमाइन्दा	८०वारिराशि	समुद्र

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
वाल्मीकि	सुप्रसिद्ध मुनि	शत्रधि	निधि पद्म आदि	सभापति	सभा का प्रधान
व्याधि	बीमारी	सनाभि	जात भाई	९५सारथि	रथ वाहक
विधि	दैव	९०सन्धि	मल	सुगन्धि	इष्ट गन्ध से
व्रीहि	चावल	सप्तसप्ति	सूर्य		युक्त
८८शकुनि	पक्षी	सप्ति	घोडा	सुमति	श्रेष्ठ बुद्धि वाला
शाल्मलि	सैंबल का वृक्ष	समाधि	योग का एक	सूरि❀	विद्वान्
शतरश्मि	चन्द्र		अङ्ग	सेनापति	सेना नायक

१०० हिमगिरि❀ = हिमालय

हरि शब्द की अपेक्षा सखि, पति, कति त्रि और द्वि शब्दों में कुछ अन्तर पडता है अतः अब इन का क्रमशः वर्णन किया जाता है। प्रथम सखि (मित्र) शब्द यथा—

शेषो घ्यसखि' (१७०) सूत्र से 'सखि' शब्द की घिसञ्ज्ञा नहीं होती। प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होकर इस से स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। प्रथमा के एकवचन में—सखि + सुँ = सखि + स्। इस अवस्था मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१७५ अनङ् सौ ।७।१।९३॥

सख्युरङ्गस्यानङादेशोऽसम्बुद्धौ सौ ।

अर्थः—सम्बुद्धिभिन्न सुँ परे रहते अङ्गसञ्ज्ञक सखि शब्द के स्थान पर अनङ् आदेश हो।

व्याख्या—सख्युः ।६।१। ['सख्युरसम्बुद्धौ' से] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अनङ् ।१।१। असम्बुद्धौ ।७।१। ['सख्युरसम्बुद्धौ' से] सौ ।७।१। यहां 'सौ' से प्रथमा के एकवचन का ग्रहण होता है सप्तमी के बहुवचन का नहीं क्योंकि सप्तमी का बहुवचन मानने से 'असम्बुद्धौ' निषेध व्यर्थ हो जाता है। अर्थः—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ) सुँ परे होने पर (अङ्गस्य) अङ्गसञ्ज्ञक (सख्युः) सखि शब्द के स्थान पर (अनङ्) अनङ् आदेश हो।

अनङ् में ङकार इत् है। नकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है। ङित् होने के कारण 'ङिच्च' (४६) द्वारा यह अनङ् आदेश सखि शब्द के अन्त्य अल्=इकार के स्थान पर होगा।

'सखि + स' यहां सुँ परे है, अतः इकार को अनङ् आदेश हो ङ के चले जाने पर—सख् अन् + स्='सखन् + स्' हुआ। इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१७६ अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ।१।१।६४॥

अन्त्यादल पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः ।

अर्थ—अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण उपधासंज्ञक हो।

व्याख्या—अन्त्यात् ।५।१। अलः ।५।१। पूर्वः ।१।१। उपधा ।१।१। अर्थ—(अन्त्यात्) अन्त्य (अलः) अल् से (पूर्वः) पूर्व वर्ण (उपधा) उपधासंज्ञक हो।

अल् प्रत्याहार में सब वर्ण आ जाते हैं अतः अल् और वर्ण पर्यायवाची हैं। समुदाय के अन्तिम वर्ण से पूर्व वर्ण की उपधा संज्ञा होती है। यथा—पठ् पच् पत् अत् इत्यादि में अन्त्य वर्ण से पूर्व अकार उपधासंज्ञक है। बुध् युध् रुध् इत्यादि में अन्तिम वर्ण से पूर्व उकार उपधासंज्ञक है। वृत् वृध् इत्यादि में अन्त्य वर्ण से पूर्व ऋकार उपधासंज्ञक है।

सखन् + स् यहां अङ्ग में अन्त्य अल् नकार है इस से पूर्व वर्ण अकार है इस की उपधासंज्ञा हुई। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१७७ सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ।६।४।८॥

नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने ।

अर्थ—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—न ।६।१। ['नोपधायाः' से। यहां 'सुपां सुलुक्० ' सूत्र द्वारा षष्ठी का लुक् हुआ है। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से इस से तदन्तविधि हो 'नान्तस्य' बन जाता है।] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] उपधायाः ।६।१। ['नोपधायाः' से] दीर्घः ।१।१। ['ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] असम्बुद्धौ ।७।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। समास—न सम्बुद्धौ=असम्बुद्धौ नञ्तत्पुरुष। अर्थ—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (न) नान्त (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है।

'सखन् + स्' यहां नान्त अङ्ग 'सखन्' है, इस से परे सर्वनामस्थान है 'स्'। यह सम्बुद्धिभिन्न भी है। अतः प्रकृतसूत्र से उपधा अकार को दीर्घ हो—'सखान् + स्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] संज्ञा सूत्रम्—१७८ अपृक्त एकाल् प्रत्ययः ।१।२।४१॥

एकाल् प्रत्ययो यः, सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात् ।

अर्थ—एक अल् रूप प्रत्यय अपृक्तसंज्ञक होता है।

व्याख्या—अपृक्त ।१।१। एकाल् ।१।१। प्रत्ययः ।१।१। समासः—एकश्चासावल्= एकाल्, कर्मधारयसमासः । एकशब्दोऽत्र असहायवाची । अर्थः—(एकाल्) एक अल् रूप (प्रत्ययः) प्रत्यय (अपृक्त) अपृक्तसञ्ज्ञक हो । भाव—जो प्रत्यय केवल एक अल् रूप हो या एक अल् रूप हो गया हो उस की अपृक्तसञ्ज्ञा होती है ।

'सखान्+स्' यहां 'स्' यह एक अल् रूप प्रत्यय है अतः प्रकृत सूत्र से इस की अपृक्तसञ्ज्ञा हुई । अब अग्रिमसूत्र से इस का लोप करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१७९ हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् । ६ । १ । ६६ ॥

हलन्तात् परम्, दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परम्, 'सु-ति-सि' इत्येतद् अपृक्तं हल् लुप्यते ।

अर्थः—हलन्त से अथवा दीर्घ 'ङी' या 'आप्' जिस के अन्त में हों उस से परे 'सु ति सि' प्रत्ययों के अपृक्त हल् का लोप होता है ।

व्याख्या—हल्ङ्याब्भ्यः ।५।३। दीर्घात् ।५।१। सु ति सि ।१।१। अपृक्तम् ।१।१। हल् ।१।१। लोपः ।१।१। [लोपो व्योर्वलि' से] समासः—हल् च ङी च आप् च=हल्ङ्यापः, तेभ्यः=हल्ङ्याब्भ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । यहां 'शब्दस्वरूपम्' अथवा 'अङ्गम्' का अध्याहार कर उस के ये हलादि विशेषण बना दिये जाते हैं । इस से तदन्तविधि हो कर 'हलन्तात् ङ्यन्ताद् आबन्तात्' ऐसा बन जाता है । सूत्रस्थ 'दीर्घात्' पद ङी और 'आप्' के साथ ही सम्बद्ध हो सकता है हल् के साथ नहीं क्योंकि हल् दीर्घ नहीं हुआ करता । तो अब 'हलन्तात् दीर्घङ्यन्तात् दीर्घाबन्तात्' ऐसा हो जायगा । 'हल्ङ्याब्भ्यः' में पञ्चमी विभक्ति दिग्योग में हुई है अतः 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) की सहायता से 'परम्' का अध्याहार कर लेंगे । सुश्च तिश्च सिश्च=सु ति सि, समाहारद्वन्द्वः । 'सुतिसि अपृक्तं हल्' इस का अर्थ है—सु ति सि जो अपृक्त हल् । यहां सन्देह होता है कि अपृक्तसञ्ज्ञा तो एक अल् रूप प्रत्यय की की जाती है पुनः 'सु, ति, सि' ये कैसे हल् और अपृक्त बन सकते हैं । इस का समाधान यह है कि जब 'सु ति सि' के उकार तथा इकार का लोप हो जाता है तब अवशिष्ट स्, त्, स् को ही 'सु, ति, सि' समझ लेना चाहिये क्योंकि वे उन से ही शेष बचे हैं । इस प्रकार वे अपृक्त भी होंगे और हल् भी होंगे । कई लोग—'सुतिसेरपृक्तम्= सुतिस्यपृक्तम्' ऐसा षष्ठीतत्पुरुषसमास मान कर 'सु ति सि के अपृक्त हल् का लोप हो' इस प्रकार अर्थ किया करते हैं । यह अर्थ भी शुद्ध तथा स्पष्ट है । 'लोप' यहां कर्म में घञ् प्रत्यय हुआ है—लुप्यत इति लोपः । जो लुप्त किया जाय उसे 'लोप' कहते हैं । यह 'हल्'

पद का विशेषण है । अर्थ —(हल्ङ्याब्भ्यः दीर्घात्) हल् से परे तथा दीर्घ ङी और आप जिस के अन्त मे हैं उस से परे (सुतिसि) सु ति सि ये (अपृक्तम्) अपृक्तसञ्ज्ञक (हल) हल् (लोप) लुप्त हो जाते हैं । उदाहरण यथा—

हलन्त से परे— राजान्+स्' (सुँ) यहा नकार हल से परे अपृक्त सुँ का लोप हो जाता है । अहन् + त' ('इतश्चे'ति तिप इकारलोप) यहा नकार हल से परे अपृक्त ति का लोप हो जाता है । 'अहन्+स' (इतश्चेति सिप इकारलोप) यहा हल से परे अपृक्त सि का लोप हो जाता है ।

दीर्घ ङी* से परे— कुमारी + स' (सुँ) यहा दीर्घ ङी से परे अपृक्त सुँ का लोप हो जाता है । दीर्घ ङी से परे ति और सि का आना असम्भव है ।

दीर्घ आप* से परे—'बाला + स' (सुँ) यहा दीर्घ आप से परे अपृक्त सुँ का लोप हो जाता है । दीर्घ आप से परे भी ति और सि नहीं आया करते ।

यद्यपि ङी और आप् स्वत ही दीर्घ हुआ करते हैं, इन के लिये पुन दीर्घ का कथन व्यर्थ सा प्रतीत होता है तथापि समास में इन के ह्रस्व हो जाने पर उन से परे लोप न हो—इसलिये सूत्र में दीर्घ का ग्रहण किया गया है। यथा—निष्कौशाम्बि [निष्क्रान्त कौशाम्ब्या ' इति विग्रह निरादय क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समास , गोस्त्रियो —इत्युप सर्जनह्रस्व ।] यहा ङी के ह्रस्व हो जाने से उस से परे सुँ का लोप नहीं होता । एवम्— अतिखट्व , अतिमाल आदि में भी ह्रस्व आप से परे सुँलोपाभाव समझ लेना चाहिये ।

प्रश्न —हलन्त से परे हल के लोप की कुछ आवश्यकता नहीं क्योंकि वहा 'संयोगान्तस्य लोप ' (२०) से भी लोप सिद्ध हो सकता है ।

उत्तर—संयोगान्तलोप करने से निम्नलिखित दोष प्राप्त होते हैं । तथाहि—

(१) राजान्+स' यहा संयोगान्तलोप करने पर उस के असिद्ध होने से 'न लोप प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) द्वारा नकार का लोप न हो सकेगा ।

(२) 'उखास्रत् + स , पर्णध्वत् + स्' यहा संयोगान्तलोप करने पर उसके असिद्ध होने से तकार के पदान्त न रहने पर जश्त्व न हो सकेगा ।

(३) 'भिदिर् विदारणे' (रुधा०) धातु के लङ लकार के मध्यमपुरुष के एकवचन में सिप , श्नम् , और 'दश्च' (५७३) सूत्र से दकार को रुँ आदेश करने पर 'अभिनर्+स्' हुआ । अब यदि यहा संयोगान्तलोप करते हैं तो 'अभिनर+अत्र' यहां 'अतो रोरप्लुतादप्लुते'

* भेदक अनुबन्धों से रहित होने के कारण 'ङी' से ङीप् , ङीष् , ङीन् का तथा 'आप्' से टाप् , डाप् , चाप् का ग्रहण होता है । इन प्रत्ययों का विवेचन स्त्रीप्रत्यय प्रकरण में देखें ।

(१०६) सूत्र से उत्व नहीं हो सकता क्योंकि सकारलोप के असिद्ध होने से उसका व्यवधान पड़ता है। इस से अभिनोऽत्र सिद्ध नहीं होता।

(४) 'अबिभर + त' (इतश्च ति तिप् इकारलोप।) यहां संयोगान्तलोप से कार्य सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि 'रात्सस्य' (२०६) सूत्र द्वारा रेफ से पर सकार के लोप का ही नियम है।

अतः हल् से परे भी हल् का लोप अवश्य करना चाहिये—यह यहां सिद्ध होता है। इस विषय पर श्लोक प्रसिद्ध है—

"संयोगान्तस्य लोपे हि नलोपादिर्न सिध्यति।
रात्तु तेनैव लोपः स्याद् हलस्तस्माद्विधीयते॥"

'सखान् + स' यहां नकार हल् से परे अपृक्त सुँ का लोप होकर 'सखान्' बना। अब नकार का लोप करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१८० न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य।८।२।७॥

प्रातिपदिकसञ्ज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः स्यात्। सखा।

अर्थः—प्रातिपदिकसञ्ज्ञक जो पद उस के अन्त्य नकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—प्रातिपदिक।६।१। [यहां 'सुपां सुलुक्०' सूत्र से षष्ठी का लुक् हुआ है।] पदस्य।६।१। [यह अधिकृत है] अन्तस्य।६।१। न।६।१। [यहां भी षष्ठी का लुक् हुआ है] लोपः।१।१। अर्थः—(प्रातिपदिक) प्रातिपदिकसञ्ज्ञक (पदस्य) पद के (अन्तस्य) अन्त (न) न् का (लोपः) लोप हो जाता है।

यदि सूत्र में 'प्रातिपदिक' का ग्रहण न करते केवल 'पद' का ही ग्रहण करते तो 'अहन्' यहां भी नकार का लोप हो जाता क्योंकि यहां पदसञ्ज्ञा अक्षुण्ण है। इसी प्रकार यदि 'पद' का ग्रहण न करते केवल 'प्रातिपदिक' का ही ग्रहण करते तो 'राजान् + औ' यहां भी नकार का लोप हो जाता क्योंकि प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तो यहां भी है। अतः दोनों का ग्रहण किया गया है।

'सखान्' यह प्रातिपदिकसञ्ज्ञक पद है। यद्यपि प्रातिपदिकसञ्ज्ञा 'सखि' शब्द की ही थी तो भी 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' से यहां भी प्रातिपदिकसञ्ज्ञा विद्यमान है। इसी प्रकार सुँ—सुप् का लोप होने पर भी आगे आने वाले 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९०) सूत्र की सहायता से सुँबन्त हो जाने के कारण 'सुँप्तिङन्तं पदम्' (१४) द्वारा पदसञ्ज्ञा हो जाती है। तो प्रकृत सूत्र से इस के नकार का लोप हो—'सखा' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सखि+औ' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ को बाधकर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश सूत्रम्—१८१ सख्युरसम्बुद्धौ ।७।१।९२॥

सख्युरङ्गात् परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत् स्यात् ।

अर्थ—अङ्गसञ्ज्ञक सखि शब्द से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान णिद्वत्—णित् के समान हो अर्थात् णित् के परे होने पर जो कार्य होते हैं उस के परे होने पर भी वे कार्य हों ।

व्याख्या—अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है । यहां विभक्ति का विपरिणाम हो जाता है] सख्युः ।५।१। असम्बुद्धौ ।७।१। [यह प्रथमान्त हो जायगा] सर्वनामस्थानम् ।१।१। ['इतोऽत् सर्वनामस्थाने' से] णित् ।१। । ['गोतो णित्' से] समास—न सम्बुद्धिः = असम्बुद्धिः, नञ्तत्पुरुष । अर्थ—(अङ्गात्) अङ्गसञ्ज्ञक (सख्युः) सखिशब्द से परे (असम्बुद्धिः) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थान (णित्) णित् हो ।

यह अतिदेश सूत्र है । अतिदेशसूत्रों का यह काम होता है कि जो जो नहीं उसे वह बना देते हैं । यथा सिंहो माणवकः (बालक शेर है) । बालक शेर नहीं होता परन्तु उसे शेर कह दिया जाता है । इन का तात्पर्य अन्ततोगत्वा सादृश्य में समाप्त होता है—बालक शेर के समान (शूर) है । यहां सर्वनामस्थान को णित् कहा गया है, परन्तु उस में न तो ण् है और न ही उस की इत्सञ्ज्ञा होती है । तो यहां 'णित्' अतिदेश का तात्पर्य 'णिद्वत्' होगा । अर्थात् णित् परे रहते जो कार्य होते हैं उस के परे रहते भी होंगे ।

'सखि+औ' यहां अङ्गसञ्ज्ञक सखि से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान 'औ' है । यह णित्=णिद्वत् हुआ । अब अग्रिमसूत्र में इस का फल कहते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१८२ अचो ञ्णिति ।७।२।११५॥

अजन्ताङ्गस्य वृद्धिः, ञिति णिति च परे । सखायौ, सखायः । हे सखे ! । सखायम्, सखायौ, सखीन् । सख्या । सख्ये ।

अर्थ—ञित् अथवा णित् परे रहते अजन्त अङ्ग की वृद्धि हो ।

व्याख्या—अचः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [अधिकृत है] ञ्णिति ।७।१। वृद्धिः ।१।१। ['मृजेर्वृद्धिः' से] समास—ञ् च ण् च ञ्णौ ताविती यस्य तत् ञ्णित्, तस्मिन्=ञ्णिति, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमास । अर्थ—(ञ्णिति) ञित् अथवा णित् परे रहते (अचः) अजन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि हो । अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अल् के स्थान पर वृद्धि होगी ।

'सखि + औ' यहां 'औ' णित् परे है, अतः सखि के अन्त्य अल् इकार को ऐकार

वृद्धि हो—'सखै + औ' हुआ। अब 'एचोऽयवायावः' (२२) से ऐकार का आय् आदेश हो कर 'सखायौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सखि+अस्' (जस्) यहां भी पूर्ववत् णिद्वद्भाव, वृद्धि और आय् आदेश हो कर सकार को रुँत्व विसर्ग करने पर 'सखायः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'हे सखि + स' यहां सम्बुद्धि में हरिशब्द के समान 'ह्रस्वस्य गुणः' (१६१) से इकार को एकार गुण हो एङन्त हो जाने से 'एङ्ह्रस्वात्०' (१३४) सूत्र द्वारा सम्बुद्धि के हल् का लोप करने पर 'हे सखे' सिद्ध होता है।

'सखि+अम्' यहां भी पूर्ववत् सर्वनामस्थान का णिद्वद्भाव उस के परे रहते वृद्धि तथा ऐकार को आय् आदेश हो कर— सखायम् प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के द्विवचन में 'सखायौ' प्रथमावत् बनता है।

बहुवचन में 'सखि + अस्' (शस्) इस दशा में पूर्वसवर्णदीर्घ होकर 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (१३७) द्वारा सकार को नकार करने पर— सखीन् प्रयोग सिद्ध हुआ। ध्यान रहे कि शस् के सर्वनामस्थान न होने से णिद्वद्भाव नहीं होगा।

तृतीया के एकवचन में 'सखि+आ' (टा) इस स्थिति में 'इको यणचि' (१५) से यण् आदेश हो—'सख्या' प्रयोग सिद्ध होता है। स्मरण रहे कि सखि की घिसञ्ज्ञा न होने से 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) द्वारा 'टा' को 'ना' नहीं होता।

तृतीया के द्विवचन में 'सखिभ्याम्'। बहुवचन में 'सखिभिः'।

'सखि + ए' (ङे) यहां घिसञ्ज्ञा के न होने से 'घेर्ङिति' (१७२) द्वारा गुण नहीं होता। 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर 'सख्ये' प्रयोग बनता है।

'सखि + अस् (ङसिँ) यहां 'इको यणचि' (१५) से इकार को यकार हो—'सख्य् + अस्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१८३ ख्यत्यात्परस्य ।६।१।१०६॥

'खि-ति' शब्दाभ्यां 'खी-ती' शब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिँङसोरत उः। सख्युः २।

अर्थः—जिन के स्थान पर यण् किया गया हो ऐसे खिशब्द, तिशब्द, खीशब्द अथवा तीशब्द से परे ङसिँ और ङस् के अकार को उकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—ख्यत्यात् ।५।१। परस्य ।६।१। ङसिँङसोः ।६।२। ['ङसिँङसोश्च' से] अतः ।६।१। ['एङः पदान्तादति' से, विभक्तिविपरिणाम कर के] उत् ।१।१। ['ऋत उत्' से] समासः—ख्यश्च त्यश्च = ख्यत्यम्, तस्मात् = ख्यत्यात्, समाहारद्वन्द्वः। यकारादकार

उच्चारणार्थ है*। खि' या 'खी' शब्द के इवर्ण को यण करने से ख्य और ति या ती शब्द के इवर्ण को यण करने से त्य् रूप बनता है। उन्हीं का यहां ग्रहण करना चाहिये। ख्यत्यात् यह पञ्चम्यन्त है अतः तस्मादित्युत्तरस्य (७१) सूत्र से स्वयं ही ख्य और त्य् से परे कार्य होना था पुनः मुनि का परस्य ग्रहण करना एक पूर्व परयो अधिकार की निवृत्ति के लिये है। अर्थः—(ख्यत्यात्) यणादेश किये हुए खि खी और ति, ती शब्दों से (परस्य) पर (ङसिँ ङसोः) ङसिँ और ङस के (अतः) अकार के स्थान पर (उत्) उकार आदेश होता है।

सख्य्+अस् यहां यणादेश किया हुआ खि' शब्द है अतः इस से परे ङसिँ के अकार को उकार हो— सख्य् + उस् बना। अब सकार का रुँत्व विसर्ग करने से 'सख्युः' प्रयोग सिद्ध हुआ।

द्विवचन में चतुर्थी के समान सखिभ्याम्। बहुवचन में सखिभ्यः'।

षष्ठी के एकवचन में पूर्ववत् सख्युः बनता है।

सखि+ओस् यहां यण हो कर रुँत्व विसर्ग करने से 'सख्योः' बना।

सखि + आम् इस स्थिति में ह्रस्वान्त अङ्ग को नुट् का आगम हो अनुबन्धलोप कर नामि (१४६) से दीर्घ करने पर 'सखीनाम्' रूप बनता है।

सखि+इ (ङि) यहां घिसञ्ज्ञा न होने से 'अच्च घेः (१७४) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। तब यण आदेश प्राप्त होने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१८४ औत् ।७।३।११८॥

इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत्। सख्यौ। शेषं हरिवत्।

अर्थः—ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार से परे 'ङि' को औ हो जाता है।

व्याख्या—इदुद्भ्याम् ।५।२। ['इदुद्भ्याम् से] ङेः ।६।१। [ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से] औत् ।१।१। अर्थः—(इदुद्भ्याम्) ह्रस्व इकार तथा उकार से परे (ङेः) ङि के स्थान पर (औत्) औकार ‡ आदेश होता है।

यह औत्सर्ग सूत्र (सामान्य सूत्र) है। 'अच्च घेः (१७४) इस का अपवाद है। अतः

---

* ध्यान रहे कि यदि यहां अकार को उच्चारणार्थ न मान ख्य और त्य शब्दों का ग्रहण कर सङ्ख्य' अपत्य आदि शब्दों के ख्य और त्य का ग्रहण करेंगे तो 'सख्युर्यं, पत्युन, अपत्यस्य च इत्यादि निर्देश विपरीत पड़ेंगे।

‡ यहां पर श्री पं श्रीधरानन्द जी शास्त्री व्याकरणाचार्य भ्रान्तिवश तकार को इत् लिखते और उस का प्रयोजन सर्वादेश करना बताते हैं।

इस के विषय में इस की प्रवृत्ति नहीं होती। उकार का उदाहरण नहीं मिलता उस का यहां ग्रहण 'अच्च घेः' (१७४) आदि अग्रिम सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये है।

'सखि+इ' यहां इकार को औकार आदेश हो 'इको यणचि' (१५) से यण् करने पर 'सख्यौ' रूप बनता है।

द्विवचन में 'सख्योः' षष्ठी के समान बनता है।

बहुवचन में सखि+सु=सखिषु [आदेशप्रत्यययोः]। रूपमाला यथा—

प्र०	सखा	सखायौ	सखायः	पं० सख्युः	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
द्वि०	सखायम्	,,	सखीन्	ष० ,,	सख्योः	सखीनाम्
तृ०	सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः	स० सख्यौ	,,	सखिषु
च०	सख्ये	,,	सखिभ्यः	सं० हे सखे!	हे सखायौ!	हे सखायः!

अब 'पति' शब्द का वर्णन करते हैं। 'पति' का अर्थ 'स्वामी' है। प्रथम दो विभक्तियों में 'हरि' शब्द के समान प्रक्रिया होती है। तृतीया के एकवचन में 'शेषो घ्यसखि' (१७०) सूत्र से घिसञ्ज्ञा प्राप्त होती है। इस पर अग्रिम सूत्र से नियम करते हैं—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—१८५ पतिः समास एव ।१।४।८॥

घि-सञ्ज्ञः। पत्या। पत्ये। पत्युः २। पत्यौ। शेषं हरिवत्। समासे तु—भूपतये।

अर्थः—'पति' शब्द समास में ही घिसञ्ज्ञक होता है। [समास से भिन्न स्थल में नहीं]।

व्याख्या—पतिः ।१।१। समासे ।७।१। एव इत्यव्ययपदम्। घिः ।१।१। ['शेषो घ्यसखि' से] अर्थः—(पतिः) पतिशब्द (समासे) समास में (एव) ही (घिः) घिसञ्ज्ञक होता है।*

समास और असमास दोनों अवस्थाओं में पतिशब्द की 'शेषो घ्यसखि' (१७०) सूत्र से घिसञ्ज्ञा प्राप्त होती थी। अब इस सूत्र से नियम किया जाता है कि समास में ही पति शब्द की घिसञ्ज्ञा हो असमास में नहीं।

घिसञ्ज्ञा के यहां तीन कार्य होते हैं। १ 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) से टा को ना आदेश। २ ङे, ङसि ङस् में 'घेर्ङिति' (१७२) द्वारा गुण। ३ 'अच्च घेः' (१७४) द्वारा ङि को औकार और घि को अकार आदेश। असमासावस्था में पति शब्द की घिसञ्ज्ञा

---

* इस सूत्र में यद्यपि 'एव' पद के विना भी 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' द्वारा उपर्युक्त नियम सिद्ध हो सकता था तथापि— समास में पतिशब्द ही घिसञ्ज्ञक हो अन्य शब्द नहीं इस विपरीत नियम की आशङ्का से बचने के लिये यहां मुनि ने 'एव' पद का ग्रहण किया है।

न होने से ये तीनों विकार्य न होंगे। तब इन विभक्तियों में सखिशब्दवत् प्रक्रिया होगी। यथा—

'पति + आ' यहां यण् आदेश हो—'पत्या' बना।

पति+ए' (ङे) यहां भी यण् आदेश करने पर पत्ये' बना।

'पति+अस् (ङसि व ङस) इस दशा में यण् आदेश हो 'ख्यत्यात्परस्य' (१८३) से उकार आदेश करने पर पत्यु' बना।

पति+इ (ङि) इस अवस्था में 'औत्' (१८४) से ङि को औकार हो इको यणचि (१५) से यण् करने पर 'पत्यौ' रूप सिद्ध होता है। समग्र रूपमाला यथा—

प्र० पति	पती	पतय	प०	पत्यु	पतिभ्याम्	पतिभ्य
द्वि० पतिम्		पतीन्	ष०	,,	पत्यो	पतीनाम्
तृ० पत्या	पतिभ्याम्	पतिभि	स०	पत्यौ		पतिषु
च० पत्ये		पतिभ्य	स०	हे पते!	हे पती!	हे पतय!

समास में पति' शब्द की घिसञ्ज्ञा हो जायगी अत 'हरि' शब्द के समान रूप चलेंगे। भूपति (पृथ्वी का पति=राजा) में 'भुव पति =भूपति' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस की रूपमाला यथा—

प्र० भूपति	भूपती	भूपतय	प० भूपते	भूपतिभ्याम्	भूपतिभ्य
द्वि० भूपतिम्	,,	भूपतीन्	ष० ,,	भूपत्यो	भूपतीनाम्
तृ० भूपतिना	भूपतिभ्याम्	भूपतिभि	स० भूपतौ	,,	भूपतिषु
च० भूपतये	,,	भूपतिभ्य	स० हे भूपते!	हे भूपती!	हे भूपतय

इसी प्रकार—नरपति नृपति मृगपति गृहपति, पृथ्वीपति क्षितिपति, लोकपति, देशपति राष्ट्रपति पशुपति गणपति, सेनापति प्रभृति शब्दों के रूप जानने चाहियें।

विशेष— बहुपति (ईषदून पति) शब्द में बहुच् प्रत्यय है, जो कि—'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु (५।३।६८) इस सूत्र से प्रकृति से पूर्व होगा। उस का उच्चारण पति' की तरह होगा। यदि 'बहु' शब्द अभीष्ट हो तब 'भूपति' की तरह होगा।

प्रश्न—'सीताया पतये नम' इत्यादि स्थानों पर समास न होने से कैसे घिसञ्ज्ञा कर दी गई है?

उत्तर—यहां पर 'छन्दोवत् कवय कुर्वन्ति' इस परिभाषा से 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा (१।४।९) से घिसञ्ज्ञा कर लेनी चाहिये। अथवा— तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (८१२) सूत्र में बहुलग्रहणसामर्थ्यात् यहां षष्ठी का समास में अलुक जान कर घि-सञ्ज्ञा कर लेनी चाहिये।

[लघु०] कतिशब्दो नित्य बहुवचनान्त ।

अर्थ — कति' शब्द नित्य बहुवचनान्त होता है ।

व्याख्या— किम्' शब्द स डति' प्रत्यय करने पर कति' शब्द सिद्ध होता है । इस का प्रयोग सदा बहुवचन में ही होता ह एकवचन और द्विवचन मे नहीं । क्योंकि कति (कितने) शब्द बहुत्व का ही वाचक हे एक दो का नहीं ।

कति + अस (जस) इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त हाता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१८६ बहु गण-वतु-डति सङ्ख्या ।१।१।२२॥

अर्थ —बहुशब्द गणशब्द वतुप्रत्ययान्त शब्द तथा डतिप्रत्ययान्त शब्द 'सङ्ख्या सञ्ज्ञक होते है ।

व्याख्या— बहु गण वतु डति ।१।१। सङ्ख्या ।१।१। समास —बहुश्च गणश्च वतुश्च=बहु-गण वतु डति समाहारद्वन्द्व । वतु और डति प्रत्यय ह अत प्रत्ययग्रहणे तदन्त ग्रहणम् से तदन्त शब्दो का ही ग्रहण होगा । केवल प्रत्ययों की सञ्ज्ञा करना निष्प्रयोजन होने से 'सञ्ज्ञाविधौ प्रत्यय ग्रहणे तदन्त ग्रहण नास्ति यह निषेध प्रवृत्त न होगा । अर्थ —(बहु गण वतु डति) बहुशब्द गणशब्द वतुप्रत्ययान्त शब्द तथा डति प्रत्ययान्त शब्द (सङ्ख्या) सङ्ख्या सञ्ज्ञक हात हैं ।

कति+अस यहा प्रकृतसूत्र से 'कति शब्द की सङ्ख्या सञ्ज्ञा हो जाती हैं । अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है--

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१८७ डति च ।१।१।२४॥

डत्यन्ता सङ्ख्या षट्सञ्ज्ञा स्यात् ।

अर्थ.—डति प्रत्ययान्त सङ्ख्या षटसञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या—डति ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । सङ्ख्या ।१।१। ['बहु गण वतु डति सङ्ख्या' से] षट ।१।१। ['ष्णान्ता षट्' से] ।अर्थ —(डति) डतिप्रत्ययान्त (सङ्ख्या) सङ्ख्यासञ्ज्ञक शब्द (षट) षट सञ्ज्ञक होते हैं ।

कति + अस' यहा कतिशब्द डतिप्रत्ययान्त है और साथ ही सङ्ख्यासञ्ज्ञक भी है अत इस की षटसञ्ज्ञा हो जाती है । 'आकडाराद्—' (१६६) इस अधिकार से बहिर्भूत होने के कारण यहा एक की दो सञ्ज्ञाए हुई । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त हाता है ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१८८ षड्भ्यो लुक् ।७।१।२२॥

जश्शसो ।

अर्थ—षट्सञ्ज्ञकों से परे जस् और शस् का लुक् हो जाता है ।

व्याख्या—षड्भ्यः ।५।३। जश्शसोः ।६।२। ['जश्शसोः शिः' से] लुक् ।१।१। अर्थ—(षड्भ्यः) षट्सञ्ज्ञकों से परे (जश्शसोः) जस् और शस् का (लुक्) लुक् हो जाता है ।

'कति+अस्' यहां 'कति' शब्द की षट्सञ्ज्ञा है । इस से परे जस् विद्यमान है अतः जस् का लुक् होगा । अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि लुक् किसे कहते हैं ? इस का समाधान अग्रिमसूत्र से करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१८६ प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः ।१।१।६०॥

लुक्-श्लु-लुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययादर्शनं क्रमात् तत्तत्सञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थ—लुक्, श्लु और लुप् शब्दों से जो प्रत्यय का अदर्शन किया जाता है, वह (अदर्शन) क्रमशः लुक्, श्लु और लुप् सञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—प्रत्ययस्य ।६।१। अदर्शनम् ।१।१। ['अदर्शनं लोपः' से] लुक्श्लुलुपः ।१।३। यहां 'प्रत्यय का अदर्शन लुक्, श्लु, लुप् सञ्ज्ञक हो' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है । इस से एक ही प्रत्यय के अदर्शन की 'लुक् श्लु लुप्' ये तीन सञ्ज्ञाएं हो जाती हैं । इस से 'हन्ति' में शप् का लुक् होने पर 'श्लौ' (६०५) से द्वित्व प्राप्त होता है । 'जुहोति' में शप् का श्लु होने से 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (४६६) से वृद्धि प्राप्त होती है । अतः इन के साङ्कर्य की निवृत्ति के लिये 'लुक्-श्लु-लुपः' पद की आवृत्ति (दो बार पाठ) कर एक स्थान पर उस का तृतीयान्ततया विपरिणाम कर लेना चाहिये । अर्थ—(लुक्श्लुलुब्भिः) लुक्, श्लु और लुप् शब्दों से जो (प्रत्ययस्य) प्रत्यय का (अदर्शनम्) अदर्शन किया जाता है वह क्रमशः (लुक्श्लुलुपः) लुक्, श्लु और लुप् सञ्ज्ञक होता है । भाव—१ प्रत्यय का अदर्शन 'लुक्' सञ्ज्ञक होता है । २ प्रत्यय का अदर्शन 'श्लु' सञ्ज्ञक होता है । ३ प्रत्यय का अदर्शन 'लुप्' सञ्ज्ञक होता है । अब इस अर्थ से 'हन्ति' आदि में कोई दोष नहीं आता क्योंकि 'हन्ति' में शप्प्रत्यय का अदर्शन लुक्सञ्ज्ञक है श्लुसञ्ज्ञक नहीं, अतः 'श्लौ' (६०५) से द्वित्व नहीं होता । 'जुहोति' में शप्प्रत्यय का अदर्शन श्लुसञ्ज्ञक है लुक्सञ्ज्ञक नहीं अतः 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (४६६) से वृद्धि नहीं होती । इसी प्रकार अन्यत्र भी जान लेना चाहिये । तो अब हमें विदित हो गया कि प्रत्यय के अदर्शन को ही 'लुक्' कहते हैं ।

'कति+अस्' यहां अस् का लुक् अर्थात् अदर्शन हो कर 'कति' प्रयोग सिद्ध होता

है। अब यहां 'जसि च' (१६८) द्वारा गुण की आशङ्का करने के लिए प्रथम जस् की स्थापना करते हैं—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—१६० प्रत्ययलोपे प्रत्यय-लक्षणम्। १।१।६२॥

प्रत्यये लुप्ते तदाश्रितं कार्यं स्यात्। इति 'जसि चे' ति गुणे प्राप्ते—

अर्थः—प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर भी तदाश्रित कार्य हो जाते हैं। इस सूत्र से 'जसि च' (१६८) द्वारा कति में गुण प्राप्त होता है। इस पर [अग्रिमसूत्र निषेध कर देता है।]

व्याख्या—प्रत्ययलोपे ।७।१। प्रत्ययलक्षणम् ।१।१। समास—प्रत्ययस्य लोपः = प्रत्ययलोपः, तस्मिन्=प्रत्ययलोपे। षष्ठीतत्पुरुषसमासः। प्रत्ययो लक्षणं (निमित्तम्) यस्य तत् प्रत्ययलक्षणम् कार्यम् इत्यर्थः। बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(प्रत्ययलोपे) प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी (प्रत्ययलक्षणम्) प्रत्यय को मान कर होने वाला कार्य हो जाता है।

कई कार्य प्रत्यय को मान कर हुआ करते हैं। यथा—'जसि च' (१६८) यह 'जस्' प्रत्यय को मान कर ह्रस्वान्त अङ्ग के स्थान पर गुण करता है। 'सुपि च' (१४१) यह यञादि सुँप् प्रत्यय को मान कर अदन्त अङ्ग को दीर्घ करता है। 'सुँप्तिङन्तं पदम्' (१४) यह सुँप् तथा तिङ् प्रत्यय को मान कर ही पदसंज्ञा करता है। इस प्रकार के कार्य उस प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर भी हो जाते हैं—यह इस सूत्र का तात्पर्य है। यथा—'राम' यहां जिस प्रकार सुँप् प्रत्यय के रहते पदसञ्ज्ञा हो जाती है वैसे 'लिट्, विद्वान्, भगवान्' आदियों में सुँप् प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर भी पदसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है।

'कति' यहां जस् प्रत्यय का लोप हो चुका है, अब इस सूत्र से उस के न रहने पर भी उस को मान कर 'जसि च' (१६८) द्वारा गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम सूत्र निषेध करता है।

प्रश्न—इस सूत्र द्वारा प्रत्यय के लोप में ही प्रत्ययलक्षण होता है परन्तु 'कति' में प्रत्यय का लुक् हुआ है लोप नहीं तो यहां कैसे प्रत्ययलक्षण (गुण) प्राप्त हो सकता है?

उत्तर—जैसे लोक में एक व्यक्ति की अनेक सञ्ज्ञाएं रखी जाती हैं वैसा इस शास्त्र में भी होता है। तव्यत्, तव्य, अनीयर आदि प्रत्ययों की कृत् और कृत्य दोनों सञ्ज्ञाएं हैं।

जहां शास्त्र में एक संज्ञा करना अभीष्ट होता है वहां स्पष्ट कह दिया जाता है यथा—आकडारादेका सञ्ज्ञा (१।४।१)। यहां प्रत्यय के अदर्शन को 'अदर्शनं लोपः' (२) से लोप संज्ञा की गई है। उसी अदर्शन की पुनः प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१८६) सूत्र से लुक् श्लु और लुप् सञ्ज्ञाएं की जाती हैं। तो इस प्रकार लुक्, श्लु और लुप् तीनों सञ्ज्ञाओं के साथ लोप' संज्ञा वर्तमान रहती है। इस से 'कति' में प्रत्यय लक्षण प्राप्त होता है।

[लघु०] निषेध सूत्रम्—१९१ न लुमताङ्गस्य ।१।१।६२॥

लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात्। कति २। कतिभिः। कतिभ्यः २। कतीनाम्। कतिषु।

अर्थः—लु वाले (लुक्, श्लु, लुप्) शब्दों से यदि प्रत्यय का लोप हुआ हो तो तन्निमित्तक (उस प्रत्यय को निमित्त मान कर होने वाला) अङ्ग कार्य नहीं होता।

व्याख्या—लुमता ।३।१। प्रत्ययलोपे ।७।१। ['प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] प्रत्ययलक्षणम् ।१।१। न इत्यव्ययपदम्। समास—लु इत्यक्षरांशोऽस्त्यस्य स लुमान्, तेन लुमता। तदस्यास्ती तिसूत्रेण मतुप्प्रत्ययः। प्रत्ययस्य लोपः=प्रत्ययलोपः तस्मिन्=प्रत्ययलोपे, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(लुमता) लु वाले शब्द से (प्रत्ययलोपे) प्रत्यय का लोप होने पर (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (प्रत्ययलक्षणम्) उस प्रत्यय को मान कर होने वाला कार्य (न) नहीं होता। लु वाले शब्द तीन हैं—१ लुक्, २ श्लु, ३ लुप्। यह सूत्र पूर्वकथित प्रत्ययलक्षण सूत्र का अपवाद है।

'कति' में जस् प्रत्यय का लु वाले शब्द=लुक् से अदर्शन हुआ है तो यहां प्रत्यय लक्षण कार्य (गुण) न होगा।

ध्यान रहे कि यह निषेध तभी होगा जब अङ्ग के स्थान पर प्रत्ययलक्षण कार्य करना होगा। यदि अङ्ग के स्थान पर कार्य न होगा तो लु वाले शब्दों से अदर्शन होने पर भी प्रत्ययलक्षण हो जायगा। यथा—पञ्चन्, सप्तन् यहां षड्भ्यो लुक् (१८८) से जस् और शस् का लुक् होने पर भी सुप्तिङन्तं पदम् (१४) सूत्र से पदसञ्ज्ञा हो जाती है। पदसञ्ज्ञा हो जाने से नलोपः (१८०) द्वारा नकार का लोप हो जाता है। पदसञ्ज्ञा केवल अङ्ग की ही नहीं होती किन्तु प्रत्ययविशिष्ट अङ्ग की हुआ करती है इस से प्रत्ययलक्षण में कोई बाधा नहीं होती। इसी प्रकार यङ्लुगन्त प्रक्रिया में यङ् लुक् होने पर भी यङन्तमूलक द्वित्व हो ही जाता है। यह विषय विस्तारपूर्वक 'रोऽसुपि' (११०) सूत्र पर लिख आए हैं वहीं देखें।

द्वितीया के बहुवचन शस् में भी जस् की तरह 'कति' प्रयोग बनता है। प्रत्ययलक्षण द्वारा गुणप्राप्ति तथा उस का निषेध यहां नहीं होता।

कति + भिस् = कतिभि । कति + भ्यस = कतिभ्य । यहा सकार को रुँ और रेफ को विसर्ग आदेश हो जाते है ।

'कति + आम्' यहा ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) सूत्र से ह्रस्वा त अङ्ग का नुट आगम अनुबन्धलोप तथा 'नामि (१४६) से दीर्घ होकर— कतीनाम प्रयोग सिद्ध होता है । [अथवा षटत्व के कारण 'षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) सूत्र से नुट् का आगम कर दीर्घ कर लेना चाहिये । इस की स्पष्टता 'रामाणाम्' प्रयोग पर सिद्धान्तकौमुदी की टीकाओं मे देखना चाहिये ।]

सप्तमी क बहुवचन मे आदेश प्रत्यययो ' (१५०) स मूर्धन्य षकार होकर कतिषु रूप बनता है ।

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	कति	प०	०	०	कतिभ्य
द्वि०	०	०		ष०	०	०	कतीनाम्
तृ०	०	०	कतिभि	स०	०	०	कतिषु
च०	०	०	कतिभ्य	स०	०	०	हे कति !

[लघु०] युष्मदस्मत्षट्सञ्ज्ञकास्त्रिषु सरूपा ।

अर्थ—युष्मद्, अस्मद् और षटसञ्ज्ञक शब्द तीनों लिङ्गो में समान रूप वाले होते हैं ।

व्याख्या—समानानि रूपाणि येषा ते सरूपा बहुव्रीहिसमास । कति' शब्द षट्सञ्ज्ञक है अत तीनों लिङ्गों में एक समान रूप बनेंगे । यथा—कति पुरुषा ? कति नार्य ? कति फलानि ? । इसी प्रकार युष्मद् और अस्मद के भी— अहम्पुरुष अह नारी, त्व पुरुष , त्व नारी' इत्यादि समान रूप बनते हैं ।

[लघु०] त्रिशब्दो नित्य बहुवचनान्त । त्रय । त्रीन् । त्रिभि । त्रिभ्य'२।

अर्थ— त्रि' शब्द नित्य बहुवचनान्त है ।

व्याख्या—'त्रि' शब्द का अर्थ 'तीन' है । तीन—बहुसङ्ख्या का वाचक है अत एकत्व और द्वित्व का प्रकृति के अर्थ—बहुत्व के साथ अन्वय न हो सकने के कारण एकवचन द्विवचन नहीं आते ।

ध्यान रहे कि प्रधान होने पर ही 'त्रि शब्द नित्य बहुवचनान्त होता है गौण अवस्था में तो इस से एकवचन और द्विवचन भी हुआ करते है जसा कि आगे प्रियत्रि शब्द में किया गया है ।

'त्रि+अस्' (जस्) इस अवस्था में जसि च (१६८) सूत्र से गुण हो एचोऽयवायाव ' (२२) से अय् आदेश करने पर—त्रयम्= त्रय ' रूप बनता है।

'त्रि + अस्' (शस्) इस स्थिति मे पूर्वसवर्णदीर्घ हो सकार का नकार करने पर त्रीन्' प्रयोग सिद्ध होता है।

त्रि + भिस् = त्रिभि । त्रि+भ्यस्=त्रिभ्य । सकार का रुँत्व विसर्ग हो जाते है।

त्रि + आम्' इस दशा मे अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता ह—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१९२ त्रेस्त्रय ।७।१।५३॥

त्रि-शब्दस्य त्रयादेश' स्यादामि । त्रयाणाम । त्रिषु । गौणत्वेऽपि —प्रियत्रयाणाम् ।

अर्थ—आम् परे हो तो 'त्रि' शब्द के स्थान पर त्रय आदेश हो।

व्याख्या—त्रे ।६।१। त्रय ।१।१। आमि ।७।१। [आमि सर्वनाम्न सुट्' से] अर्थ—(आमि) आम् परे रहते (त्रे) त्रिशब्द के स्थान पर (त्रय) त्रय आदेश हो। अनेकाल् होने स यह आदेश सर्वादेश होगा।

सूत्र में त्रिशब्द सङ्ख्यावाचक नहीं शब्दवाचक है अत इत्यादि उच्चारण होने से त्रे' यहा एकवचन हा गया है।

त्रि + आम्' यहा आम् परे हे अत त्रिशब्द का त्रय आदेश हो—'त्रय + आम्'। अब ह्रस्वान्त अङ्ग को नुट् आगम अनुब न्धलोप 'नामि (१४६) से दीर्घ तथा 'अट्कुप्वाङ (१३८) से णत्व करने पर 'त्रयाणाम्' रूप सिद्ध होता है।

'त्रि + सु' (सुप्) यहा 'आदेशप्रत्यययो ' (१५०) स सकार का षकार हो कर—त्रिषु' रूप सिद्ध हुआ।

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	त्रय	पं०	०	०	त्रिभ्य
द्वि०	०	०	त्रीन्	ष०	०	०	त्रयाणाम्
तृ०	०	०	त्रिभि	स०	०	०	त्रिषु
च०	०	०	त्रिभ्य	सं०	०	०	हे त्रय !

बहुव्रीहिसमास में अन्य पद प्रधान रहता है, समस्यमान पद गौण अर्थात् अप्रधान रहते हैं। यह हम पीछे (१३३) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं। जब समास मे 'त्रि' शब्द गौण होता है तब भी इस सूत्र से उस के स्थान पर 'त्रय' आदेश हो जाता है। सूत्र मे 'त्रे' यहा एकवचन करना इस में प्रमाण है, अन्यथा 'अष्टाभ्य औश्' (३००) की तरह यहां भी 'त्रयाणा त्रय ' सूत्र बनाते।

प्रिया त्रय यस्य स=प्रियत्रि । जिसे तीन प्रिय हों उसे 'प्रियत्रि' कहते है । प्रियत्रि + आम्' इस स्थिति में त्रि के स्थान पर त्रय आदेश हो—प्रियत्रय + आम् । तब ह्रस्वान्त अङ्ग को नुट् आगम, अनुबन्धलोप, ह्रस्वान्त अङ्ग को दीर्घ तथा नकार को णकार हो कर प्रियत्रयाणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है । अन्य विभक्तियों में रूप हरि' की तरह होते है ।

प्र० प्रियत्रि	प्रियत्री	प्रियत्रय	प० प्रियत्रे	प्रियत्रिभ्याम्	प्रियत्रिभ्य
द्वि० प्रियत्रिम्		प्रियत्रीन्	ष० ,,	प्रियत्र्यो	प्रियत्रयाणाम्
तृ० प्रियत्रिणा	प्रियत्रिभ्याम्	प्रियत्रिभि	स० प्रियत्रौ	,,	प्रियत्रिषु
च० प्रियत्रये	,,	प्रियत्रिभ्य	स० हे प्रियत्रे !	हे प्रियत्री !	हे प्रियत्रय !

अब सङ्ख्यावाचक द्वि (दो) शब्द का बयान करते है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१६३ त्यदादीनाम ।७।२।१०२॥

एषामकारो विभक्तौ । द्विपर्यन्तानामेवेष्टि' । द्वौ २ । द्वाभ्याम् ३ । द्वयोः २ ।

अर्थ.—विभक्ति परे रहते त्यद् आदि शब्दो के स्थान पर अकार आदेश हो । **द्विपर्यन्तानामिति**—द्वि तक ही त्यदादियों को अकार करना इष्ट है ।

व्याख्या—त्यदादीनाम् ।६।३। अ ।१।१। विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ से] समास —त्यद् शब्द आदिर्येषान्ते त्यदादय तद्गुण सविज्ञान बहुव्रीहि-समास । सर्वादिगण के अन्तर्गत त्यदादिगण आया है । यह त्यद् शब्द स आरम्भ होता है । इस की अवधि भाष्यकार ने 'द्वि' शब्द पर्यन्त नियत की है । इस प्रकार इस गण में 'त्यद्, तद् यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि' ये आठ शब्द आते हैं । अर्थ —(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (त्यदादीनाम्) त्यद् आदि शब्दों के स्थान पर (अ) अकार आदेश हो । अलोऽन्त्यपरिभाषा से त्यदादियों के अन्त्य अल् को अकार आदेश होगा ।

'द्वि' शब्द द्वित्व का वाचक होने से सदा द्विवचनान्त प्रयुक्त होता है । द्विवचन प्रत्यय आने पर सब विभक्तियों में प्रथम प्रकृतसूत्र द्वारा इकार का अकार हो द्व' बन जाता है । तब रामशब्द के समान प्रक्रिया हो कर रूप सिद्ध होते हैं । सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	द्वौ †	०	प०	०	द्वाभ्याम्	०
द्वि०	०	,, †	०	ष०	०	द्वयो ‡	०
तृ०	०	द्वाभ्याम् ❀	०	स०	०	,,	०
च०	०	,,	०	त्यदादियो का प्राय सम्बोधन नही होता ।			

† 'द्वि + औ' यहां अकार अन्तादेश हो वृद्धि हो जाती है ।

❀ 'द्वि + भ्याम्' इस दशा में अकार अन्तादेश हो 'सुपि च' से दीर्घ हो जाता है ।

‡ 'द्वि + ओस्' यहां अकार अन्तादेश हो 'ओसि च' से एकार तथा एचोऽयवायाव' से अय् आदेश हो जाता है ।

अभ्यास (२८)

(१) अव्ययों से अतिरिक्त ऐसे कौन से शब्द हैं जो तीनों लिङ्गों में सरूप अर्थात् समान रूप वाले होते हैं ?

(२) 'सातायाः पतये नमः' यहां समास न होने पर भी कैसे 'घि' सञ्ज्ञा हो जाती है ?

(३) निम्नलिखित सञ्ज्ञाओं में कौन २ सञ्ज्ञा प्रकृति की और कौन २ प्रत्यय की होती है ? ससूत्र यथाधीत टिप्पण करें—

१ अपृक्त । २ अङ्ग । ३ आङ् । ४ उपधा । ५ सर्वनाम । ६ सङ्ख्या । ७ षट् । ८ घि । ९ सर्वनामस्थान । १० विभक्ति । ११ भ । १२ पद । १३ प्रातिपदिक । १४ सम्बुद्धि । १५ बहुवचन ।

(४) (क) न लुमताङ्गस्य' सूत्र में 'अङ्गस्य' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(ख) शेषो घ्यसखि' सूत्र में 'शेष पद का ग्रहण क्यों किया है ?

(ग) हल्ङ्याब्भ्यः ' सूत्र में दीर्घात्' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(घ) अतिदेश किसे कहते हैं ? इस का क्या लाभ होता है ?

(ङ) प्रत्यय का लुक् होने पर भी क्या प्रत्ययलक्षण हुआ करता है ?

(५) इस व्याकरण में क्या एक की एक सञ्ज्ञा करनी उचित है या बहुत—सप्रमाण स्पष्ट करें ।

(६) ख्यत्यात् परस्य' सूत्र में परस्य' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(७) 'अपत्य' आदि शब्दों से पर ङसिँ या ङस् के अकार को 'ख्यत्यात्परस्य' द्वारा उकार आदेश होगा या नहीं, स्पष्ट करें ।

(८) 'संयोगान्तस्य लोपे हि ' इस श्लोक की व्याख्या करें ।

(९) हरौ अयाणाम्, सख्युः, पत्ये, कति, सखा, हरे, भूपतये, सखायौ, त्रिषत्रय— इन दस रूपों की सूत्रनिर्देशपूर्वक साधनप्रक्रिया लिखें ।

(१०) 'शेषो घ्यसखि सूत्र की व्याख्या करें ।

[यहां ह्रस्व इकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।]

———

अब ईकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का वर्णन किया जाता है—

[लघु०] पाति लोकमिति पपीः सूर्यः । दीर्घाज्जसि च—पप्यौ २ । पप्यः । हे पपीः । पपीम् । पपीन् । पप्या । पपीभ्याम् ३ ।

पपीभिः। पप्ये। पपीभ्यः २। पप्यः २। पप्योः। दीर्घत्वान्न नुट्—पप्याम्। ङौ तु सवर्णदीर्घः—पपी। पप्योः। पपीषु। एवं वातप्रम्यादयः।

व्याख्या—'पा रक्षणे' (अदा०) धातु से औणादिक 'ई' प्रत्यय कर द्वित्व और आकार का लोप करने से 'पपी' शब्द सिद्ध होता है [देखो—'पापा किद् द्वे च' उणा० (४३४)]। जगत् का रक्षक होने से सूर्य 'पपी' कहाता है। प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हो कर इस से सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं—

पपी+स (सुँ) इस स्थिति में सकार को रेफ और विसर्ग करने पर 'पपीः' रूप बनता है। ध्यान रहे कि यहां 'ङी' के न होने से 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७६) सूत्र द्वारा सुँ का लोप नहीं होता।

पपी+औ यहां 'प्रथमयोः—' (१२६) सूत्र से प्राप्त पूर्वसवर्णदीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) सूत्र से निषेध होकर 'इको यणचि' (१५) से ईकार को यण्=यकार करने से 'पप्यौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

पपी+अस (जस्) यहां पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो ईकार को यण्=यकार करने से 'पप्यः' रूप बनता है।

'पपी+अम्' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'पपीम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

पपी+अस (शस्) यहां पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (१३७) से सकार को नकार करने से 'पपीन्' रूप बनता है।

पपी+आ' (टा) 'इको यणचि' (१५) से यण् हो 'पप्या' बना।

तृतीया चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन में 'पपीभ्याम्' बनता है।

तृतीया के बहुवचन में 'पपीभिः'। सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं।

चतुर्थी के एकवचन में—'पप्ये'। 'इको यणचि' से यण् हो जाता है।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'पपी+अस' इस दशा में यण् हो कर 'पप्यः' रूप बन जाता है।

पपी+ओस् इस अवस्था में यण् हो कर 'पप्योः' बनता है।

'पपी+आम्' इस स्थिति में दीर्घ होने से नुट् का आगम नहीं होता। पुंल्लिङ्ग होने से नदी सञ्ज्ञा भी नहीं होती। तब यण् हो कर 'पप्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'पपी+इ' (ङि) यहां सवर्णदीर्घ हो कर 'पपी' बनता है।

पपी+सु (सुप्) यहां सकार को षकार हो कर 'पपीषु' बनता है।

'पपी' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० पपी	पप्यौ	पप्य	प	पप्य	पपीभ्याम्	पपीभ्य
द्वि० पपाम्	,,	पपीन्	ष०		पप्यो	पप्याम्
तृ० पप्या	पपीभ्याम्	पपीभि	स० पपी			पपीषु
च० पप्ये		पपीभ्य	स० हे पपी !	हे पप्यौ !	हे पप्य !	

इसी प्रकार—ययी (मार्ग) वातप्रमी (मृग विशेष) आदि शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] बह्व्य श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी।

व्याख्या—बहु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग म बह्वादिभ्यश्च' (१२५६) द्वारा ङीष प्रत्यय करने पर बह्वी' शब्द निष्पन्न होता है। इसी प्रकार 'प्रशस्य शब्द से द्विवचन विभज्योपपदे ' (१२१८) सूत्र द्वारा 'ईयसुन्' प्रत्यय करने तथा प्रशस्यस्य श्र ' (१२११) से श्र' आदेश और 'उगितश्च' (१२४६) से ङीप प्रत्यय करने पर श्रेयसी' शब्द बनता है। अतिशयेन प्रशस्या=श्रेयसी। बह्व्य श्रेयस्यो यस्य स = बहुश्रेयसी। अतिप्रशसनीय बहुत स्त्रियों वाला पुरुष 'बहुश्रेयसी कहाता है। यहा बह्वी' और श्रेयसी' पदों का बहुव्रीहि समास हो गया है। स्त्रिया पुवत् ' (९६८) सूत्र से समास में बह्वी पद को पुवत अर्थात् बहु शब्द हो जाता है। ईयसो बहुव्रीहेर्नेति वाच्यम् इस निषेध के कारण उपसर्जनह्रस्व नहीं होता। समासान्त 'कप् प्रत्यय प्राप्त था परन्तु ईयसश्च' (५।४।१५६) से निषिद्ध हो गया।

समास होने के कारण प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय आते हैं—

'बहुश्रेयसी+स्' (सुँ) यहा श्रेयसी' शब्द ङ्यन्त है अत ङी से परे सुँ का 'हल्ङ्याब्भ्य ' (१७९) सूत्र से लोप हो कर 'बहुश्रेयसी' बनता है।

प्रथमा के द्विवचन में 'बहुश्रेयस्यौ तथा बहुवचन में 'बहुश्रेयस्य बनता है। दोनों स्थानों पर यण् हो जाता है।

सम्बोधन के एकवचन में—हे बहुश्रेयसी+स् इस स्थिति म अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१९४ यूस्त्र्याख्यौ नदी।१।४।३॥

ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसञ्ज्ञौ स्तः।

अर्थ—ईदन्त और ऊदन्त नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द नदीसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—यू ।१।२। स्त्र्याख्यौ ।१।२। नदी ।१।१। समास—ई च ऊ च=यू ['यू+औ इत्यत्र पूर्वसवर्णदीर्घ, 'दीर्घाज्जसि च' इति निषेधाभावश्छान्दस] इतरेतर

द्वन्द्व । स्त्रियम् आचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ [स्त्रीकर्मोपपदाद् आङ्पूर्वात् चक्षिङ्धातोः कर्तरि मूलविभुजादित्वात् कप्रत्यये, ख्याञादेशे, आकारलोपे उपपदसमासे च कृते 'स्त्र्याख्य'-शब्दो निष्पद्यते]। यहां शब्दशास्त्र के प्रस्तुत होने से 'यू' का विशेष्य 'शब्दौ' अध्याहृत किया जाता है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो जायगी। 'स्त्र्याख्यौ' का अर्थ 'स्त्रियाम्' कहने से भी सिद्ध हो सकता है अतः यहां इस के फलस्वरूप 'नित्य' शब्द का अध्याहार किया जाता है। अर्थ—(स्त्र्याख्यौ) नित्यस्त्रीलिङ्गी (यू) ईदन्त और ऊदन्त शब्द (नदी) नदीसञ्ज्ञक होते हैं * ।

जिन शब्दों का केवल स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोग होता है वे शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग कहाते हैं। 'ग्रामणी, खलपू' आदि शब्द पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों में देखे जाते हैं अतः ये नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं, इन की नदीसञ्ज्ञा न होगी। नदी, गौरी, वधू आदि शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग हैं वे यहां उदाहरण समझने चाहियें। [वस्तुतः नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्दों के विषय में विस्तारपूर्वक विचार सिद्धान्तकौमुदी के अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में देखें]।

श्रेयसी शब्द ङ्यन्त होने से नित्यस्त्रीलिङ्ग है, अतः इस की तो इस सूत्र से नदीसञ्ज्ञा निर्बाध होगी ही परन्तु बहुश्रेयसी में श्रेयसीशब्द गौण हो जाता है, इस की इस सूत्र से नदीसञ्ज्ञा नहीं हो सकती—इस पर अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—१७ प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च ।

पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः ।

अर्थः—यहां नदीसञ्ज्ञा में प्रथमलिङ्ग का भी ग्रहण होता है अर्थात् जो शब्द पहले नित्यस्त्रीलिङ्ग हैं और बाद में समासवशात् गौण हो जाने से अन्य लिङ्ग में चले गये हैं उन की भी पहले के लिङ्ग के द्वारा नदीसञ्ज्ञा कर लेनी चाहिये।

व्याख्या—इस वार्त्तिक से 'बहुश्रेयसी' में स्थित 'श्रेयसी' शब्द की नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। अब इस का फल अग्रिमसूत्र में दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१९५ अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ।७।३।१०७।।

सम्बुद्धौ । हे बहुश्रेयसि ! ।

अर्थः—अम्बार्थ तथा नद्यन्त अङ्गों को सम्बुद्धि परे रहते ह्रस्व हो जाता है।

व्याख्या—अम्बार्थनद्योः ।६।२। अङ्गयोः ।६।२। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है]

* इस सूत्र से वधूँ की भी नदीसञ्ज्ञा हो जाती है अन्यथा 'दीव्यन्ती' आदि उदाहरणों में आच्छीनद्योर्नुम् (३६५) से नुम् न हो सकता। [इसी सूत्र पर 'तत्त्वबोधिनी' यहां द्रष्टव्य है।]

ह्रस्व: ।१।१। सम्बुद्धौ ।७।१। [सम्बुद्धां च से] अम्बा अर्थो यस्य स = अम्बार्थ, बहुव्रीहिसमास । अम्बार्थश्च नदी च=अम्बार्थनद्यौ, तयो=अम्बार्थनद्यो, इतरेतरद्वन्द्व । अङ्गस्य' का विशेषण होने से इस से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थ—(अम्बार्थनद्यो) अम्बा=माता अर्थ वाले तथा नद्यन्त (अङ्गयो) अङ्गों के स्थान पर (सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि पर रहते (ह्रस्व) ह्रस्व हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह ह्रस्व अङ्ग के अन्त्य अल् के स्थान पर होगा । अम्बार्थकों के उदाहरण आगे अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में आएंगे ।

हे बहुश्रेयसी + स्' यहां श्रेयसी' की नदीसञ्ज्ञा है नद्यन्त शब्द बहुश्रेयसी' है । इस से परे सम्बुद्धि वर्तमान है । अत प्रकृतसूत्र से ईकार को ह्रस्व हो एङ्ह्रस्वात् (१३४) से सम्बुद्धि के हल् का लोप करने पर हे बहुश्रेयसि !' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि ह्रस्व हो जाने पर ह्रस्वविधानसामर्थ्य से ह्रस्वस्य गुण ' (१६६) द्वारा गुण नहीं होगा अन्यथा 'अम्बार्थनद्योर्गुण ' सूत्र ही पढ देते ।

द्वितीया के एकवचन में 'बहुश्रेयसी + अम्' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ का बाध कर अमि पूर्व ' (१३५) से पूर्वरूप करने पर बहुश्रेयसीम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

द्वितीया के बहुवचन में 'बहुश्रेयसी + अस्' (शस्) इस स्थिति में पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'तस्माच्छस ' (१३७) सूत्र से सकार को नकार करने पर बहुश्रेयसीन् बनता है ।

बहुश्रेयसी+आ (टा)=बहुश्रेयस्या । यहां इको यणचि' (१५) से यण् हो जाता है ।

तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमी के द्विवचन में 'बहुश्रेयसीभ्याम्' सिद्ध होता है ।

तृतीया के बहुवचन में 'बहुश्रेयसीभि । सकार का रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं ।

चतुर्थी के एकवचन में बहुश्रेयसी+ए' (ङे) इस स्थिति में नदीसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१६६ आण् नद्या ।७।३।११२॥

नद्यन्तात् परेषां ङितामाडागम ।

अर्थ.—नद्यन्त शब्दों से परे ङित् प्रत्ययों का आट् आगम हो ।

व्याख्या—आट् ।१।१। [सूत्र में 'यरोऽनुनासिक—'द्वारा अनुनासिक हुआ है] नद्या ।५।१। अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' अधिकृत है ।] ङित ।६।१। ['घेर्ङिति' से विभक्ति विपरिणाम कर के] अर्थ—(नद्या) नद्यन्त (अङ्गात) अङ्ग से परे (ङित) ङित् का अवयव (आट्) आट् हो जाता है । आट् टित् है अत 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) द्वारा ङितों का आद्यवयव होगा ।

'बहुश्रेयसी + ए' यहां 'ए' ङित् है 'बहुश्रेयसी' नद्यन्त है। अतः ङित् से पूर्व आट् का आगम हो—'बहुश्रेयसी + आ ए' हुआ। इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१९७ आटश्च ।६।१।८८॥

आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः। बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः २। नद्यन्तत्वान्नुट्—बहुश्रेयसीनाम्।

अर्थः—आट् से अच् परे रहते पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो।

व्याख्या—आटः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। [एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है] वृद्धिः ।१।१। ['वृद्धिरेचि' से] अर्थः—(आटः) आट् से (अचि) अच् परे रहते (पूर्वपरयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो।

'बहुश्रेयसी+आ ए' यहां आट् से परे 'ए' अच् वर्त्तमान है, अतः पूर्व (आ) पर (ए) के स्थान पर ऐकार वृद्धि एकादेश हो गया। तब 'बहुश्रेयसी+ऐ' इस दशा में 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर 'बहुश्रेयस्यै' प्रयोग सिद्ध हुआ।

नोट—यद्यपि यहां 'वृद्धिरेचि' (३३) से भी वृद्धि हो सकती थी, तथापि 'ऐक्षत' (आ+ईक्षत) आदि प्रयोगों में 'आटश्च' के बिना कार्य सिद्ध नहीं हो सकता था इस लिये इस की रचना आवश्यक थी। यहां न्यायवशात् इसे प्रवृत्त किया गया है।

चतुर्थी और पञ्चमी के बहुवचन में बहुश्रेयसीभ्यः। सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'बहुश्रेयसी+अस्' इस दशा में नदीसंज्ञा हो कर 'आण्नद्याः' (१९६) से आट् का आगम और 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि हो जाती है। तब 'बहुश्रेयसी+आस्' इस अवस्था में यण् हो सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'बहुश्रेयस्याः' प्रयोग सिद्ध होता है।

षष्ठी के द्विवचन में यण् हो कर 'बहुश्रेयस्योः' बना।

षष्ठी के बहुवचन में 'बहुश्रेयसी+आम्' इस स्थिति में नद्यन्त होने से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) सूत्र द्वारा नुट् आगम हो 'बहुश्रेयसीनाम्' रूप सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में 'बहुश्रेयसी+इ' (ङि) इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१९८ ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ।७।३।११६॥

नद्यन्ताद्, आबन्ताद्, 'नी'शब्दाच्च परस्य ङेराम् । बहुश्रेयस्याम् । शेषं पपीवत् ।

अर्थ.—नद्यन्त, आबन्त तथा 'नी' शब्द से पर 'ङि' के स्थान पर आम् आदेश हो ।

व्याख्या—ङे ।६।१। आम् ।१।१। नद्याम्नीभ्य ।५।३। अङ्गेभ्य ।५।३। [अङ्गस्य अधिकृत है । इस का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है ।] समास—नदी च आप् च नीश्च=नद्याम्न्य (भरोऽनु इत्वचुनासिक) तेभ्य =नद्याम्नीभ्य इतरेतरद्वन्द्व । नदी और आप् अङ्ग के विशेषण है अत येन विधिस्तदन्तस्य (१।१।७) द्वारा इन से तदन्तविधि हो जाता है * । आप् के प्रत्यय होने से प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् परिभाषा द्वारा भी इन से तदन्तविधि हो सकता है । अर्थ —(नद्याम्नीभ्य) नद्यन्त आबन्त और नी (अङ्गेभ्य) अङ्गो से पर (ङे) ङि के स्थान पर (आम्) आम् आदेश होता है ।

बहुश्रेयसी + इ यहा बहुश्रेयसी नद्यन्त अङ्ग है, अत इस से परे ङि को आम् हो गया । बहुश्रेयसी + आम् इस स्थिति में स्थानिवद्भाव से आम् ङित है । अब यहां 'आण्नद्या' (१६९) से आट का आगम तथा ह्रस्वनद्यापो नुट (१४८) से नुट का आगम युगपत् प्राप्त होता है । दोनों सावकाश [आट—'बहुश्रेयस्यै' आदियों में तथा नुट्—'बहुश्रेयसीनाम्' आदियों में चरितार्थ हैं] हैं अत 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से पर कार्य आट् आगम हो कर—'बहुश्रेयसी+आ आम्' हुआ । अब यद्यपि आम् परे होने से नुट आगम प्राप्त हो सकता है और इस में आम् का अवयव होने से आट् आगम बाधा नहीं डाल सकता है तथापि **'विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव'** [अर्थात् विप्रतिषेधस्थल में जिस शास्त्र का एक बार बाध हो जाता है उस की पुन प्रवृत्ति नहीं होती] इस नियमानुसार नुट् नहीं होता । तब आटश्च (१६७) से वृद्धि तथा 'इको यणचि' (१५) से यण् आदेश हो 'बहुश्रेयस्याम्' प्रयोग बनता है ।

बहुश्रेयसी + सु (सुप्) =बहुश्रेयसीषु । यहां आदेशप्रत्यययो (१५०) से सकार को षकार हो जाता है । सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	बहुश्रेयसी	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयस्य
द्वि	बहुश्रेयसीम्		बहुश्रेयसीन्
तृ०	बहुश्रेयस्या	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभि

* ग्रन्थकार के अनुरोध से हम ऐसा कर रहे हैं वस्तुत नी शब्द में भी तदन्तविधि हो जाता है वह भी 'अङ्ग' का विशेषण है । अन्यथा ग्रामण्याम् में आम् आदेश हो जाता है ।

च०	बहुश्रेयस्यै	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्य
प०	बहुश्रेयस्या	,,	,,
ष०	,,	बहुश्रेयस्या	बहुश्रेयसीनाम्
स०	बहुश्रेयस्याम्		बहुश्रेयसाषु
स०	हे बहुश्रयसि !	ह बहुश्रयस्यौ !	हे बहुश्रयस्य !

[लघु०] अङ्यन्तत्वान्न सुलोप । अतिलक्ष्मी । शेष बहुश्रयमावत् ।

व्याख्या— लक्ष दशन अङ्कने च (चुरा) इस धातु स लक्षमु ट् च (उणा० ४४०) सूत्र द्वारा ई प्रत्यय तथा मुट् का आगम हा कर लक्ष्मा' शब्द निष्पन्न हाता है। लक्ष्मीमतिक्रान्त =अतिलक्ष्मी , लक्ष्मी का अतिक्रमण करने वाला पुरुष अतिलक्ष्मी' कहाता है।

अतिलक्ष्मी+स्' (सुँ) । ङ्यन्त न होन से सुँ का लोप नहीं होता, रुँत्व विसग करने पर अतिलक्ष्मी' रूप बनता है।

इस के शेष रूप 'बहुश्रेयसी के समान बनत हैं। इस में 'लक्ष्मी' शब्द पहले नित्यस्त्रीलिङ्ग है अत्र इस के गौण हो जान पर भी प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' (वा० १७) वार्त्तिक द्वारा नदीसञ्ज्ञा हो जाती हैं। अत नदी के सब पूर्वोक्त कार्य हो जाते है। इस की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	अतिलक्ष्मी	अतिलक्ष्म्यौ	अतिलक्ष्म्य
द्वि०	अतिलक्ष्मीम्		अतिलक्ष्मीन्
तृ०	अतिलक्ष्म्या	अतिलक्ष्मीभ्याम्	अतिलक्ष्मीभि
च०	अतिलक्ष्म्यै	,,	अतिलक्ष्मीभ्य
प०	अतिलक्ष्म्या	,	,,
ष०		अतिलक्ष्म्यो	अतिलक्ष्मीणाम्
स०	अतिलक्ष्म्याम्	,	अतिलक्ष्मीषु
स०	हे अतिलक्ष्मि !	ह अतिलक्ष्म्यौ !	हे अतिलक्ष्म्य !

[लघु०] प्रधी ।

व्याख्या—प्रध्यायतीति प्रधी (विशेष रूप से मनन करने वाला) । प्रधी शब्द प्रपूवक ध्यै चिन्तायाम्' (भ्वा० प०) धातु स ध्यायत सम्प्रसारणञ्च इस वार्त्तिक द्वारा क्विप् प्रत्यय तथा सम्प्रसारण करने पर सिद्ध हाता है। व्युत्पत्तिपक्ष म कृदन्त हाने के कारण इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो जाती है।

प्रधी + स्' (सुँ) इन्त न होने से 'हल्ङ्याब्भ्यो' (१७६) द्वारा सकार का लोप न हुआ। रुत्व विसर्ग हो कर प्रधीः ।

प्रधी + औ' इस अवस्था में पूर्वसवर्णदीर्घ के प्राप्त होने पर 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) सूत्र से उस का निषेध हो जाता है। पुनः 'इको यणचि' (१५) से यण् प्राप्त होने पर अग्रिम अपवाद सूत्र प्राप्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१९९ अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियँङुवँङौ ।६।४।७७॥

श्नुप्रत्ययान्तस्य, इवर्णोवर्णान्तस्य धातोः, भ्रू इत्यस्य च, अङ्गस्य इयँङुवँङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। इति प्राप्ते—

अर्थः—अजादि प्रत्यय परे होने पर श्नु प्रत्ययान्त रूप इवर्णान्त और उवर्णान्त धातु रूप तथा भ्रू रूप अङ्गों के स्थान पर इयँङ् और उवँङ् आदेश होते हैं।

व्याख्या—अचि ।७।१। श्नु धातु-भ्रुवाम् ।६।३। अङ्गानाम् ।६।३। ['अङ्गस्य' इस अधिकृत का वचनविपरिणाम हो जाता है।] य्वोः ।६।२। इयँङुवँङौ ।१।२। 'श्नु, धातु, भ्रू' ये सब अङ्ग होने चाहियें। अङ्गसञ्ज्ञा प्रत्यय पर होने पर ही हुआ करती है अतः 'प्रत्यये' पद का अध्याहार हो 'अचि' का विशेषण बना कर 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा तदादिविधि करने पर 'अजादौ प्रत्यये' बन जायगा। श्नुश्च धातुश्च भ्रूश्च श्नु धातु भ्रुवः, तेषाम्=श्नु धातु भ्रुवाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। 'श्नु' यह प्रत्यय है, 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' के नियमानुसार तदन्त अर्थात् श्नुप्रत्ययान्त का ही ग्रहण होगा। भ्रू यह शब्द है, भ्रमु अनवस्थाने (दिवा० प०) धातु से 'भ्रमेश्च डूः' (उणा० २२७) द्वारा डू प्रत्यय करने पर इस की निष्पत्ति होती है। इस का विशेष वर्णन आगे अजन्त स्त्रीलिङ्ग प्रकरण में किया जाएगा। इश्च उश्च=यू, इतरेतरद्वन्द्वः, तयोः=य्वोः। यह 'श्नु धातु भ्रुवाम्' पद के 'धातु' अंश का ही विशेषण है क्योंकि श्नु और भ्रू के सदा उवर्णान्त होने से उन के साथ इस का सम्बन्ध नहीं हो सकता। धातु अंश का विशेषण होने से 'य्वोः' से तदन्तविधि हो कर 'इवर्णान्तस्य उवर्णान्तस्य च धातोः' ऐसा बन जाता है। इस प्रकार समुचित अर्थ यह होता है—(अचि) अजादि प्रत्यय परे होने पर (श्नु धातु भ्रुवाम्) श्नु प्रत्ययान्त रूप इवर्णान्त और उवर्णान्त धातु रूप तथा भ्रू शब्द (अङ्गानाम्) इन अङ्गों के स्थान पर (इयँङुवँङौ) इयँङ् और उवँङ् आदेश होते हैं।

'ङिच्च' (४६) सूत्र द्वारा ये आदेश अङ्ग के अन्त्य इकार उकार के स्थान पर होते हैं। 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से इवर्ण को इयँङ् तथा उवर्ण को उवँङ् आदेश होगा। इन आदेशों में अँङ् की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है इय्, उव् शेष रहते हैं।

प्रधी + औ' यहां 'औ' यह अजादि प्रत्यय परे है । प्रधी में 'धी' इवर्णान्त धातु है । [यद्यपि धातु 'ध्यै' था तो भी 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' के अनुसार इसे भी इवर्णान्त मान लिया जाता है । इसी प्रकार यद्यपि प्रत्ययान्त हो जाने से यह प्रातिपदिक हो गया है तथापि "क्विबन्ता धातुत्वं न जहति" इस से इस का धातुत्व भी अक्षत रह जाता है ।] तो प्रकृतसूत्र से इसके इकार के स्थान पर इयँङ् आदेश प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र निषेध कर यण् विधान करता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२०० एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ।६।४।८२॥

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णः, तदन्तो यो धातुः, तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ प्रत्यये परे । प्रध्यौ । प्रध्यम् । प्रध्यः । प्रध्यि । शेषं पपीवत् ।

अर्थः—धातु का अवयव जो संयोग वह पूर्व में नहीं है जिस इवर्ण के वह इवर्ण है अन्त में जिस धातु के वह धातु है अन्त में जिस के ऐसा जो अनेक अचों वाला अङ्ग, उस के स्थान पर यण् हो अजादि प्रत्यय परे होने पर ।

व्याख्या—एः ।६।१। अनेकाचः ।६।१। असंयोगपूर्वस्य ।६।१। यण् ।१।१। ['इणो यण्' से] धातोः ।६।१। [अचि श्नुधातुभ्रुवाम्० से । श्नु और भ्रू का—उवर्णान्त होने से 'ए' के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता अतः उन का अनुवर्तन नहीं किया जाता] अचि ।७।१। ['अचि श्नु०' से] 'एः' यह षष्ठी का एकवचन है । इस का अर्थ है—इवर्णस्य । 'धातोः' पद आवर्तित [दो बार पढ़ा हुआ] किया जाता है । एक 'धातोः' पद 'एः' का विशेषण बन जाता है जिस से 'एः' से तदन्तविधि हो कर 'इवर्णान्तस्य धातोः' ऐसा हो जाता है । दूसरा 'धातोः' पद 'असंयोगपूर्वस्य' पद के संयोग अंश के साथ सम्बन्धित होता है । 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है । इस का 'एधातोः' (इवर्णान्तस्य धातोः) यह विशेषण है । अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर—'इवर्णान्तधात्वन्तस्य अङ्गस्य' ऐसा अर्थ होता है । 'अनेकाचः' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है । अनेके अचो यस्य यस्मिन् वा सोऽनेकाच्, तस्य=अनेकाचः, बहुव्रीहिसमास । 'असंयोगपूर्वस्य' का 'एः' के साथ सामानाधिकरण्य है । नास्ति संयोगः पूर्वो यस्य सोऽसंयोगपूर्वः, नञ्बहुव्रीहिसमास । इस प्रकार यह अर्थ हुआ—(धातोः असंयोगपूर्वस्य) धातु का अवयव संयोग जिस के पूर्व में नहीं ऐसा (एः) जो इवर्ण वह है अन्त में जिस के ऐसी (धातोः) जो धातु वह है अन्त में जिस के ऐसा (अनेकाचः) जो अनेक अचों वाला (अङ्गस्य) अङ्ग उस के स्थान पर (यण्) यण् आदेश होता है (अचि) अजादि प्रत्यय परे हो तो ।

तात्पर्य—अजादि प्रत्यय परे होने पर उस अनेकाच् अङ्ग को यण् आदेश होता है जिस के अन्त में इवर्णान्त धातु है । परन्तु धातु के इवर्ण से पूर्व धातु का अवयव संयोग न हो ।

और ह्रस्वनद्याप ' (१४८) के विप्रतिषेध होने पर परत्व के कारण नुट् ही होगा यण नहीं।

प्रधी+इ (ङि) यहां सवर्णदीर्घ को बाध कर इयँङ् प्राप्त होता है। पुनः उसे भी बाध कर एरनेकाचः से यण करने पर प्रध्यि रूप सिद्ध होता है।

प्रधी+सु (सुप्) यहां आदेशप्रत्यययोः (१५) से मूर्धन्य आदेश हो— प्रधीषु'।

सम्बुद्धि अर्थात् सम्बोधन के एकवचन में नद्यन्त न होने से अम्बार्थनद्योः (१९५) द्वारा ह्रस्व नहीं होता। हे प्रधी !। प्रधी शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० प्रधी	प्रध्यौ	प्रध्यः	प० प्रध्यः	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
द्वि० प्रध्यम्	,,		ष०	प्रध्योः	प्रध्याम्
तृ० प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभिः	स० प्रध्यि		प्रधीषु
च० प्रध्ये		प्रधीभ्यः	सं० हे प्रधी !	हे प्रध्यौ !	हे प्रध्यः !

विशेष वक्तव्य—ऊपर कहा गया प्रधी शब्द प्रपूर्वक ध्यै चिन्तायाम् धातु से क्विप् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इस प्रकार से निष्पन्न हुआ प्रधी' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं होता। यह पुलॅंलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग सब प्रकार का हो सकता है। अतः यू स्त्र्याख्यौ नदी (१९४) से इस की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती। यदि प्रथम 'ध्यै चिन्तायाम् धातु से क्विप् प्रत्यय कर के धी शब्द बना दिया जावे तो वह नित्यस्त्रीलिङ्ग होने से नदीसञ्ज्ञक होगा। तब प्रकृष्टा धीर्यस्य स प्रधीः इस प्रकार समस्त किया हुआ पुंलिङ्ग प्रधी शब्द भी प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च (वा० १७) से नदीसञ्ज्ञक हो जायगा। तब आट् नुट् आदि नदीकार्य भी होंगे।

प्रधी (प्रकृष्टा धीर्यस्य स प्रधीः । उत्तम बुद्धि वाला)

प्र० प्रधीः	प्रध्यौ	प्रध्यः	प० प्रध्याः❀	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
द्वि० प्रध्यम्			ष० ❀	प्रध्योः	प्रधीनाम्+
तृ० प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभिः	स० प्रध्याम्†		प्रधीषु
च० प्रध्यै❀		प्रधीभ्यः	सं० हे प्रधि !×	हे प्रध्यौ !	हे प्रध्यः !

❀ आण्नद्याः आटश्च एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' ।

+ यहां एरनेकाचः ' से यण् तथा ह्रस्वनद्यापः ' से नुट् का विप्रतिषेध होने पर परकार्य नुट् हो जाता है।

† यहां ङेराम् ' से ङि को आम् 'आण्नद्याः' से आट् आटश्च से वृद्धि तथा एरनेकाचः ' से यण हो जाता है। *

× अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः, एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः"।

प्रश्न—नित्यस्त्रीलिङ्ग धी शब्द में 'अचि श्नु०' सूत्र द्वारा इयँङ् हो—धियौ धियः आदि रूप बना करते हैं। परन्तु जिस नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द के स्थान पर इयँङ् उवँङ् हो वहां प्रथम 'नेयँङुवँङ्०' (२२६) सूत्र से नदीसञ्ज्ञा का सर्वत्र निषेध हो जाता है तत्पश्चात् 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) से ङित् विभक्तियों में तथा 'वाऽऽमि' (२३०) से आम् में नदीसञ्ज्ञा का विकल्प किया जाता है जैसा कि अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में श्री शब्द पर होता है। तो इस प्रकार 'प्रकृष्टा धीर्यस्य' इस विग्रह वाले प्रधी शब्द में भी आप को वैसा करना चाहिये। आप के वैसा न करने का क्या कारण है?।

उत्तर—'नेयँङुवँङ्०' (२२६) सूत्र वहां पर निषेध करता है जहां इयँङ्, उवँङ् प्राप्त नहीं किन्तु सम्भावित हुआ करते हैं। अतएव इयँङुवँङ्भाजस्त्री न कह कर सूत्र में स्थान शब्द का ग्रहण किया गया है। 'प्रधी' शब्द में प्रायः यण होता है इयँङ् नहीं अतः नदीत्व का निषेध न होगा। 'ङिति ह्रस्वश्च' तथा 'वाऽऽमि' में 'इयँङुवँङ्स्थानौ' की अनुवृत्ति आती है अतः वे भी प्रवृत्त न होंगे।

[लघु०] एवं ग्रामणीः। ङौ तु ग्रामण्याम्।

व्याख्या—ग्रामं नयतीति=ग्रामणीः। ग्राम कर्मोपपद 'णीञ् प्रापणे' (भ्वा० उ०) धातु से कर्त्ता में 'क्विप् च' (८०२) सूत्र से क्विप् प्रत्यय करने पर 'ग्रामणी' (ग्राम का नेता नम्बरदार) शब्द निष्पन्न होता है। 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः' वार्त्तिक से यहां नकार को णकार हुआ है।

'ग्रामणी' शब्द में 'नी' इवर्णान्त धातु है। इस के इवर्ण से पूर्व धातु का कोई अवयव संयोगयुक्त नहीं। तदन्त ग्रामणी शब्द अनेकाच् अङ्ग भी है। अतः अजादि प्रत्ययों में सर्वत्र 'एरनेकाचः०' (२००) से यण हो जायगा। 'अचि श्नु०' (१९९) से इयँङ् न होगा। 'ग्रामणी' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं, किन्तु सब लिङ्गों में साधारण है अतः 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) से नदी सञ्ज्ञा न होगी। तब आट्, नुट् आदि नदीकार्य न होंगे सम्बुद्धि में ह्रस्व भी न हो सकेगा। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	ग्रामणीः॥	ग्रामण्यौ	ग्रामण्यः	प०	ग्रामण्यः	ग्रामणीभ्याम्	ग्रामणीभ्यः
द्वि०	ग्रामण्यम्	,,	,,	ष०	,,	ग्रामण्योः	ग्रामण्याम्
तृ०	ग्रामण्या	ग्रामणीभ्याम्	ग्रामणीभिः	स०	ग्रामण्याम्†	,,	ग्रामणीषु
च०	ग्रामण्ये	,,	ग्रामणीभ्यः	स०	हे ग्रामणीः!	हे ग्रामण्यौ!	हे ग्रामण्यः!

इस प्रकार 'अग्रणी' तथा 'सेनानी' शब्द होंगे।

॥ ङ्यन्त न होने से सुलोप नहीं होता।

† 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' सूत्र में 'नी' के साक्षात् निर्देश के कारण ङि को 'आम्' आदेश हो जाता है। नदीसञ्ज्ञा न होने से आट् का आगम नहीं होता।

अब 'एरनेकाच' का अधिक स्पष्ट करने के लिये उस के प्रत्युदाहरण दर्शाते हैं—

[लघु०] अनेकाचः किम्—नीः, नियौ, नियः । अमि शसि च परत्वाद् इयँङ्—नियम्, नियः । ङेराम्—नियाम् ।

व्याख्या—'एरनेकाच' सूत्र में कहा गया है कि 'अङ्ग अनेकाच् हो' यह क्यों कहा ? इस का फल है 'नी' शब्द में यण् न होना । 'नी' ('णीञ् प्रापणे' धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'नी' शब्द निष्पन्न होता है । इस का अर्थ 'ले जाने वाला = नेता' है ।) शब्द एकाच् है अनेकाच् नहीं, अतः इस में यण् आदेश न हो सकेगा 'अचि श्नु' (१९९) सूत्र से इयँङ् हो जायगा । इस की समग्र रूपमाला यथा—

प्र० नीः †	नियौ	नियः	प० नियः *	नीभ्याम्	नीभ्यः
द्वि० नियम् ‡	,,	,, ‡	ष० ,, *	नियोः	नियाम्
तृ० निया	नीभ्याम्	नीभिः	स० नियाम् ×	,,	नीषु
च० निये *	,,	नीभ्यः	सं० हे नीः ! ※	हे नियौ !	हे नियः !

† ङ्यन्त न होने से सुँलोप नहीं होता ।

‡ अम् और शस् में क्रमशः 'अमि पूर्वः' तथा 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' सूत्र को परत्व के कारण 'अचि श्नु' बाध लेता है । इसी प्रकार 'एरनेकाच' द्वारा विहित यण् भी इन का बाधक समझ लेना चाहिये ।

* सब लिङ्गों में साधारण होने से 'नी' शब्द की नदीसंज्ञा नहीं होती । अतः आट् आदि नदीकार्य नहीं होते ।

× ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' ।

※ नदीत्व न होने के कारण 'अम्बार्थ' द्वारा ह्रस्व न होगा ।

[लघु०] असंयोगपूर्वस्य किम् ? सुश्रियौ, यवक्रियौ ।

व्याख्या—'एरनेकाच' (२००) सूत्र में कहा गया था कि धातु के इवर्ण से पूर्व संयोग नहीं होना चाहिये—यह क्यों कहा ? इस का फल है 'सुश्रियौ' और 'यवक्रियौ' में यण् न होना । इन स्थानों पर धातु के इवर्ण से पूर्व संयोग है अतः यण् न हुआ तब इयँङ् हो कर रूप बना ।

[ध्यान रहे कि संयोग भी जब धातु का अवयव होगा तभी यण् निषेध होगा । 'सुश्री' आदि शब्दों में संयोग धातु का अवयव है । 'उन्नी' शब्द में संयोग धातु का अवयव नहीं, उपसर्ग के तकार को मिला कर बना है अतः निषेध न होगा यण् हो जायगा । 'उन्न्यौ, उन्न्यः' आदि रूप बनेंगे ।]

सुष्ठु श्रयतीति सुश्री (अच्छी तरह आश्रय करने वाला)। सुपूर्वक 'श्रिञ् सेवायाम्' (भ्वा० उ०) धातु से 'क्विब्वचिप्रच्छि०' (उणा० २१६) इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय और दीर्घ करने पर 'सुश्री' शब्द निष्पन्न होता है। तीनों लिङ्गों में साधारण होने के कारण इस की नदीसञ्ज्ञा न होगी। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	सुश्री *	सुश्रियौ	सुश्रियः	पं०	सुश्रियः ‡	सुश्रीभ्याम् सुश्रीभ्यः
द्वि०	सुश्रियम्	„	„	ष०	„	सुश्रियोः सुश्रियाम् ‡
तृ०	सुश्रिया	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभिः	स०	सुश्रियि †	„ सुश्रीषु
च०	सुश्रिये ‡	„	सुश्रीभ्यः	सं०	हे सुश्रीः !	हे सुश्रियौ ! हे सुश्रियः !

* ङ्यन्त न होने से सुँलोप नहीं होता।

‡ नदीसञ्ज्ञा न होने से आट् आदि नदीकार्य नहीं होते।

† यहां न तो नदीसञ्ज्ञा है और न ही नीशब्द है अतः 'ङेराम्०' द्वारा ङि को आम् नहीं होता।

सूचना—सु=शोभना श्रीर्यस्य स सुश्रीः। इस प्रकार विग्रह मानने पर भी सुश्री शब्द के रूपों में कोई अन्तर नहीं आता। 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' (वा० १७) वार्त्तिक की सहायता से 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) द्वारा नदीसञ्ज्ञा प्राप्त होने पर इयँङ्स्थानी होने के कारण 'नेयँङुवँङ्स्थानावस्त्री' (२२६) सूत्र से निषेध हो जाता है। इसी प्रकार आगे शुद्धधी सुधी' आदि शब्दों में भी समझ लेना चाहिये। यहां 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) से ङित् विभक्तियों में तथा 'वाऽऽमि' (२३०) से आम् में वैकल्पिक नदीत्व की भी आशङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि जिस स्त्रीलिङ्ग अङ्ग से ङित् व आम् का विधान हो उस को उन सूत्रों से वैकल्पिक नदीसञ्ज्ञा की जाती है (देखो—शेखर में 'ङिति ह्रस्वश्च')। यहां ङित् और आम् का विधान तो सुश्री सुधी आदि पुंल्लिङ्ग शब्दों से किया गया है और नदीसञ्ज्ञा उन के अवयव श्री, धी आदि शब्दों की करनी है। अतः नदीसञ्ज्ञा सर्वथा न होगी। लघुकौमुदी और मध्यकौमुदी के विवृतिकार, खन्ना के संस्कृतकालेज के प्रिंसिपल श्री पण्डित विश्वनाथ जी शास्त्री प्रभाकर तथा लघुकौमुदी के हिन्दी व्याख्याकार पं० श्रीधरानन्द जी शास्त्री व्याकरणाचार्य को 'सुश्री' शब्द पर महती भ्रान्ति हो गई है। वे यहां नदीसञ्ज्ञा करना बतलाते हैं। यदि वैसा हो तो सुधी आदि शब्दों में भी नदीत्व प्रसक्त होगा, जो उनके भी मत में अनिष्ट है। 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) के महाभाष्य पर "श्रियै अतिश्रियै ब्राह्मण्यै, क्व मा भूत्—श्रिये अतिश्रिये ब्राह्मणाय" ये वचन यहां विशेष मननीय हैं।

इसी प्रकार 'यवक्री' (जौ खरीदने वाला) शब्द के रूप होते हैं। यह भी 'असंयोगपूर्वस्य' का प्रत्युदाहरण है। यवान् क्रीणातीति—यवक्री, यवकर्मोपपदात् 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' (क्र्या० उ०) इति धातोः 'क्विप् च' (८०२) इति क्विप्प्रत्ययः। इस की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	यवक्री	यवक्रियौ	यवक्रियः	प०	यवक्रियः	यवक्रीभ्याम् यवक्रीभ्यः
द्वि०	यवक्रियम्			ष०	,,	यवक्रियोः यवक्रियाम्
तृ०	यवक्रिया	यवक्रीभ्याम्	यवक्रीभिः	स०	यवक्रियि	यवक्रीषु
च०	यवक्रिये	,,	यवक्रीभ्यः	सं०	हे यवक्रीः!	हे यवक्रियौ! हे यवक्रियः!

इस शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'सुश्री' शब्द के समान होती है। सर्वत्र अजादि प्रत्ययों में इयँङ् हो जाता है। नदीसञ्ज्ञा कहीं नहीं होती।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—२०१ गतिश्च ।१।४।५९॥

प्रादयः क्रियायोगे गतिसञ्ज्ञाः स्युः।

अर्थः—क्रियायोग में प्रादि शब्द गतिसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—प्रादयः ।१।३। [प्रादयः से] क्रियायोगे ।७।१। ['उपसर्गाः क्रियायोगे' से] गतिः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(प्रादयः) प्र आदि बाईस शब्द (क्रियायोगे) क्रिया के योग में (गतिः) गतिसञ्ज्ञक (च) भी होते हैं।

यह सूत्र एकसञ्ज्ञाधिकार के अन्तर्गत पढ़ा गया है। इस अधिकार में 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (३५) सूत्र द्वारा क्रियायोग में प्रादियों की उपसर्गसञ्ज्ञा कह आए हैं। एक की दो सञ्ज्ञा न हो सकने से पुनः इन की गतिसञ्ज्ञा सिद्ध नहीं हो सकती अतः दोनों सञ्ज्ञाओं के समावेश के लिये मुनि ने सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण किया है।

ध्यान रहे कि 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१।४।५६) के अधिकार में पठित होने से इन दो सञ्ज्ञाओं के साथ निपातसञ्ज्ञा का भी समावेश होता है। निपातसञ्ज्ञा का फल 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (३६७) द्वारा अव्ययसञ्ज्ञा करना है।

प्रश्न—क्रियायोग में प्रादियों की गतिसञ्ज्ञा करना अनावश्यक है। क्योंकि क्रियायोग में इन की उपसर्ग सञ्ज्ञा है ही। जहां २ गति को कार्य कहा है वहां २ उपसर्ग का नाम कर देना चाहिये। इस से सर्वत्र कार्य चल सकता है।

उत्तर—गति सञ्ज्ञा केवल इन बाईस प्रादियों की ही नहीं, जिस से आप सर्वत्र काम चलाने की ठान रहे हैं। गतिसञ्ज्ञा तो बहुत से अन्य शब्दों की भी इस शास्त्र में का

गई है। यथा—'ऊर्यादिच्विडाचश्च' (१।४।६०) [ऊर्यादि, च्व्यन्त तथा डाजन्त शब्द क्रियायोग म गतिसञ्ज्ञक हो।] अनुकरणञ्चानितिपरम् (१।४।६१) [इति पर न हो तो क्रियायोग म अनुकरण की गतिसञ्ज्ञा हो] इत्यादि। तो अब यदि सवत्र 'गति' क स्थान पर 'उपसग' रख कर काम चलाते हैं तो अन्य गतिसञ्ज्ञका का क्या गति होगी उन के लिये पुन गतिग्रहण करना पडेगा। अत प्रादियो को भी क्रियायोग म गति सञ्ज्ञा कर सब को एक कोटि में रख समान भाव से काय करना उचित है।

अब गतिसञ्ज्ञा करने का यहा फल दशात ह —

[लघु०] वा०—१८ गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते।

शुद्धधियौ।

अर्थ—जिस शब्द का पूवपद गतिसञ्ज्ञक या कारक स भिन्न हो उस क स्थान पर 'एरनेकाच ' द्वारा यण नहीं होता।

व्याख्या—कत्ता कम, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण य छ कारक हैं। इन का विशेष विवेचन आगे 'कारकप्रकरण' में किया जायगा। जिस शब्द म 'एरन काच ' (२००) सूत्र प्रवृत्त हो उस का पूर्वपद या तो गतिसञ्ज्ञक होना चाहिये अथवा कारक। यदि इन दोनों से भिन्न कोई अन्य होगा तो 'एरनेकाच ' द्वारा यण न होगा।

शुद्धा धीर्यस्य स शुद्धधी (शुद्ध बुद्धि वाला) बहुव्रीहिसमास। यहा 'शुद्धा' शब्द पूर्वपद और 'धी' शब्द उत्तरपद है। पूवपद न तो गतिसञ्ज्ञक है और न कारक है। अत सब शर्तें पूर्ण होने पर भी अजादि प्रत्यय में 'एरनेकाच ' द्वारा यण न होगा, 'अचि श्नु ' (१९९) से इयँङ हो जायगा।

'शुद्धधी' शब्द में समास से पूव 'धी' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग था अत अब 'प्रथम लिङ्गग्रहणञ्च' (वा० १७) की सहायता स 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) द्वारा इस की नदीसञ्ज्ञा प्राप्त होती है। इस पर 'नेयङुवँङ ' (२२९) से निषेध हो जाता है। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	शुद्धधी	शुद्धधियौ	शुद्धधिय	प०	शुद्धधिय	शुद्धधीभ्याम् शुद्धधीभ्य
द्वि०	शुद्धधियम्	,,	,,	ष०	,,	शुद्धधियो शुद्धधियाम्
तृ०	शुद्धधिया	शुद्धधीभ्याम्	शुद्धधीभि	स०	शुद्धधियि	,, शुद्धधीषु
च०	शुद्धधिये	,,	शुद्धधीभ्य	सं०	हे शुद्धधी !	हे शुद्धधियौ ! हे शुद्धधिय !

इसी प्रकार 'मन्दधी, तीक्ष्णधी सूक्ष्मधी' आदि शब्दों के रूप होंगे।

नोट—'शुद्धधी' शब्द का 'शुद्ध ध्यायति' इस प्रकार यदि विग्रह इष्ट हो तो कर्म